Centre for **Distance &**
**Online** Education

**Faculty of Arts**

# World History
## (18 and 19 Century) -II

2MAHIS4

**DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY**
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

World History (18 and 19 Century) -II

**Dr. C.V. Raman University**
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

# 2MAHIS4
# World History (18 and 19)

# 2MAHIS4
# World History (18 and 19)

**Credit- 4**

---

**Subject Expert Team**

---

***Dr. Ramratan Sahu*** Associate Professor Dr. C. V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)
***Dr. Anju Tiwari*** Associate Professor Dr. C. V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)
***Dr. Mahesh Kumar Shukla*** Associate Dr. C. V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)
***Dr. Manju Sahu*** Assistant Professor Dr. C. V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)
***Dr. Krishna Kumar Pandey*** Associate Professor Dr. C. V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)
***Dr. Pravin Kumar Mishra*** Professor Department of Social Science (History) at GGU, Bilaspur (C.G.)
***Dr. Mamta Garg*** Dean Rajive Gandhi Govt.P.G. college Ambikapur(C.G.)
***Dr. Mahendra Kumar Sarva*** Assistant Professor Govt. D.B. Girls P.G. College Kalibadi Chauk Raipur (C.G.)

---

**Course Editor:**

---

**Dr. Pradeep Shukla Professor**, Department of History, Guru Ghasidas, University Koni Bilaspur (C.G.)..

---

**Unit Written By:**

---

**1. Dr. Ramratan Sahu**

Associate Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

**2**. Dr. Manju Sahu

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

**3. Dr. Rita Bajpai**

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

---

**Warning:** All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.
Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.)

---

**Edition : March 2024**

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

| अध्याय | पृष्ठ क्रमांक |
|---|---|


## यूनिट–I

1. अमेरिका का गृह युद्ध ........ 01
(The American Civil War)

2. इटली का एकीकरण ........ 08
(Unification of Italy)

3. जर्मनी का एकीकरण ........ 32
(Unification of Germany)

## यूनिट–II

4. पूर्वी समस्या ........ 53
(The Eastern Question)

5. बिस्मार्क की आन्तरिक और विदेश नीति ........ 83
(Bismark : Internal and Foreign Policy)

## यूनिट–III

6. उन्नीसवीं सदी में एशिया में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद ........ 98
(Colonialism & Imperialism in Asia in the 19th Century)

7. अफ्रीका में उपनिवेशवाद और उसका विभाजन ........ 135
(Colonialism and Scramble of Africa)

## यूनिट–IV

8. चीन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद ........ 140
(Colonialism & Imperialism in China)

## यूनिट–V

9. जापान में पश्चिमी शक्तियाँ, मेईजी पुनर्स्थापना, आधुनिकीकरण एवं सैन्यवाद ........ 156
(Western Power, Meiji Restoration, Modernisation & Imperialism in Japan.)


●●●

# अध्याय–1 अमेरिका का गृहयुद्ध

## (THE AMERICAN CIVIL WAR) (1860-1865)

NOTES

## इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 परिचय
1.2 अमेरिका का गृह युद्ध
1.3 गृह युद्ध की प्रमुख घटनायें
1.4 गृह युद्ध के परिणाम
1.5 अमेरिका के गृह युद्ध में इंग्लैण्ड की भूमिका
1.6 सारांश
1.7 अभ्यास प्रश्न
1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. अमेरिका के गृह युद्ध की तात्कालीन परिस्थिति का ज्ञान हो सकेगा।
2. अमेरिका के गृह युद्ध में इंग्लैण्ड की भूमिका का ज्ञान प्राप्त होगा।
3. विश्व समसामायिक घटना का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
4. अमेरिका का तात्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

## 1.1 परिचय

सन् 1860 ई. के चुनाव अभियान के दौरान साउथ कैरोलीना में एक अभिभाषण में मतदाताओं से यह कहा गया था– ''**पैशाचिक और मंताध रिपब्लिकन दल के द्वारा एक काले रिपब्लिकन उम्मीदवार के नामांकन के फलस्वरूप हमारे ऊपर एक अदम्य संघर्ष की व्याधि आने वाली है।**'' ज्यों ही लिंकन के चुने जाने के समाचार दक्षिण में पहुँचे, वहाँ के मरकरी पत्र के सम्पादक ने अपने राज्य की ध्वजा आरोहित कर दी, फिर उक्त सम्पादक ने लिखा, ''**चाय समुद्र में फेंक दी गई है, सन् 1860 ई. की क्रांति आरंभ हो गई है।**''

## 1.2 अमेरिका का गृह युद्ध (THE AMERICAN CIVIL WAR)

इस दूसरी क्रांति के जो कारण थे, वे संघ की आधारशिला में ही निहित थे। उत्तर और दक्षिण वालों का अपना–अपना स्वाभिमान और स्वार्थ था। उनके अपने–अपने लक्ष्य और आदर्श तथा आर्थिक स्वार्थ थे।

एक दल ने संघ की प्रभुसत्ता पर बल दिया, तो दूसरे ने राज्यों को ही सत्ता का केन्द्र समझा, इसमें निहित थे तथा सामाजिक तत्व भी। इन सबके मूल में थी विरोधी दलों की संघ शासन पर प्रभाव की अभिलाषा, क्योंकि बिना संघ शासन पर अधिकार के हित पूर्ति भी असंभव थी।

दक्षिण राज्यों की सुख–संपत्ति का स्रोत था कृषि और कृषि संचालन निर्भर था, नीग्रो दासों पर। अतः दास प्रथा इनके लिए जीवन–मरण का प्रश्न था, इसके विपरीत उत्तर वालों का मुख्य व्यवसाय था– उद्योग। अतः प्रशुल्क नीति पर विशेष बल स्वाभाविक ही था। उत्तर–दक्षिण राज्यों में प्रशुल्क नीति पर हमेशा विवाद चलता था, इस तरह धीरे–धीरे कारणों की अटूट श्रृंखला बनती गई और अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी।

लिंकन ने पिकेंस और समटर दुर्गों में प्रबलीकरण सेना भेजने का आदेश दिया और जब प्रबलीकरण सेना समटर दुर्ग में घुसने लगी तो दक्षिण की सेना ने उस पर गोली चला दी और इस तरह युद्ध छिड़ गया।

वर्जीनिया, नार्थ कैरोलीना, टेन्नासी और आरकंसास इन चार राज्यों ने तो दक्षिण संघ में शामिल होने का फैसला किया। शेष चार राज्यों यानी मेरीलैण्ड, डेलावेयर, केंटकी और मिसूरी पुराने संघ के साथ रहे। यह युद्ध चार वर्षों तक चलता रहा और 60,000 से अधिक सैनिक हताहत हुए।

### इस गृहयुद्ध के चार मुख्य पहलू हैं

(1) संघ की कठिनाइयाँ,

(2) परिसंघ की कठिनाइयाँ,

(3) स्थल पर संघर्ष और

(4) समुद्र पर संघर्ष।

पूरे युद्ध में लगभग 3,000,000,000 डालर व्यय हुए, इसकी पूर्ति प्रशुल्क–दर बढ़ा कर, आबकारी कर लगा कर और आय कर लगा कर की गई।

## 1.3 गृह युद्ध की प्रमुख घटनायें

**(1) समुद्री युद्ध** :– राष्ट्रपति लिंकन ने 23 अप्रैल सन् 1861 ई. को जहाजी बेड़े को निर्देश दिया कि परिसंघ के सम्पूर्ण बंदरगाहों की घेराबंदी कर लें। यदि कोई भी जहाज अन्दर प्रवेश करने या अन्दर से बाहर निकलने का साहस करे तो उसको पकड़ कर पास के बन्दरगाह में कैद कर लिया जाये। लिंकन ने इस आदेश का परिपालन करने के लिए जल सेना की वृद्धि की तथा नए जहाजों को सेना में शामिल किया गया। इतना कड़ा घेरा होने के बावजूद भी परिसंघ के जहाजों का सम्बन्ध यूरोपीय बन्दरगाहों से बना रहा तथा सामान पहुँचता रहा। परिसंघ ने उत्तर के लगभग 250 व्यापारिक पोतो को नष्ट कर दिया, इसके बाद परिसंघ को जल्द ही इसका परिणाम 1862 ई. में मेरीमेक तथा मानीटर के संघर्ष में मिल गया, इससे उसका निर्यात व्यापार बहुत कम हो गया।

इस घेराबन्दी से परिसंघ की अर्थव्यवस्था पर बहुत घातक प्रभाव पड़ा। उसके बॉन्डसा की बिक्री विदेशों में बंद हो गई। उसे बॉन्डसा छापने का कागज मिलना बन्द हो गया। अन्य सभी प्रकार की विदेशी सहायता मिलनी बन्द हो गयी। दक्षिण वालों को सैनिक सामान भी नहीं मिल पा रहा था।

**(2) स्थल युद्ध** :– स्थल युद्ध में उत्तर और दक्षिण की सेनाओं में प्रथम युद्ध 1861 में बुल रन में हुआ। दोनों की सेनायें अनुभवहीन थीं। परन्तु इसमें दक्षिण वाले अपनी जगह अड़े रहे। उत्तर की सेना को वाशिंगटन वापस लौटना पडा। दूसरा युद्ध पश्चिम में प्रारंभ हुआ, इस युद्ध में उत्तर वालों की ओर से सिंसिन्नाटी में सैनिक केन्द्र तथा दूसरा केन्द्र सेंट लुई में हेनरी हैलॉक के नेतृत्व में स्थापित हुआ। उत्तर की एक सेना ने शत्रु को पूर्वी के बाहर खदेड़ दिया। दूसरी सेना, जो ग्रांट के नेतृत्व में थी, ने हेनरी दुर्ग डोनाजसन दुर्ग को अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया, इसके बाद दक्षिण की सेना ने शिलाह पर आक्रमण किया। यहाँ घमासान युद्ध हुआ। जिसमें परिसंघ का सेनापति मारा गया और उत्तर की विजय हुई। ग्रांट ने आगे बढ़कर मेमफिस पर अधिकार कर लिया।

पूर्वी क्षेत्र में उत्तर का सेनापति मैक क्लेलन था तथा दक्षिण का सेनापति ली था। मैक क्लेलन का लक्ष्य था वार्जीनिया विजय तथा ली का लक्ष्य था वाशिंगटन पर अधिकार करना। दोनों के बीच युद्ध में मैक क्लेलन को पीछे हटना पड़ा। राष्ट्रपति ने उसे पदच्युत करके वाशिंगटन वापस बुला लिया, इसके बाद ली उत्तर की ओर चल पड़ा जहाँ उसने पोप को मनस्सास की लड़ाई में हरा दिया। इन स्थितियों में लिंकन ने मैक क्लेलन को पुनः सेनापति बनाया तो उसने ली को हरा तो दिया परंतु उसका पीछा नहीं किया, इस कारण उसे पुनः पद से हटा दिया गया।

लिंकन ने प्रधान सेनापति की हैसियत 22 सितम्बर को घोषणा की कि– **''1 जनवरी, सन् 1863 ई. से विद्रोही क्षेत्रों या राज्यों में जितने भी दास हैं, वे सब स्वतंत्र माने जाएँगे।''** इससे बहुत से नीग्रो दास सेना में भर्ती तो हुए परन्तु विशेष लाभ नहीं हुआ।

ली ने गिट्सबर्ग स्थान पर उत्तर की सेना पर आक्रमण किया। लड़ाई तीन दिन तक चलती रही परन्तु ली उत्तर की सेना के चक्रव्यूह को न तोड़ पाया। अंत में उत्तर की विजय हुई। उत्तर–पश्चिम में ग्रांट ने दक्षिण के केन्द्र विक्सबर्ग पर धावा बोल दिया और उस पर अधिकार कर लिया, इस तरह गिट्सबर्ग तथा विक्सबर्ग की लड़ाइयों ने दक्षिणी राज्यों को पराजय की कगार पर लाकर खड़ा कर दिया, इसके बाद भी संघर्ष एक वर्ष तक चलता रहा। 9 अप्रैल, सन् 1865 को जनरल ली और जनरल ग्रांट के बीच में बात चीत हुई और परिणामस्वरूप ली ने आत्म–समर्पण कर दिया, इस तरह चार वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद गृह युद्ध समाप्त हुआ।

## गृह युद्ध के कारण

**भूमिका** :– अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में जब लिंकन ने शपथ ली तब अमेरिका को स्वतंत्र हुये लगभग 100 वर्ष हो चुके थे। अमेरिका के राष्ट्रपति की कुर्सी बारूद के ढेर पर रखी थी। 1860 में अमेरिका में दूसरी क्रांति यानि गृह युद्ध छिड़ गया, इसका तात्कालिक कारण तो लिंकन का चुनाव था, क्योंकि 1860 के चुनाव अभियान के दौरान साउथ कैरोलीना में एक अभिभाषण में यह कहा गया कि– **''पैशाचिक और मतांध रिपब्लिकन दल के द्वारा एक काले रिपब्लिक उम्मीदवार के नामांकन के फलस्वरूप हमारे ऊपर एक अदम्य संघर्ष की व्याधि आने वाली है।''** और जैसे ही लिंकन के चुनाव का समाचार चार्ल्सटन पहुंचा वहाँ के मरकरी पत्र के संपादक ने लिखा– ''चाय समुद्र में फेंक दी गई है, सन् 1860 की क्रांति आरंभ हो गई है।''

लगभग 100 वर्ष पश्चात् इस गृह युद्ध के जो कारण थे या जिन मुद्दों पर गृह युद्ध लड़ा गया वे संघ की आधारशिला में ही निहित थे। उत्तर और दक्षिण का विद्वेष कोई नवीन तथ्य नहीं था यह तो प्रारंभ से ही चला आ रहा था, इसमें तेजी तब आयी जब राज्यों की संख्या 13 से बढ़कर तैंतीस हो गई।

उत्तर और दक्षिण में प्राकृतिक विभिन्नताओं के परिणामस्वरूप उनके आर्थिक साधनों और उनकी आवश्यकताओं में भी अंतर हो गया था और जब इन अलग–अलग भू–भागों में भिन्न–भिन्न जाति के लोग आकर बस गये तो उनके लक्ष्यों और आदर्शों में भी असमानता का होना आश्चर्यजनक न था।

स्वातंत्र्य युद्ध में एकता की आवश्यकता होने के कारण अनेकता का जोर उतना नहीं था। उसकी समाप्ति होते ही सिद्धान्तों और विचारों का संघर्ष उभकर सामने आने लगा। एक दल ने संघ की प्रभुसत्ता पर बल दिया तो दूसरे ने राज्यों को ही सत्ता का केन्द्र समझा, इसके पीछे आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ निहित थे। इन सबके पीछे थी विरोधी दलों की संघ शासन पर प्रभाव की अभिलाषा, क्योंकि बिना संघ शासन पर अधिकार के हितपूर्ति संभव नहीं थी।

अर्थ और नीति के अटूट रिश्ते ने उत्तर–दक्षिण के बीच संघर्ष को बढ़ा दिया। दक्षिण राज्यों की आर्थिक शक्ति का स्रोत था कृषि और कृषि संचालन निर्भर था, नीग्रो दासों पर। अतः दास प्रथा इनके लिए जीवन–मरण का प्रश्न था, इसके विपरीत उत्तर राज्यों का प्रमुख व्यवसाय

NOTES

था– उद्योग। वहाँ के लोग परिश्रम करके जीवन यापन करते थे। अतः प्रशुल्क नीति पर विशेष बल स्वाभाविक ही था। परन्तु जो नीति उत्तर वालों के लिए लाभप्रद थी, दक्षिण वालों के लिए वह हानिकर सिद्ध हो जाती थी, इस तरह उत्तर–दक्षिण वालों के विभिन्न दलों में प्रशुल्क नीति पर निरंतर विवाद चलता रहा। सन् 1816 से 1821 ई. तक संरक्षण–प्रशुल्क दर में उतार–चढ़ाव का क्रम जारी रहा।

इस संघर्ष में एक तथ्य यह भी निहित था कि जिन नेताओं ने अपनी बुद्धिबल, बाहुबल और त्यागबल से देश को स्वतंत्र किया था, वे एक–एक करके परलोक सिधार चुके थे। वाशिंगटन, हैमिल्टन, मेडिसन, मुनरो एवं जेफरसन देश की एकता में विश्वास करते थे। उनकी संघ के प्रति निष्ठा थी। अब जो नये नेता सामने आ रहे थे, उनमें योग्यता तो थी, परन्तु वे अपने स्वार्थ को अधिक महत्व देने लगे थे।

अमेरिका के संविधान में सुप्रीम कोर्ट की व्यवस्था का भी बहुत बड़ा महत्व है। मार्शल के निर्णय संघ के ऐक्य के हित में ही रहे। वह राष्ट्रपति से टक्कर लेने में कभी नहीं झिझका, परन्तु टैली के ड्रेड स्कॉट के मुकदमे के फैसले के उपरांत ही प्रत्यक्ष रूप से गृहयुद्ध की भावना को बल मिला।

उपर्युक्त भूमिका के संदर्भ में ही इस युद्ध के कारणों को समझा जा सकता है, इस गृहयुद्ध को भड़काने में कई स्थितियों ने योगदान किया, इसके प्रमुख कारणों को इस प्रकार समझा जा सकता है–

(1) इतिहासकारों की भूमिका

(2) आर्थिक कारणों में दास प्रथा की समाप्ति का प्रश्न

(3) राष्ट्रीय संघ से संबंध विच्छेद का प्रश्न।

### बोध प्रश्न

1. अमेरिका के गृह युद्ध की नीति का वर्णन करो।

..............................................................................................................

..............................................................................................................

..............................................................................................................

2. अमेरिका गृह युद्ध के कारण लिखो?

..............................................................................................................

..............................................................................................................

..............................................................................................................

## (1) इतिहासकारों की भूमिका

गृहयुद्ध की आग को हवा देने में दोनों तरफ के इतिहासकारों तथा पत्रकारों का भी योगदान है। दो विचारधारायें इस गृहयुद्ध के संबंध में प्रचलित थीं। दक्षिण राज्यों के इतिहासकारों का मानना था कि इस स्थिति के लिए उत्तर वाले उत्तरदायी हैं तथा उत्तर वालों का यह मानना था कि दक्षिण वाले उत्तरदायी हैं। दक्षिण वालों ने उत्तर वालों पर कई तरह के आरोप लगाये। **बनारसी प्रसाद सक्सेना** ने लिखा है– "वहीं (उत्तर में) दास प्रथा विरोधी संस्थाएँ संगठित हुईं और क्विंसी ऐडम्स एवं जोशुआ गिड्डिंस ने उसने सहयोग पाकर इस विषय को कांग्रेस में अंतःक्षिप्त कर दिया। तदोपरांत कांग्रेस में निरोधक विषयी याचना–पत्रों की भरमार हो गई, स्वतंत्र भूमिदल का निर्माण हुआ दक्षिण राज्यों को टेक्सास व्यवस्था और मैक्सिको के उचित लाभों से वंचित किया जाने लगा कंसास को लेकांपटन विधान योजना के अन्तर्गत संघ में प्रवेश करने से रोका गया, मसरूर दास अधिनियम की अवहेलना करके दासों को भागने को प्रोत्साहन दिया

गया और भूगर्भ रेलवे द्वारा उनको संरक्षण भी प्रदान किया गया। भाषणों और समाचार–पत्रों द्वारा दक्षिण के राज्यों की निंदा की गई, उत्तर वालों ने ड्रेड स्कॉट के मुकदमे–संबंधी सुप्रीम कोर्ट के निर्णय को मान्यता दी।" इत्यादि अनेक आरोप उत्तर वालों पर लगाये गये।

अब उत्तरी राज्यों के इतिहासकारों को इसका प्रत्युत्तर देने की बारी थी। उन्होंने प्रत्युत्तर में दक्षिण वालों पर कई तरह के आरोप लगाए, मसलन उत्तर वाले मानते थे कि– "सामान्य रूप से उनका यह पक्ष था कि गृहयुद्ध का कारण था– दास स्वामियों के षड्यंत्र, जिनका लक्ष्य था संघ पर संप्रभुता प्राप्ति या उसका भंग, इस षड्यंत्र में उच्च कर्मचारीगण शामिल थे, जिन्होंने अपने पद से लाभ उठाकर संविधान को नष्ट–भ्रष्ट करने का सतत् प्रयास किया। उनका ध्येय था संघीय सत्ता द्वारा संरक्षण और प्रसार। दक्षिण राज्यों में दास प्रथा विरोधियों पर निरंतर हमले किए गए, वहाँ कांग्रेस के पास दास प्रथा निरोधक चायना–पत्र भेजने पर रोक लगायी गई, क्षेत्रों में दास प्रथा पर वाद–विवाद पर प्रतिबंध लागये गये। टेक्सास–विलयन और मैक्सिको–युद्ध द्वारा दास–प्रथा–क्षेत्र का प्रसार का प्रयास किया गया, आरीयान पर अमेरिकी दावों का समर्थन नहीं किया गया।"

दगलस और दास प्रथा के समर्थकों ने उस षड्यंत्र की ओर भी संकेत किया, जिसके अनुसार कंसास–नेबरास्का अधिनियम पारित हो गया और मिसूरी समझौते का निरस्तीकरण हो गया। मिसूरी वालों का कंसास में ऊधम मचाना, ट्रेड स्कॉट के निर्णय में दास स्वामियों का उत्तर वालों पर जबरदस्ती थोपना, मुक्त नीग्रोज को जबरिया पकड़ ले जाना, दक्षिण वालों में हिंसा की प्रवृत्ति और कांग्रेस में शस्त्रों का प्रयोग। इत्यादि बहुत से आरोप उत्तर वालों ने दक्षिण वालों पर लगाये।

इन आरोप–प्रत्यारोपों से दोनों ओर की जनता भड़क उठी और गृहयुद्ध की भूमिका बनने लगी।

## (2) आर्थिक कारण : दास प्रथा की समाप्ति का प्रश्न

दक्षिण अमेरिका राज्यों में कपास की खेती वहाँ की अर्थव्यवस्था का मुख्य पहलू था। कपास की खेती दास मजदूरों के रहम पर ही निर्भर थी। दास प्रथा का प्रश्न उत्तर वालों के लिए मानवीय और नैतिक प्रश्न था इसलिए व अन्य देशों की तरह अमेरिका में भी दास प्रथा को प्रतिबंधित करना चाहते थे। इंग्लैण्ड के उपनिवेशों में 1833 ई. में, फ्रांसीसी उपनिवेशों में 1848 ई. में, लैटिन अमेरिकी गणतंत्रों में सदी के प्रारंभ में ही दासों की खरीद–फरोख्त पर तथा उनके उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका का दक्षिणी राज्य इस प्रथा को कायम रखना चाहते थे। ये राज्य 'कपास क्षेत्र' कहे जाते थे और यहाँ कपास उत्पादन की सारी प्रक्रिया गुलामों पर निर्भर थी। लिंकन दास प्रथा का उन्मूलन चाहता तो, परन्तु क्रमशः इसके लिए वह बल प्रयोग के पक्ष में नहीं था।

## (3) राष्ट्रीय संघ से संबंध विच्छेद का प्रश्न

1860 ई. के आसपास दक्षिण के राज्यों में राष्ट्रीय संघ से संबंध विच्छेद करने की भावना का प्रसार हो गया था। वहाँ के नागरिक राज्यों के अधिकारों, सांविधानिक स्वतंत्रताओं तथा अपनी व्यवस्था स्वयं निर्धारित करने की माँग का समर्थन करने लगे थे। **बनारसी प्रसाद सक्सेना** लिखते हैं– "राष्ट्रीय संघ से संबंध विच्छेद को दक्षिण के राज्य नियमानुसार ही समझते थे, इसके दो आधार थे, एक तो था राजकीय संप्रभुता का सिद्धान्त और दूसरा था उनका यह विचार कि उत्तर वाले उनके अधिकारों का हनन कर रहे हैं, भागे हुए दासों को वापस नहीं करते और दास प्रथा का उन्मूलन करने पर उतारू हैं। मगर इसके पीछे ऊँची प्रशुल्क–दर और उत्तर वालों के आर्थिक हितसंरक्षक कानूनों को पारित होने का भी सन्देह था।"

संबंध–विच्छेद का प्रश्न अंततः गृह युद्ध का तात्कालिक कारण बन गया।

## 1.4 गृह युद्ध के परिणाम

NOTES

इस युद्ध के दो मुख्य मुद्दे थेः दास प्रथा और देश की एकता। युद्ध के पश्चात् इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हो गई। लिंकन ने जनवरी, सन् 1865 ई. में कांग्रेस से आग्रह करके संविधान का 13वाँ संशोधन भी पारित करा दिया और सम्पूर्ण देश दास–प्रथा का निरस्तीकरण कर दिया गया। दक्षिण संघ ने भी युद्धकालीन परिस्थिति से विवश होकर दासों को मुक्त कर दिया था, इस तरह अब सारा देश दास प्रथा से मुक्त हो गया।

इस गृह युद्ध के बाद इसके परिणामों के आकलन करें तो हम पाते हैं कि इसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम आर्थिक हुआ तथा राजनैतिक वैधानिक तथा सामाजिक परिणाम भी सामने आये।

युद्ध का आर्थिक रूप से प्रथम परिणाम तो यह हुआ कि दक्षिण राज्यों की कृषि–व्यवस्था को जिस अनुपात में हानि पहुँची उत्तर के उद्योग को उसी अनुपात में प्रोत्साहन मिला। उत्तर क्षेत्र में वस्तुओं की मूल्य दर 117 प्रतिशत बढ़ी, इस कारण लाभप्रतिभूति अंतर का स्तर भी ऊँचा हो गया।

चूँकि श्रमिकों का अभाव हो गया था, इस कारण उत्पादन की वृद्धि कलों द्वारा ही संभव थी। फलतः एक ओर तो प्रौद्योगिक विधियों का विस्तार हुआ, तो दूसरी ओर पूँजी उत्पादन शैली को बल पहुँचा। बड़ी–बड़ी निगमों ने छोटे उत्पादकों को दबा दिया। उत्तर पूर्व में नए–नए कारखाने खुले, पश्चिम की खानों में काम बढ़ा और कपड़ा हाथ से बुने जाने की जगह कलों द्वारा बनने लगा।

कृषि, व्यवसाय एवं उद्योग की उन्नति के साथ–साथ मुद्रा की माँग भी बढ़ी। एक बार राष्ट्रीय बैंक तो स्थापित हुआ था, परन्तु दलों के सैद्धांतिक विरोधी के कारण उसका निरस्तीकरण हो गया। जब सन् 1863 ई. में विवाद का अन्त हो गया, तब कांग्रेस ने राष्ट्रीय बैंक अधिनियम पारित कर दिया, इसका तत्काल लाभ था– युद्ध बंध–पत्रों की बिक्री बढ़ाना। पर इससे एक लाभ यह भी हुआ कि एक स्वव्यवस्थित कागजी मुद्रा का प्रचलन हो गया।

युद्ध से उत्तर वालों के उद्योग को एक और लाभ यह हुआ कि संरक्षित प्रशुल्क दर बढ़ गई। युद्ध व्यय–पूर्ति की आवश्यकता के कारण विदेशी माल पर आयात कर बहुत अधिक बढ़ा दिया गया।

सन् 1862 ई. में हजारों भूखे और नंगे दास मौत के ग्रास बन गये। जब संघ सरकार को यह मालूम हुआ, तो उसने जनरल आलीवर हावर्ड के अन्तर्गत **'मुक्त व्यक्तियों की संस्था'** स्थापित करके नीग्रो के खाना, कपड़ा और चिकित्सा का प्रबंध किया।

दास प्रथा के पूर्णतः समाप्ति से दक्षिण का कृषि व्यवसायी कुलीन वर्ग अधोगति को प्राप्त हुआ। दूसरा प्रहार सन् 1868 ई. के संविधान संशोधन द्वारा हुआ और जब सन् 1870 ई. में मुक्त दासों को मतदान का अधिकार मिल गया और दक्षिण के नेताओं को सरकारी नौकरी से वंचित कर दिया गया तो उनके दुःखों की सीमा न रही।

युद्ध का वैधानिक परिणाम यह हुआ कि संघ का सदा के लिए प्रभुत्व स्थापित हो गया। अब यह निश्चय हो गया कि किसी राज्य को भी संबंध विच्छेद या संघ से पृथक होने का अधिकार प्राप्त नहीं, इस प्रकार राजकीय प्रभुसत्ता के सिद्धांत का तो बिलकुल ही अंत हो गया।

सन् 1862 ई. में गृह अधिनियम पारित हुआ। दूसरा अधिनियम, मारिल का भूमि प्रदान अधिनियम था, जो इसी वर्ष पास हुआ, इसमें कृषि विषयक वैज्ञानिक शिक्षा के लिए प्रत्येक राज्य में कुछ सरकारी भूमि प्रदान किये जाने की व्यवस्था थी। तीसरे अधिनियम द्वारा, अंतर्महाद्वीप रेलमार्ग का निर्माण हुआ

14 वें संविधान संशोधन में 5 धारायें थीं– जिनमें नागरिकता के नियमों, सम्पत्ति, जीवन, स्वतंत्रता, संरक्षण, चुनाव के नियमों, मतदान की योग्यता तथा अयोग्यता, सार्वजनिक ऋण इत्यादि की व्यवस्था थी।

राजनैतिक दृष्टि से, संघ की संप्रभुता तो स्थापित हो ही गई, उसके साथ–साथ राज्यों की अधीनता भी सुस्पष्ट हो गई, इस तरह गृह युद्ध के बाद संयुक्त राज्य के इतिहास में एक नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ।



### बोध प्रश्न

1 गृह युद्ध के परिणाम लिखिए?

..............................................................................................................................

..............................................................................................................................

..............................................................................................................................

2. गृह युद्ध में इतिहासकारों की भूमिका का वर्णन कीजिए?

..............................................................................................................................

..............................................................................................................................

..............................................................................................................................

## 1.5 अमेरिका के गृहयुद्ध में इंग्लैण्ड की भूमिका

**(Role of England in the American Civil War)**

अमेरिका के गृहयुद्ध के समय विदेशी प्रतिक्रिया अलग–अलग रही। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य था कि इंग्लैण्ड किस का पक्ष लेगा–उत्तर का या दक्षिण का। चूँकि इंग्लैण्ड अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में अपनी पराजय को भूला नहीं था इसलिए ऐसा महसूस होता था कि वह दक्षिण वालों को साथ देगा, परन्तु उसने तटस्थ रहना ही उचित समझा। इंग्लैण्ड में भी दो दल थे। एक कुलीनों का दल था जिनकी सहानुभूति दक्षिण वालों के साथ थी और दूसरा सर्वसाधारण का जिनको कि यह दिखायी पड़ रहा था कि उत्तर वाले लोकहित और लोकतंत्र के संरक्षण में ही अपनी जान गँवाने को कमर कसे हैं।

लिंकन की दास मुक्ति घोषणा के बाद इंग्लैण्ड वालों को यह विश्वास हो गया कि उत्तर वाले दास प्रथा उन्मूलन के लिए ही लड़ रहे हैं। ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्डस के तीन चौथाई सदस्यों और हाउस ऑफ कॉमंस के अधिकांश सदस्यों का झुकाव दक्षिण के परिसंघ के प्रति ही था, परन्तु राजनीति में सिद्धान्त प्रमुख होता है। दक्षिण की घराबंदी से इंग्लैण्ड में कपास के आयात में कमी हो गई थी, इस कारण हजारों काम करने वाले बेरोजगार हो गए थे। राष्ट्रपति डेविस ने भी इंग्लैण्ड से हस्तक्षेप के लिए अपील की पर कोई उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

लगातार कई वर्षो तक फसल खराब हो जाने के कारण इंग्लैण्ड वालों ने उत्तर अमेरिका के मध्य–पश्चिम देशों से निरंतर अनाज खरीदा और उसके बदले अस्त्र–शस्त्र एवं गोला–बारूद अमेरिका भेजा और उसके पोत–निर्माण–व्यवसाय को भी यथेष्ट प्रोत्साहन दिया।

ऐसी स्थिति में इंग्लैण्ड को तटस्थ रहना ही हितकर प्रतीत हुआ। यह सच है कि उत्तर वालों की घेराबंदी की नीति से इंग्लैण्ड के व्यापार को कुछ क्षति अवश्य पहुँची, परन्तु उसकी इतनी मात्रा न थी कि वह उसका प्रतिरोध करता और उसके लिए लड़ाई मोल लेता. इसके बावजूद दो मौके ऐसे आये जब युद्ध बाल–बाल बचा। प्रथम, परिसंघ के दो प्रतिनिधि जेम्स मेसन और जान स्लीडेल ट्रेंड नाम के अंग्रेजी जहाज में यूरोप जा रहे थे। इनको संघ के एक जंगी जहाज ने बाहर निकाल कर बंदी बना लिया, इस घटना से इंग्लैण्ड में तहलका मच गया परन्तु

लिंकन ने समझदारी से काम लेते हुए उन्हें मुक्त करवा दिया। दूसरे जब लिंकन को पता चला कि इंग्लैण्ड में परिसंघ के लिए व्यापार का माल लूटने के लिए जहाज बनाए जाते हैं। एडम्स ने इसका प्रतिरोध किया तो इंग्लैण्ड ने मान लिया, इस तरह इंग्लैण्ड अमेरिका के गृहयुद्ध में तटस्थ रहा।

NOTES

## 1.6 सारांश

1860 में अमेरिका में दूसरी क्रांति या गृह युद्ध छिड़ गया जिसका तात्कालीन कारण लिंकन का चुनाव था। गृह युद्ध को भड़काने में कई परिस्थितियों ने योगदान दिया उसके प्रमुख कारणों में

1. इतिहासकारों की भूमिका
2. आर्थिक कारणों में दास प्रथा की समाप्ति का प्रारूप
3. राष्ट्रीय संघ से संबंध

## 1.7 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) अमेरिका के गृहयुद्ध की प्रमुख घटनाओं का वर्णन कीजिए।

(2) अमेरिका के गृहयुद्ध के कारणों का वर्णन कीजिये।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) गृहयुद्ध के परिणामों का विवेचन कीजिए।

(2) अमेरिका के गृहयुद्ध में इंग्लैण्ड की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

### विकल्प

1. अमेरिका में दूसरी क्रांति या ग्रह युद्ध किया गया था--

   (अ) 1860 (ब) 1870 (स) 1880 (द) 1890

2. गृह अधिनियम पारित हुआ था--

   (अ) 1875 (ब) 1862 (स) 1872 (द) 1892

**उत्तर** 1. (अ), 2. (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

## 1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

# अध्याय-2 इटली का एकीकरण
## (UNIFICATION OF ITALY)

NOTES

## इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 परिचय
2.2 एकीकरण की भूमिका
2.3 इटजी के एकीकरण के सोपान
2.4 कैवूर की गृह नीति
2.5 कैवूर की विदेश नीति
2.6 एकीकरण के नायक
2.7 सारांश
2.8 अभ्यास प्रश्न
2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. इटली की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जान सकेंगे।
2. एकीकरण के प्रयास एवं बाधाएँ को जान सकेंगे।
3. तात्कालीन समय की सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक घटनाक्रम और परिस्थितियों में मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 2.1 परिचय

**प्रो. देवेन्द्र सिंह चौहान** ने लिखा है कि– **"इटली पर नेपोलियन बोनापार्ट का आधिपत्य हो जाने से वहाँ पर एक संगठित एवं एकरूप शासन स्थापित हुआ जिसके** फलस्वरूप इटली के लोगों में राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई।"

## 2.2 एकीकरण की भूमिका

इटली के लिए नेपोलियन मुक्तिदूत के रूप में आया था। नेपोलियन ने आस्ट्रिया को पराजित किया जो इटली के एकीकरण के मार्ग की सबसे बडी बाधा थी। नेपोलियन ने इटली में कई महत्वपूर्ण कार्य किये थे– जैसे सामतवाद की समाप्ति, आंतरिक व्यापार पर प्रतिबंध की समाप्ति, उसने इटली के राष्ट्रीय सम्मान को विकसित किया। उसने उत्तरी इटली पर 'सिस एलपाइन' गणराज्य स्थापित करके सबसे पहले इटली की जनता को एकता का सबक सिखाया। महाद्वीपीय व्यवस्था द्वारा इटली में न केवल वस्त्र उद्योग का मार्ग प्रशस्त हुआ बल्कि आर्थिक और औद्योगिक एकीकरण का सूत्रपात भी हुआ। एक इतिहासकार के अनुसार– **"इटली में नेपोलियन ने ही सभी भौगोलिक तथा राजनीतिक बाधाओं को समाप्त करके इटली को एकता** का महत्व दिखाया था और जब फ्रांस ने राष्ट्रीय एकता को समाप्त करना चाहा तो इटलीवासियों में राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन मिला, इसलिये नेपोलियन

NOTES

**को ही इटली में राष्ट्रवाद का जन्मदाता कहा जाता है। उसने इटली में राष्ट्रवाद तथा लोकतंत्र की भावनाओं को जागृत किया।"** यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना के विकास में फ्रांस की राज्य–क्रांति एवं नेपोलियन के आक्रमणों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। फ्रांसीसी राज्य क्रांति ने किस तरह से राजनीति को राज–दरबारों और निजी राज–कक्षों से बाहर कर उसे अखबारों, सड़कों और सर्वसाधारण की वस्तु बना दिया था। यूरोप के कई राज्यों में नेपोलियन के द्वारा ही 'नवयुग' का संदेश पहुँचा किन्तु नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोपीय राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता की भावना को उपेक्षा की दृष्टि से देखा, लेकिन इतिहास में जो शक्ति एक बार उत्पन्न हो जाती है, उसे हमेशा के लिए नष्ट नहीं किया जा सकता इसी राष्ट्रीयता के आधार पर राष्ट्र–राज्यों का निर्माण हुआ। नेपोलियन वह पहला व्यक्ति था, जिसने इटली के राज्यों को भौगोलिक नाम के स्थान पर वास्तविक रूपरेखा प्रदान की, इससे इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। इटली में एकीकरण के लिए **'राष्ट्रीयता की उत्कट भावना'** जगाने में नेपोलियन का महत्वपूर्ण योगदान है और इसी राष्ट्रीयता की उत्कट भावना ने एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया।

इटली एक ऐसा राज्य था जिसने प्राचीन यूरोप के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा धार्मिक भूमिका का निर्वाह किया था। यहाँ यूरोप की एक वैभवशाली सभ्यता का विकास हुआ था जिसे रोमन सभ्यता के नाम से जाना जाता है। पोप के धार्मिक कार्य का केन्द्र रोम सम्पूर्ण यूरोप का धार्मिक केन्द्र था, परन्तु इटली धीरे–धीरे अपना राजनैतिक महत्व खोता गया और 1815 में इटली एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र होकर रह गया। इटली के इतिहास में फ्रांसीसी राज्य–क्रांति का निःसंदेह उल्लेखनीय महत्व है। यद्यपि इटली तुरन्त 'नव युग' में प्रवेश न कर सका, किन्तु क्रांति ने उन्नीसवीं शताब्दी से परिचय करा दिया था। सामन्तवाद का पतन एवं जनतांत्रिक सिद्धान्तों में साक्षात्कार इसी क्रांति की देन कही जा सकती है। नेपोलियन ने इटली की विजय के पश्चात् इटली में गणतंत्र की स्थापना की और सम्राट बनने के बाद अनेक छोटे–छोटे राज्यों को समाप्त कर उन्हें केवल तीन भागों में समूहित कर दिया था। सामन्तवादी व्यवस्था की समाप्ति तथा आन्तरिक व्यापार पर प्रतिबन्धों का अंत इटलीवासियों को फ्रांस की सबसे बड़ी देन थी। इटली में एक समान नियम–कानून लागू किये गये। यह नेपोलियन ही था, जिसने इटलीवासियों को अपने गौरवपूर्ण अतीत का पुनः स्मरण करवाया, किन्तु जब स्वयं नेपोलियन ने ही इटली का, उपनिवेश के रूप में प्रयोग करना शुरू किया, तो इटलीवासियों की राष्ट्रवादी भावनाएँ भड़क उठीं। उन्हीं कारणों की वजह से यह कहा जाता है कि नेपोलियन ही इटली में राष्ट्रवाद का जन्मदाता था। **मेरियट** के अनुसार, **"नेपोलियन ही वह पहला व्यक्ति था, जिसने सर्वप्रथम इटली को एकता प्रदान की।"** लिप्सन ने इटली के संदर्भ में फ्रांसीसी क्रांति के योगदान के महत्त्व का आकलन करते हुए लिखा है, इटली को कुछ समय के लिए एकता प्राप्त हुई, इसके अतिरिक्त, उसे फ्रांसीसी राज्य क्रांति से एक अन्य बहुमूल्य वसीयत भी मिली–कानून की दृष्टि में सबको समान अधिकार, धर्म के विषय में सभी को स्वतंत्रता, प्रेस की स्वाधीनता और स्वायत्त शासन प्रणाली। राष्ट्रीय शासन के ये प्रत्यक्ष लाभ थे। इनसे लोगों का उत्साह और देश प्रेम गहरा होता चला गया।

इस तरह इटली में राष्ट्र निर्माण के लिए आधारभूमि तैयार करने में फ्रांस की राज्य क्रांति और नेपोलियन ने प्रेरणादायी भूमिका निभाई।

## भौगोलिक स्थिति

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इटली नाम का कोई देश नहीं था किन्तु इटली भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक पूर्ण इकाई जरूर था। इटली भूमध्य सागरीय देश कहा जाता है। यह एल्पस पर्वत के दक्षिणी भाग में स्थित था। इटली तीन तरफ से समुद्र से घिरा है। केवल उत्तरी दिशा से स्थल मार्ग से यूरोप से जुड़ा था। इटली प्राकृतिक दृष्टिकोण से अनेक खण्डों में विभाजित देश है। यहाँ के राज्य प्रांतीयता के आधार पर सदियों से विभाजित थे, इसमें अनेक जातियाँ भाषाओं तथा वर्गों के लोग रहते थे।

NOTES

1815 में इटली चार भागों में विभाजित था–

(1) राजतंत्र के प्रभाव वाला उत्तरी इटली,

(2) पोप के प्रशासन वाला मध्य इटली,

(3) विदेशी प्रशासन वाला 'पो' घाटी वाला इटली,

(4) दक्षिणी इटली जिसमें नेपल्स तथा सिसली थे।

इटली के उत्तर–पश्चिम में सार्डीनिया–पीडमोन्ट का राज्य था, जहाँ सेवाय वंश का शासन था। उसके उत्तर–पूर्व में लोम्बार्डी और वेनेशिया के प्रदेश थे, जिन पर आस्ट्रिया का आधिपत्य था। परमा, मोडेना और टस्कनी यद्यपि स्वतंत्र राज्य थे तथापि उन पर आस्ट्रिया का प्रभाव था। मध्य में पोप का अपना स्वतन्त्र राज्य था। दक्षिण में नेपल्स और सिसली थे, जहाँ बूर्बों वंश का शासन था।

## वियेना व्यवस्था

1815 के बाद मेटरनिख युग में आस्ट्रिया ने पूरी तरह से इटली पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, परन्तु नेपोलियन से इटलीवासियों ने यह सीख लिया था कि बिना युद्ध के स्वतंत्रता संभव नहीं है। वियेना व्यवस्था (1815 ई.) इटली के संदर्भ में राष्ट्रीय तथा सामाजिक–आर्थिक हितों के विरुद्ध एक निर्णय था। वियेना व्यवस्था के संदर्भ में **म्यूरिल ग्रिंडराड** का यह कथन महत्वपूर्ण है कि **''उसने इटली में राष्ट्रीय विकास को सौ वर्ष पीछे धकेल दिया।''** राजतंत्र की रक्षा, पोप की पुनर्स्थापना तथा फ्रांस के विरुद्ध व्यूह रचना के सिद्धान्त पर वियेना में निर्णय लिये गये थे, इस प्रकार 1815 ई. में इटली एक बार फिर विभाजित, राजतंत्रों के अधीन, रूढ़िवादी चर्च के नेतृत्व में तथा कुलीन वर्ग के अधीन था, इसलिए आस्ट्रिया के चांसलर मेटरनिख ने कहा था कि **''इटली तो एक भौगोलिक–अभिव्यक्ति है।''** इटली का कोई झंडा नहीं होने, यूरोपीय राष्ट्रों में उसकी गिनती नगण्य होने तथा विभिन्न राज्यों की अलग–अलग मुद्राएँ होने पर मैजिनी ने दुःख व्यक्त किया था, इसलिए इटली के एकीकरण के संघर्ष में इटली के नागरिकों को यह सिद्ध करना था कि इटली एक संगठित जनसमूह है, जिसकी अपनी भौगोलिक सीमाएँ हैं तथा जिसकी ऐतिहासिक परम्पराएँ और शक्तिशाली सांस्कृतिक आधार हैं। वियेना कांग्रेस ने इटली की स्वतंत्रता की भावनाओं की पूर्णतः अनदेखी करते हुए पुनः वंशानुगत राज्यों की स्थापना की, इसमें निम्नलिखित निर्णय लिए गए जो इटली के खिलाफ थे –

1. आस्ट्रिया ने लोम्बार्डी तथा वेनेशिया पर पुनः अधिकार कर लिया।
2. जेनोआ तथा सेवाय का भाग पीडमाँ को दे दिया तथा सार्डीनिया का राज्य भी पीडमाँ से मिला दिया गया।
3. पोप के प्रदेश पुनः पोप को दे दिए गये।
4. नेपल्स में पुनः बूर्बो राजतंत्र स्थापित कर दिया गया तथा सिसली भी उसे दे दिया गया।
5. पार्मा, मौडीना तथा टस्कनी में पुनः हैप्सबर्ग वंश के राजकुमार राज्य करने लगे

## इटली के एकीकरण में बाधाएँ

इटली के एकीकरण के मार्ग में कई तरह की बाधाएँ थीं। इतिहासकारों के अनुसार कुछ प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार है –

(1) इटली में प्रतिक्रियावादी विदेशी प्रभुत्व का होना एक मुख्य बाधा थी। इटली पर आस्ट्रिया का प्राधान्य था। लोम्बार्डी एवं वेनेशिया उसके सीधे नियंत्रण में थे और मोडना व टस्कनी पर आस्ट्रिया से सम्बन्धित राजकुमारों का अधिकार था और परमा की रानी लुईसा आस्ट्रिया की राजकुमारी थी।

(2) इसकी भौगोलिक स्थिति भी इसकी एक मुख्य बाधा थी। एक लम्बे कटे हुए देश के रूप में इटली मोटे तौर पर तीन राजनीतिक इकाइयों– उत्तरी, मध्य और एक दक्षिणी इटली में विभक्त था।

(3) पोप अपने राज्य रोम पर अपनी सत्ता को बनाए रखना चाहता था, इसके अतिरिक्त कैथोलिक यूरोप पोप के अस्तित्व को कभी नष्ट नहीं होने देना चाहता था।

(4) इटली का एकीकरण किस विचारधारा के अन्तर्गत किया जाए ? इस बारे में राजनीतिज्ञ एकमत नहीं थे। मैजिनी का एकीकरण एक गणराज्य के रूप में चाहता था। गैरीबाल्डी भी इसका समर्थक था। जियोबर्टी का संघीय राज्य का सिद्धान्त था। वह पोप के अधीन इटली के सभी राज्यों के संघ का समर्थक था।

(5) इटली में अभी तक राष्ट्रीय चेतना जागृत नहीं हुई थी। इटली प्राचीन ग्रीस की तरह विभाजित था, जिसमें सभी राज्यों की अपनी अलग–अलग परम्पराएँ एवं रीति–रिवाज थे। एक राज्य दूसरे राज्य से मिलकर रहना नहीं चाहता था। **मेटरनिख** के शब्दों में, **''इटली में एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध, एक शहर दूसरे शहर के विरुद्ध, एक परिवार दूसरे परिवार के विरुद्ध और आदमी आदमी के विरुद्ध था।''**

(6) इटली का सामन्तवादी एवं कुलीन वर्ग नेपोलियन के पतन के पश्चात् पुनः सामन्तवादी तथा जागीरदारी प्रथा स्थापित करना चाहता था। उसकी शक्ति जागीर तथा राजनीतिक प्रभुता थी। 1815 ई. में इटली में औद्योगिक क्रांति के चिह्न नाममात्र को भी विद्यमान नहीं थे। वहाँ के लोगों का परिचय अभी यातायात के नवीन साधनों और उत्पादन के आधुनिक माध्यमों से भी नहीं हुआ था।

इन बाधाओं के चलते हुए इटली का एकीकरण होना असंभव सा था, परन्तु इसके संभव होने में कई प्रकार की शक्तियाँ भी विद्यमान थीं जिनके कारण एकीकरण प्रारंभ हुआ। एकीकरण की विभिन्न शक्तियाँ इस प्रकार थीं –

## एकीकरण की विभिन्न शक्तियाँ

उपर्युक्त व्यवस्था से इटली में कुछ ऐसी शक्तियों का उदय हुआ जो विविधता में एकता, अशक्ति में शक्ति तथा अकर्मण्यता में क्रियाशीलता को देखते थे। इटली के एकीकरण में विभिन्न विकट बाधाओं के बावजूद वहाँ स्वतंत्रता, समानता तथा देश प्रेम की भावनाएँ अधिक समय तक दबी नहीं रह सकीं। इटली के कुछ देशभक्तों और लोकतंत्र के समर्थकों ने मिलकर स्वतंत्रता और उदारवाद की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने का निर्णय किया। **पार्थसारथी गुप्ता** के अनुसार एकीकरण की विभिन्न शक्तियाँ इस प्रकार थीं–

**पहला वर्ग :–** पीडमाँ, सार्डीनिया, जेनोआ तथा सेवा में मिश्रण से उत्तरी इटली का एक संगठित तथा शक्तिशाली राज्य बन गया था जिसने आगे चलकर इटली के एकीकरण आंदोलन का नेतृत्व किया।

**दूसरा वर्ग :–** आस्ट्रिया का हस्तक्षेप इटली में बहुत बढ़ गया था। लोम्बार्डी तथा वेनेशिया आस्ट्रिया के अधीन आ गए थे। पारमा, मौडीना तथा टस्कनी के क्षेत्रों में आस्ट्रिया के राजघराने के राजकुमारों का नेतृत्व स्थापित किया जिससे कि आस्ट्रिया की शक्ति, एक ओर तो पोप का संरक्षण करती रहे तो दूसरी ओर इटली में राजतंत्र की रक्षा करते हुए क्रांतिकारी सुधारों का दमन करे, इससे भी बड़ा उद्देश्य था कि फ्रांस पुनः इटली की ओर बढ़ने का प्रयास न कर सके, इस प्रकार से यह इटली के असंगठित इतिहास में, गठन का दूसरा उदाहरण था।

**तीसरा वर्ग :–** इटली में पोप शक्ति की पुनः स्थापना से बना, जिसमें रोम तथा पोप का राज्य क्षेत्र सम्मिलित किए गए।

**चौथा वर्ग :–** इटली के एकीकरण में चौथा वर्ग नेपल्स और सिसली के नवगठित राज्य द्वारा प्रारंभ हुआ जहाँ बूर्बो शासक पुनः स्थापित किए गए थे।

## (1) आर्थिक और औद्योगिक विकास

इटली के एकीकरण के व्यापक तत्वों में वहाँ आर्थिक तथा औद्योगिक विकास का महत्वपूर्ण योगदान है। वियेना व्यवस्था से इटली में आर्थिक परेशानियाँ बढ़ने लगी थीं। आर्थिक असंतोष

के कारण 1815 से ही इटली में अशांति, आंदोलन तथा क्रांति की भावनाओं को जन्म दे रहे थे, इसी समय से इटली के अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक सुधारों की ओर इटली का ध्यान खींचना प्रारंभ कर दिया था। इटली की **'गिल्ड अर्थव्यवस्था'** 1815 के पहले से ही टूटनी प्रारंभ हो गई थी जो 1850 तक पूर्ण रूप से समाप्त हो गई, इससे इटली के आर्थिक स्वरूप में परिवर्तन आया था। इटलीवासी अब यह मानने लग गए थे कि औद्योगिक विकास के लिए पुरातन व्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा करने पर ही नये उद्यमी जन्म ले सकते हैं और आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिल सकता है।

**एकीकरण के पूर्व आर्थिक स्थिति –** 1815 के पहले तक इटली आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश था। यहाँ की 80 प्रतिशत जनसंख्या कृषि में लगी हुई थी। खेती–बाड़ी इटली के केवल आधे हिस्से में ही हो सकती थी और इसका औद्योगिक स्तर केवल दस्तकारी तक ही सीमित था। व्यापार का बहुत कम विकास हुआ था। औद्योगिक विकास और आविष्कार सम्बन्धी कार्य नाम मात्र के ही थे। वहाँ आवागमन के साधनों का अभाव था इसके कारण भी औद्योगिक और व्यापारिक विकास पिछड़ा हुआ था। इटली का जनसम्पर्क केवल तटीय जल मार्गों द्वारा था। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक से पूर्व कुछ विचारकों ने, जिनमें फर्डिनेंडो, गलियानी, बैकारिया, पीटर इत्यादि प्रमुख थे, आर्थिक सुधारों की ओर इटली का ध्यान आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया था। 1790 ई. के मध्य फर्डिनेंड तृतीय ने टस्कनी में आर्थिक एवं औद्योगिक सुधार लागू किए थे। इटली के बाद के अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता, राष्ट्रीय बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहन देने, आवागमन के अच्छे साधनों को विकसित करने और यूरोप के विकसित औद्योगिक देशों से तकनीकी ज्ञान के आयात की माँग की। इन अर्थशास्त्रियों की यह देन थी कि इटलीवासी आर्थिक सहयोग और एकता में इटली के एकीकरण का भविष्य देखने लगे।

**1815 के बाद की आर्थिक स्थिति –** उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पूँजी के आधार पर कृषि के विकास में इटलीवासियों ने केवल नवीन आर्थिक चेतना ही उत्पन्न नहीं की वरन् इटली के औद्योगिक विकास में उसकी भूमिका उल्लेखनीय रही। आवागमन के नये साधनों की आवश्यकताओं का अनुभव किया। जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी व मध्य इटली में शीघ्र ही रेलवे लाइनों का बिछाना शुरू हो गया और भाप के इंजन का प्रयोग आरम्भ हुआ। यह उल्लेखनीय है कि इटली में रेलवे का विकास फ्रांस व जर्मनी की अपेक्षा कम था। 1861 ई. में इटली में 1623 किमी. लम्बी रेलवे लाइनें बिछ चुकी थीं और यह कार्य केवल तीस वर्षों में हुआ था। इटली ने आरम्भ मे इंजन इंग्लैण्ड से खरीदे किन्तु बाद में स्वयं बनाने लगा। 1854 ई. में इटली ने पहला रेलवे इंजन जेनोओ में बनाया। इटली के एकीकरण में रेलवे के योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता है, इसका केवल इटली की आर्थिक व्यवस्था पर ही प्रभाव नहीं पड़ा अपितु इसने राजनीतिक चेतना के विकास में भी योगदान दिया। आवागमन के साधनों में रेल मार्ग का योगदान बहुत महत्वपूर्ण था।

**प्रो. योगेश्वरनाथ त्रेहान** इस सम्बन्ध में लिखते हैं– "अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित लेखकों ने आर्थिक सुधारों और एकता में इटली का राजनीतिक एकीकरण देखना शुरू कर दिया था। उन्होंने इटली के एकीकरण में इटली के उद्योग की विस्तृत मंडियों की झाँकी तथा श्रम विभाजन का स्वरूप देखा था। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता की **माँग** की, आवागमन के अच्छे साधनों की माँग की और यूरोप के विकसित औद्योगिक देशों से तकनीकी ज्ञान की माँग की। नेपोलियन की देन के साथ यह इन्हीं अर्थशास्त्रियों की देन थी कि इटलीवासी आर्थिक सहयोग और एकता में इटली का एकीकरण देखने लग गए थे तथा इटली के राजनीतिक एकीकरण में इटली के आर्थिक औद्योगिक विकास का भविष्य देख रहे थे।"

## (2) प्रारंभिक राष्ट्रवाद तथा पुनर्जागरण

इटली का प्रारंभिक राष्ट्रवाद यद्यपि प्रजातंत्र का पर्यायवाची नहीं था, परन्तु समस्त राष्ट्रवादी एक बात से सहमत था कि इटली का यह आंदोलन राष्ट्रीय गौरव एवं सम्मान से अनुप्राणित

इस आंदोलन को **'रिसोर्जिमेंट मूवमेंट'** कहा जाता है। उदारवादी–राष्ट्रवादी की माँगों में राज्यों में संसदीय प्रशासन, सांविधानिक व्यवस्था तथा न्याय पर आधारित प्रशासन तथा निरंकुश संसदीय प्रभुता के सिद्धांत से ही संतुष्ट थे। इटली के उदारवादी मात्र स्वतंत्रता, प्रजातंत्रवादी समानता तथा भातृभाव चाहते थे। उनसे मिलकर बना आंदोलन ही इटली का पुनर्जागरण आंदोलन कहा जाता है।

NOTES

## (3) सांस्कृतिक आंदोलन एवं एकीकरण

सांस्कृतिक क्षेत्र में लेखकों, दार्शनिकों तथा आलोचकों ने सांस्कृतिक चेतना की एकता की भावना के द्वारा एकीकरण मार्ग प्रशस्त किया था, इस क्षेत्र में सबसे पहले **मैजोनी** का नाम उल्लेखनीय है। उसने एक भाषा पर आधारित सांस्कृतिक आंदोलन प्रारंभ किया। उसने इटली के अतीत की गरिमा को लेखों द्वारा जनता तक पहुँचाया। उसने लम्बार्ड संघ तथा ग्युल्फ जाति के महान युद्धों की याद को लोक कहानियों के द्वारा इटली की जनता तक पहुँचाया। उसने इटली के नवयुवकों के अन्दर देश प्रेम की भावना कूट–कूट कर भर दी। उन्हें एकीकरण के लिए राष्ट्रीय एकता की भावनाओं से प्रेरित किया।

1840 के बाद इटली के युवा लेखकों ने ग्युल्फ जाति पर लिखकर बौद्धिक तथा नैतिक प्रोत्साहन दिया। उन्होंने कैथोलिकवाद को राष्ट्रीय एकता का आधार बनाया यह इटली के एकीकरण का बहुत महत्वपूर्ण घटक था। **मैजोनी, रोस्मिनी** तथा **तमनसियो** ने कैथोलिक सिद्धान्तों को विकसित करने का प्रयत्न किया।

लेखकों की इसी श्रेणी में **जियोबर्टी** का नाम नहीं भुलाया जा सकता। उसने 1843 में एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था **'डेल प्राइमेटो मोरेल द सिविल डेगली'** इसमें उसने इटली के निवासियों का एक जाति के रूप में वर्णन किया, इसमें उसने एक भाषा, एक धर्म तथा एक खून की बात कही, इसी प्रसंग में **मानिन** तथा **गैरीबाल्डी** का नाम भी उल्लेखनीय है। मैकयावली तथा प्रसिद्ध कवि **दाँते** स्वाधीनता के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध थे।

इस तरह सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने इटली के एकीकरण को भावनात्मक स्वरूप में बाँध दिया।

## (4) 1820–21 की क्रांतियाँ और एकीकरण

मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति के विरुद्ध इटली के उदारवादी तथा राष्ट्रवादी तत्व विद्रोह करने के लिए तैयार हो रहे थे। 1820–21 में कार्बोनरी के नेताओं ने स्पेन के विद्रोह से प्रभावित होकर पीडमॉं और नेपिल्स में विद्रोह किया। विद्रोहियों ने वहाँ संविधान स्थापना की माँग की, इस माँग तथा विद्रोह से मेटरनिख सतर्क हो गया। मेटरनिख ने विद्रोहों को दबाने के लिए 1821 में सेना भेज दी विद्रोह दबा दिया गया। इटली पुनः राजतंत्र के अधीन हो गया परन्तु इटली के उदारवादियों तथा राष्ट्रवादियों की देशभक्ति की भावना को पूर्णतः कुचला न जा सका। जैसे देश भक्ति की भावना को पूर्णतः कुचला न जा सका। जैसे–जैसे मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति और दमन तेज हुआ वैसे–वैसे राष्ट्रवादी आंदोलन तेज होता गया। हजारों देशभक्तों को देश से निकाल दिया गया इसमें मैजोनी तथा गैरीबाल्डी भी शामिल थे।

## (5) गुप्त संस्थाओं का उदय

इटली में क्रांतिकारी आंदोलन के परिणामस्वरूप कई गुप्त संस्थाओं का उदय हुआ। कुछ प्रमुख गुप्त संस्थायें इस प्रकार थीं –

(i) **कार्बोनरी** – यह कोयला झोंकने वालों की संस्था थी जो 1810 में बनाई गई थी। कार्बोनरी की शाखाएँ समस्त इटली में फैली हुई थीं और उसमें सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे, इसमें कुलीन वर्ग, सैनिक अफसर, किसान, धर्मगुरू, यहाँ तक कि बुर्जुआ वर्ग ने भी इस संस्था की सदस्यता अर्जित की, इस संस्था की कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं थे फिर भी इसके दो मुख्य उद्देश्य थे– विदेशियों को इटली से बाहर निकालना और वैधानिक स्वतंत्रता की स्थापना करना। लगभग बीस वर्षों तक इसी के नेतृत्व में आंदोलन चला। मैजोनी ने भी इसकी सदस्यता ग्रहण की थी।

इस संस्था के तिरंगे– काला, लाल और नीले रंग वाले– झण्डे ने शीघ्र ही लोकप्रियता प्राप्त कर ली और लोग उसकी पूजा करने लगे। उद्देश्यों में एकरूपता एवं सूत्रबद्धता स्पष्ट एवं प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में कार्बोनरी असफल सिद्ध हुई।

**(ii) अडेल्फी तथा फेडेरटी** – लोम्बार्डी में अडेल्फी तथा पीडमाँ में फेडेरटी नामक गुप्त संस्थायें थीं।

इन संस्थाओं में अलग–अलग वर्ग के लोगों ने सदस्यता ग्रहण की जैसे फौजी अफसर, छात्र, व्यावसायिक बुद्धिजीवी, छोटे पादरी इत्यादि।

**(iii) यंग इटली** – मैजोनी ने 1831 में यंग इटली नामक संस्था की स्थापना की इसने इटली के पुनर्जागरण आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1848 की क्रांति एक हद तक इसी संस्था के कारण हुई थी, इसमें मैजोनी की आयु और विचारों वाले व्यक्तियों को ही सदस्य बनाया गया था। 1833 तक इसकी सदस्य संख्या 60,000 हो गई थी और उसकी स्थानीय समितियाँ इटली के हर शहर में स्थापित हो चुकी थीं।

## (6) 1830 की क्रांतियाँ तथा एकीकरण के प्रयास

1830 में सम्पूर्ण यूरोप में क्रांतियाँ हुई इसी के परिणामस्वरूप इटली के कई राज्यों में क्रांतिकारी घटनाएँ हुईं। मोडीना में फ्रांसिस चतुर्थ को उसकी राजधानी से निकाल दिया। कुछ समय पश्चात् मेरी लुईस. के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया। पोप के राज्य में भी अंतरिम सरकार स्थापित कर ली। मेटरनिख ने स्वतंत्रता का दूसरा प्रयास भी बुरी तरह से कुचल दिया गया। मैजोनी को 1830 में गिरफ्तार कर लिया गया।

1830 की क्रांति के परिणामस्वरूप इटली में एक बार फिर निरंकुश और प्रतिक्रियावादी शक्तियों की विजय हुई, इस समय इटली के एकीकरण के सबसे बड़ी समस्या थी प्रादेशिक अनन्यता की भावना।

## (7) प्रारम्भिक विद्रोह : सारजैन्टी विद्रोह (1833)

गुप्त संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित क्रांतिकारी आंदोलन का एक क्रम उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक से आरम्भ हुआ, जो तीस वर्षों तक चलता रहा। **चार्ल्स एल्बर्ट** जो 1821 में क्रांतिकारियों से सहानुभूति रखता था। 1831 में शासक बनते ही उसने प्रतिक्रियावादी नीति अपनाना प्रारंभ कर दी। मैजोनी ने उसे उकसाया कि वह **'इटली की स्वतंत्रता का नेपोलियन'** बन जाये, परन्तु उसकी क्रांतिकारी भावनायें खत्म हो चुकी थीं। जब 1833 में पीडमाँ में विद्रोह हुआ तो चार्ल्स एल्बर्ट ने बड़ी निर्दयता से उसे कुचल दिया। कई क्रांतिकारियों को सूली पर चढ़वा दिया तथा मैजोनी तथा गैरीबाल्डी के लिए मृत्यु दण्ड का आदेश जारी किया। 1820 ई. के स्पेन के विद्रोह से प्रेरणा पाकर नेपल्स एवं पीडमाँ की जनता ने वहाँ के शासकों से संविधान की स्थापना की माँग की। सबसे पहला विद्रोह नेपल्स में हुआ, किन्तु आस्ट्रिया द्वारा सैनिक हस्तक्षेप के कारण यह असफल रहा। अभी नेपल्स के विद्रोह को दबाया भी न जा सका था कि पीडमोन्ट और लोम्बार्डी में हलचल प्रारम्भ हो गयी। पुनः आस्ट्रिया की सेनाओं ने विद्रोह को दबा दिया, इस प्रकार इटली में एक बार फिर राजतंत्र को सुरक्षित किया गया परन्तु जनता की संविधान की माँग को दबाने से इटली में राजतंत्र के निरंकुश तथा रूढ़िवादी स्वरूप के विरुद्ध इटली की भावनाएँ उग्र हो गई। राजतंत्र जितना रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी होता गया, इटली उतना ही उदारवादी तथा देशभक्ति से प्रेरित राष्ट्रवादी होता गया।

फ्रांस में 1830 ई. की क्रांति होते ही इटली में एक बार फिर विद्रोह शुरू हो गया। पोप की रियासतों में उग्र प्रदर्शन हुए। परमा और मोडेना के राज्यों से उनके शासक निकाल दिये गये। इन विद्रोहों के विरुद्ध आस्ट्रिया ने तुरन्त कठोर कार्रवाई की और उपदस्थ शासकों को पुनः अपने–अपने सिंहासनों पर आरूढ़ कराया, इस प्रकार आस्ट्रिया ने दो बार इटलीवासियों की राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता प्राप्ति की अभिलाषा को कुचल दिया। 1830 ई. की क्रांति को

असफलता से यह स्पष्ट हो गया कि बिना व्यापक संगठन और योजना के केवल स्थानीय स्तर पर विद्रोह करने से इटली में नये युग का सूत्रपात असम्भव है। 1820 ई. और 1830 ई. के विद्रोहों की असफलता से इटली के नेताओं को यह भी ज्ञात हो गया कि जब तक आस्ट्रिया के आधिपत्य का अंत नहीं हो जाता, तब तक उनके स्वतंत्रता और एकता के प्रयत्न निरर्थक होंगे।



## (8) 1848 ई. की क्रांति और इटली

फ्रांस की क्रांति (1848 ई.) का प्रभाव इटली पर भी पड़ना स्वाभाविक था। फलतः वहाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन हो गया। इटली ने 1848 ई. क्रांति का उद्देश्य उदारवादी आर्थिक सुधार एवं संवैधानिक प्रशासन लागू करना तथा येनकेन–प्रकारेण एकीकरण तथा स्वतंत्रता प्राप्त करना था।

सबसे पहले नेपल्स और सिसली के राज्यों में सुधारवादी नेताओं ने विद्रोह किया और संविधान की माँग की। अंत में नेपल्स के शासक फर्डिनेंड द्वितीय को उदारवादी संविधान स्वीकार करना पड़ा, इसके पश्चात् पीडमोन्ड, टस्कनी और पोप के राज्यों में भी संविधान की माँग बढ़ी और मार्च, 1848 ई. तक इन तीनों में वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हो गयी। मार्च, 1848 ई. की क्रांति द्वारा मेटरनिख के भागने की सूचना से इटली के लोगों में नया जोश उत्पन्न हो गया। सभी इस बात से सहमत थे कि इटली के कन्धों से आस्ट्रिया का जुआ उतार फेंका जाये। वियेना की सूचना पाकर मिलान में विद्रोह हो गया और वहाँ के निवासियों ने आस्ट्रिया द्वारा तम्बाकू पर लगाये कर के विरोध में सिगरेट पीनी छोड़ दी। जो भी सिगरेट पीता दिखाई देता, उस पर प्रहार किया जाता। एक प्रकार से 'तम्बाकू दंगे' शुरू हो गये। वेनिस में भी आस्ट्रिया के शासन का अंत हो गया और गणतंत्र की स्थापना हुई। परमा व मोडेना के शासक भी भाग गये, इस समय देश में सभी विचारों के लोग–आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध करके उसकी अधीनता से मुक्त होना चाहते थे। **काउन्ट कैवूर,** जो इस समय **''रिसार्जीमेन्टों''** नामक पत्र का सम्पादक था, ने राष्ट्र के नाम अपील में कहा, **''सार्डीनिया के राज्य के लिए महान निर्णय का अवसर आ गया है। सरकार और सम्पूर्ण राष्ट्र का केवल एक ही कर्त्तव्य है कि तुरन्त युद्ध छेड़ा जाये।''** सार्डीनिया के सम्राट चार्ल्स एल्बर्ट ने भी इस अपील को पढ़ा। उसको लगा कि मानो उसके राजवंश के सामने एक महान ऐतिहासिक दायित्व है। उसने 23 मार्च, 1848 ई. को आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। पोप और नेपल्स के शासक फर्डिनेण्ड को वहाँ की जनता ने मजबूर कर दिया कि वे इटली के मुक्ति संग्राम में भाग लें। यह उल्लेखनीय है कि अब तक का इटली का संघर्ष विद्रोहों और आन्दोलनों तक सीमित था किन्तु अब वह राष्ट्रीय युद्ध का रूप धारण करता प्रतीत हो रहा था। स्थान–स्थान पर आस्ट्रिया को पराजित होना पड़ा। दुर्भाग्यवश, इटली की एकता की यह लहर अल्पकालीन सिद्ध हुई। पोप कैथोलिकों के विरोध से डर कर पीछे हट गया। फर्डिनेंड ने आन्तरिक उपद्रव के बहाने अपनी सेनाएँ हटा लीं। अब चार्ल्स युद्ध में अकेला पड़ गया और उसे आस्ट्रिया की शर्तों पर आत्मसमर्पण करना पड़ा फलस्वरूप लोम्बार्डी और वेनेशिया पर आस्ट्रिया का पुनः अधिकार हो गया।

इन्हीं दिनों मैजिनी पुनः लौटकर इटली आ गया था। चार्ल्स एल्बर्ट की असफलता से मध्यवर्गीय राजतंत्र दल की योजनाएँ विफल हो गयीं। अब उग्र गणतंत्रवादी दल राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने लगा। मैजिनी इस दल का नेता था। उसने कहा, **''चार्ल्स एल्बर्ट कमजोर निकला और पोप पायस नतम् अस्थिर सिद्ध हुआ। राजाओं द्वारा स्वतंत्रता युद्ध समाप्त किया जा चुका है। अब सर्वसाधारण द्वारा स्वतंत्रता युद्ध आरम्भ किया जाना चाहिए।''** फरवरी, 1849 ई. में मैजिनी के नेतृत्व में रोम में गणतंत्र की स्थापना की गयी। पोप का साम्राज्य समाप्त हो गया और वहाँ स्वयं पोप को नेपल्स में स्थित गेटा में जाकर शरण लेनी पड़ी। टस्कनी में भी गणतंत्र की स्थापना हो गयी और वहाँ के शासक लिओपोल्ड को भागना पड़ा, किन्तु सम्पूर्ण इटली का भाग्य तो पीडमोन्ट पर आधारित था। पीडमोन्ट के शासन चार्ल्स एल्र्ट ने राजतंत्रवादियों के दबाव के कारण पुनः आस्ट्रिया के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ किया, किन्तु 23 मार्च, 1849 ई. को उसकी सेनाएँ नावारा नामक स्थान पर हार गईं, इस हार के फलस्वरूप चार्ल्स ने सिंहासन

त्याग दिया और उसका पुत्र विक्टर इमेन्युअल द्वितीय पीडमोन्ट का शासक बना। उसे संधि करनी पड़ी, जिसके अनुसर लोम्बार्डी पर आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। किन्तु आस्ट्रिया के कहने पर उसने पीडमोन्ट का संविधान रद्द नहीं किया।

नोवारा के युद्ध के बाद इटली में सर्वत्र प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। नेपल्स व सिसली में फर्डीनेंड ने पुनः अपनी शक्ति स्थापित कर ली। टस्कनी पर भी लियोपोल्ड का अधिकार हो गया। यद्यपि रोम का पतन हो चुका था, किन्तु लुई नेपोलियन की मदद से पोप को पुनः सत्तारूढ़ कर दिया गया। अगस्त, 1849 ई. में वेनिस पर भी आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। अन्ततः इटली में आस्ट्रिया का साम्राज्य छा गया। मैजिनी और गैरीबाल्डी को देश छोड़कर भागना पड़ा, इस प्रकार एकता और स्वतंत्रता का यह प्रयास भी विफल हो गया।

## (9) लेखकों के प्रयास

इटली के एकीकरण के इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तत्वों के साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में लेखकों, दार्शनिकों तथा आलोचकों का योगदान भी महत्वपूर्ण था। 1821 ई. में ही **फास्कोल** तथा **रासेटी** नामक महान लेखकों को उनकी देशभक्ति की भावनाओं के कारण देश निकाला दे दिया गया। 1832 ई. में **सिल्वियो पोलिको** ने आस्ट्रिया के जेलखानों का दस वर्षीय वृत्तान्त **'ल मि प्रिजियोनी'** नामक पत्रिका में लिखा। इटलीवासियों को इस लेख से यह पक्का विश्वास हो गया कि अत्याचारी आस्ट्रिया से इटली को मुक्त कराना आवश्यक है। 1843 ई. में जियोबर्ती, एक दार्शनिक एवं देशभक्त, ने अपनी पुस्तक **'इटली की नैतिक और नागरिक श्रेष्ठता'** में इटली के राज्यों के संघ की वकालत की थी। वह चाहता था कि आस्ट्रिया को इटली से निकालने के बाद पोप की अध्यक्षता में इटालियन राज्यों का संघ बने, इस प्रकार लेखकों ने भी कई प्रकार से इटली के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

## (10) मैजिनी और युवा इटली

ज्यूसप मैजिनी का उदय इटली में एकीकरण के प्रारंभ का सूत्रपात था। इटली के एकीकरण की प्रमुख शक्तियों में से एक शक्ति मैजिनी का उदय था। 1830 ई. की क्रांति के पूर्व वह कार्बोनरी का सदस्य था। उसने भी क्रांति में भाग लिया था। क्रांति का दमन हो जाने पर उसे बंदी बनाकर इटली से निष्कासित कर दिया गया। देश–विदेश में घूमने के बाद वह 1831 ई. में फ्रांस पहुँचा। वहाँ उसने **'युवा इटली' (यंग इटली)** नामक एक संस्था की स्थापना की, जिसने इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन में शीघ्र ही कार्बोनरी का स्थान ले लिया। 'युवा इटली' के उद्देश्यों के विषय में मैजिनी ने कहा, **''यंग इटली इटलीवासियों के भाईचारा उत्पन्न करने वाली ऐसी संस्था है, जो प्रगति और कर्तव्यपरायणता के सिद्धान्तों में विश्वास करती है और इस बात से पूर्णतया सहमत है कि इटली शीघ्र ही एक सुसंगठित राष्ट्र बनेगा। सदस्य संस्था में एक पक्के निर्णय से सम्मिलित हुए हैं कि इटली ऐसा प्रभुता–सम्पन्न राष्ट्र बन सके, जहाँ सभी मनुष्य स्वतंत्र और समान हों।''** इस संगठन के ध्वज के एक ओर एकता और स्वाधीनता और दूसरी ओर फ्रांसीसी क्रांति के पवित्र सिद्धान्त– स्वतंत्रता, समानता और मानवता शब्द अंकित किये गये थे। मैजिनी का विश्वास था कि इटली के नवयुवकों में, प्राचीन गौरव और देश प्रेम की भावना भरकर उन्हें स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संगठित करना चाहिए। उसने कहा था, **''यदि समाज में क्रांति लानी है, तो नेतृत्व नवयुवकों के हाथ में दे दो, युवक समाज के ह्रदयों में असीम शक्ति छिपी होती है।''**

मैजिनी के दिमाग में संयुक्त इटली का स्वरूप जितना स्पष्ट और निश्चित था, उतना अन्य किसी व्यक्ति के दिमाग में नहीं था। उसका उद्देश्य था कि इटली के लोगों को शिक्षित कर यह अनुभव करवाना कि इटली एक राष्ट्र है। 1835 ई. में मैजिनी ने लिखा था, ''हमारी आबादी लगभग 12 करोड़ है और प्राचीन काल से लोग हमें इटली की जनता पुकारते चले आ रहे हैं। हमारे देश की सीमाएँ प्राकृतिक हैं और बिलकुल स्पष्ट है। हम एक ही भाषा बोलते हैं। हमारा धर्म एक है, शिष्टाचार एक है, आदतें एक हैं। हमको अपनी उन राजनीतिक, वैज्ञानिक

NOTES

और कला परम्पराओं पर अभिमान है, जो यूरोप के इतिहास को अलंकृत करती हैं।... किन्तु हमारे पास न राष्ट्रीय झण्डा है और न ही कोई राजनीतिक नाम। हम आठ रियासतों में तितर–बितर हो रहे हैं। ... हमें किसी तरह की कोई आजादी नहीं, जो भावनाएँ हमारे अन्दर उबल रही हैं, उनको प्रकट करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। इन सब का कारण है कि विदेशी हमें गुलाम बना रहे हैं।"

मैजिनी ने युवा इटली के माध्यम से इटली की जनता को तीन नारे दिये, **'परमात्मा में विश्वास रखो', 'सब भाइयों को एक साथ मिलाओ' और 'इटली को मुक्त करो'।** उसके उद्देश्य स्पष्ट थे – इटली की एकता और स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा स्वतंत्रता, समानता और जन–कल्याण पर आधारित राज्य की स्थापना। मैजिनी के प्रयासों से उसके पास ऐसे नवयुवक एकत्र हो गये, जिनमें देश भक्ति का अपार जोश था और जो इटली की एकता के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। उसने युवकों को सैनिक प्रशिक्षण दिया और स्थान–स्थान पर इसकी शाखाएँ खोलीं। दो वर्ष में ही सदस्यों की संख्या लगभग साठ हजार हो गयी थी। अब इटली के युवक एक नई आशा के साथ आगे बढ़ने लगे। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए सम्पूर्ण इटली में एक शक्तिशाली जनमत तैयार हो गया। निस्संदेह इटली का स्वतंत्रता संग्राम एक नये युग में प्रवेश कर चुका था।

इटली के एकीकरण के इतिहास में मैजिनी का सबसे बड़ा योगदान यह था कि उसने इस बात को समझा कि इटली का एकीकरण का कार्य पूरा हो सकता है। अपना यह विश्वास उसने कई लेखों द्वारा जनता तक पहुँचाया। इंग्लैण्ड और फ्रांस में भटकता मैजिनी लगातार लिखता रहा तथा लेनिन की तरह विदेशों से अपने देशवासियों को सम्बोधित एवं प्रेरित करता रहा। युवा इटली की एक तरह की गुप्त संस्था ही थी क्योंकि उसे स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की इजाजत नहीं थी लेकिन वह कार्बोनरी की तरह अस्पष्ट विचारों वाली संस्था नहीं थी। युवा इटली के पास इटली के भविष्य की कल्पना थी और उसे प्राप्त करने के लिए सुनिश्चित कार्यक्रम था।

वास्तव में मैजिनी ने इटली के एकीकरण की आधारशिला रखी और इटली के लोगों में देश–प्रेम, त्याग और बलिदान के विचार उत्पन्न किये, इसीलिए **साउथगेट** ने लिखा है, **"यह मैजिनी ही था, जिसने अपने देशवासियों में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न की। यद्यपि वह काबूर की भाँति सेनानायक नहीं था, परन्तु वह एक कवि, आदर्शवादी विचारक और क्रांति का अग्रदूत था।"** मैजिनी इटली के एकीकरण की प्रमुख शक्ति बन कर सामने आया और उसने इटलीवासियों को यह विश्वास दिलाया कि इटली एक राष्ट्र हो सकता है, इटली एक राष्ट्र है। इटलीवासियों को इसके लिए एक होकर संघर्ष करने की आवश्यकता है।

## (11) उदार राजतंत्रवादी

इटली में कुछ देशभक्त उदारवादी राजतंत्र के माध्यम से इटली को स्वतंत्र करना चाहते थे। वे सार्डीनिया–पीडमान्ट के शासक चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में इटली को विदेशी सत्ता से मुक्त करना चाहते थे। सार्डीनिया का राज्य पहले प्रतिक्रियावादी ही था, किन्तु धीरे–धीरे चार्ल्स एल्बर्ट के समय उसकी नीति में परिवर्तन आ गया। उसने राज्य में अनेक आर्थिक और सैनिक सुधार किये और यह घोषणा की, "जब समय आयेगा, तब मेरा जीवन, मेरा धन, मेरा सर्वस्व इटली की वेदी पर बलिदान किया जायेगा।" इस घोषणा से कई राष्ट्रवादियों को यह विश्वास हो गया कि इटली की स्वाधीनता तथा एकीकरण का सच्चा नेतृत्व पीडमोन्ट का शासक ही करेगा, इस तरह इटली के एकीकरण में उदारवादी भी एक शक्ति बनकर सामने आ रहे थे। उनके अन्दर कम से कम इटली के एकीकरण का जज्बा तो था और वे इसे पूरा करने का प्रयत्न भी कर रहे थे।

## (12) पोप की उदारवादी नीति

पायस नवम के पोप बनने से भी इटली के एकीकरण का एक बल मिला, क्योंकि पोप पायस नवम दयाल और उदार प्रवृत्ति का था। काफी अरसे के बाद एक ऐसा व्यक्ति पोप हुआ

NOTES

था, जो अपने चरित्र और स्वभाव से लोगों को नेतृत्व प्रदान कर सकता था। उसे इटली में परिवर्तन चाहने वालों से सहानुभूति थी। उसकी रियासतों में राजनीतिक बंदी छोड़ दिये गये और प्रशासन में कई तरह के सुधार किये गये। उसके उदारवादी प्रशासन का प्रभाव पोप के राज्यों तथा टस्कनी पर पड़ना प्रारम्भ हो गया। अब हम देखते हैं कि इटली के एकीकरण में धार्मिक तत्व भी एक शक्ति बनकर उभर रहीं थी।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि एकीकरण में अनेक बाधाएँ होते हुए भी कुछ ऐसी स्थितियाँ भी थीं जो उसकी ताकत बनकर सामने आ रहीं थीं और एकीकरण असंभव नहीं रहा। 1815 ई. से 1850 ई. तक इटली का इतिहास घरेलू फूट, विदेशी आधिपत्य एवं विफल संघर्ष का इतिहास सिद्ध हुआ। चाहे राष्ट्रीय आन्दोलन और गणतंत्रीय प्रयत्न विफल हुए, फिर भी इस विफलता में भी सफलता के बीज मौजूद थे, इस संघर्ष के पश्चात् स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व पीडमॉन्ट के राजवंश को प्राप्त हुआ।

**बोध प्रश्न**

1. इटली की भौगोलिक स्थिति का वर्णन कीजिए?

.......................................................................................................

.......................................................................................................

.......................................................................................................

2. इटली के एकीकरण की बाधाएँ लिखिए?

.......................................................................................................

.......................................................................................................

.......................................................................................................

## 2.3 इटली के एकीकरण के सोपान

इटली का वास्तविक और पूर्ण एकीकरण प्रथम विश्व–युद्ध के बाद हुआ। यह एकीकरण कई चरणों में सम्पन्न हुआ। अब तक इटली के एकीकरण में बाधक शक्तियाँ जग–जाहिर हो चुकी थीं। इन शक्तियों के विस्थापन में कई राष्ट्रीय नेता अपने–अपने तरीकों से लगे हुए थे। इटली का कोई एक शत्रु न था। उसे आस्ट्रिया, पोप तथा राजतंत्रों के विरुद्ध लड़ना था। गुप्त समितियों, लेखकों, मैजिनी तथा पिछले विद्रोहों एवं क्रांतियों ने मिलकर इटली के स्वतंत्रता आन्दोलन को अनुप्राणित रखा, परन्तु इटली का यथार्थ में एकीकरण कैसे हो ? इसके लिए कोई निश्चित योजना किसी के पास नहीं थी। यह कार्य विक्टर इमेन्युअल एवं काव़र ने मिलकर किया। इटली के एकीकरण को हम तीन चरणों में बॉटकर अध्ययन कर सकते हैं

- प्रथम चरण – 1861 तक
- द्वितीय चरण – 1871 तक
- तृतीय चरण – 1919 तक

### (1) प्रथम चरण

इटली के एकीकरण का प्रथम चरण विक्टर इमेन्युअल द्वितीय और कैवूर के नेतृत्व में प्रारंभ हुआ तथा 1861 में पूर्ण हुआ। कैवूर का मानना था कि इटली के एकीकरण के लिए आर्थिक उन्नति तथा सैनिक शक्ति की सुदृढता आवश्यक थी। उसका यह भी मानना था कि इटली की स्वतंत्रता बिना विदेशी सहायता के नहीं हो सकती। वह यथार्थवादी तथा शक्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उसने पीडमॉ को राजनीतिक तथा आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने का प्रयास, क्योंकि वह जानता था कि इटली के एकीकरण का नेतृत्व पीडमॉ को ही करना पड़ेगा। उसने पीडमॉ को आर्थिक रूप से मजबूत करने के लिए – कृषि, उद्योग तथा वित्तीय निर्माण का कार्य

प्रारंभ किया। उसने वैज्ञानिक तरीकों तथा यंत्रीकरण को अपनाने पर जोर दिया। प्रधानमंत्री बनते ही उसने बेल्जियम, फ्रांस तथा इंग्लैण्ड से व्यापारिक संधियाँ कीं। उसने अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कानून बनाए। सहकारी समितियों, बैंकों में ऋण सम्बन्धी कानूनों, नागरिक, प्रशासन, व्यापारिक निगमों तथा सेना में बहुत से सुधार किए।



## विक्टर इमेन्युल द्वितीय और एकीकरण का प्रथम चरण

इटली के एकीकरण का वास्तविक प्रारंभ विक्टर इमेन्युअल द्वितीय के द्वारा हुआ। वह एक सच्चा देशभक्त और ईमानदार शासक था। वह यूरोप के राजनीतिक वातावरण से पूर्णतः परिचित तो नहीं था तथापि वह एक समझदार राजनीतिज्ञ था। विक्टर इमेन्युअल द्वितीय को यह विश्वास था कि मध्यमार्गी नीति अपनाकर वह सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण कर सकता है। उसने इस हेतु प्रयत्न भी आरम्भ कर दिये थे। वह अपने गुणों के कारण जनता में लोकप्रिय हो गया। गैरीबाल्डी जैसे गणतंत्रवादी भी उसकी प्रशंसा करते थे। उसके विचारों और नीतियों के कारण इटली के सभी निर्वासित देशभक्त पीडमॉन्ट की ओर आकर्षित होने लगे। विक्टर इमेन्युअल द्वितीय के भाग्य से 1850 ई. में काउन्ट कैवूर जैसा योग्य मंत्री उसे मिला, जिसकी गणना उन्नीसवीं शताब्दी के महानतम राजनीतिज्ञों में की जाती है। कैवूर के नेतृत्व में इटली का एकीकरण प्रारंभ हो गया।

**कैवूर (1810–61 ई.)** – काउन्ट केमिलो–डी–कैवूर का जन्म 1810 ई. में ट्यूरिन के एक कुलीन परिवार में हुआ था। सैनिक शिक्षा प्राप्त कर वह सेना में इंजीनियर के रूप में भर्ती हुआ, किन्तु अपने उदार विचारों के कारण उसे सेना से 1841 ई. में त्यागपत्र देना पड़ा, इस बीच वह कई बार फ्रांस और इंग्लैण्ड भी गया। इंग्लैण्ड में रहकर उसने संसदीय प्रणाली को नजदीक से देखा, उसका विश्वास इस शासन प्रणाली पर अधिक दृढ़ हो गया। 1847 ई. में कैवूर ने **'इल रिसार्जीमन्टो'** नामक समाचार–पत्र का प्रकाशन शुरू किया था, इस पत्र के माध्यम से इटली के एकीकरण की बात कही जाने लगी। 1848 ई. में वह सार्डीनिया–पीडमोन्ट की प्रथम संसद का सदस्य चुना गया। उसकी योग्यता के कारण उसे 1850 ई. में वित्त एवं उद्योग मंत्री बना दिया गया। उसका विश्वास था कि इटली के एकीकरण के लिए आर्थिक उन्नति और सैनिक शक्ति आवश्यक है। उसकी यह भी धारणा थी कि जब तक विदेशी सहायता प्राप्त नहीं होगी, तब तक इटली स्वतंत्र नहीं हो सकता। राजनीति और शक्ति, दोनों का आस्ट्रिया को इटली से निकालने के लिए आवश्यक थे। 1852 ई. में वह प्रधानमंत्री बना। कैवूर के प्रधानमंत्री नियुक्त होते ही इटली के इतिहास में एक नवीन अध्याय आरम्भ होता है। कैवूर भी मैजिनी और गैरीबाल्डी के समान सच्चा देशभक्त था और इटली को स्वतंत्र कर उसका एकीकरण करना चाहता था। वह जानता था कि –

(1) इटली का एकीकरण सार्डीनिया के नेतृत्व में ही सम्भव हो सकता है,

(2) एकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि इटली के राज्यों को आस्ट्रिया से मुक्त कराया जाय,

(3) आस्ट्रिया से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विदेशी सहायता आवश्यक है।

कैवूर के विचार व्यावहारिक और निश्चयात्मक थे। कैवूर उदार राजतंत्र का पोषक था। **''यह कैवूर के महान मस्तिष्क का कार्य था, जिसने मैजिनी की प्रेरणा को एक प्रबल कूटनीतिज्ञ शक्ति के रूप में गतिमान बनाया और गैरीबाल्डी की तलवार का एक राष्ट्रीय अस्त्र के रूप में प्रयोग किया।''** वास्तव में कैवूर के बिना मैजिनी का आदर्शवाद और गैरीबाल्डी की वीरता निरर्थक होती। कैवूर का यह विश्वास था कि यदि सार्डीनिया–पीडमॉन्ट को इटली के एकीकरण का नेतृत्व करना है, तो उसे आर्थिक और सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाना होगा। अतः उसने इस नीति को अपने राज्य में अपनाया।

(vii) कैथोलिक लोग इटली की एकता में बाधक थे, अतः चर्च के अनेक विशेषाधिकार छीन लिये गये।

**(2) सैनिक सुधार –** आर्थिक सुधारों के साथ–साथ उसने सेना की ओर ध्यान दिया। इटली की सैन्य शक्ति को सबल बनाने के लिए उसने निम्न प्रयत्न किए–

(i) जनरल ला–मारमोरा को उसने सेना का अध्यक्ष नियुक्त किया।

(ii) 90 हजार सैनिकों की उसने एक सुसज्जित सेना तैयार की।

(iii) राज्य की सीमा पर दुर्ग बनवाये।

(iv) जल सेना की ओर भी उसने ध्यान दिया।

(v) बढ़े हुए खर्चों के समाधान के लिए उसने करों में वृद्धि की।



## 2.5 कैवूर की विदेश नीति

### क्रीमिया का युद्ध

**'क्रीमिया के कीचड़ में इटली का निर्माण होगा'** कैवूर का यह मानना था। उसने क्रीमिया के युद्ध को इटली के एकीकरण की दिशा में सार्थक अवसर माना। इटली के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होना तथा पीडमॉन्ट के शासक की अध्यक्षता में उसे संगठित करना, कैवूर की विदेश नीति का उद्देश्य था। वह मैजिनी के इस विचार से सहमत नहीं था कि अकेला इटली बिना किसी बाहरी सहायता के आस्ट्रिया को बाहर धकेल देगा। अतः वह किसी यूरोपीय शक्ति की मदद की तलाश में था। बिस्मार्क की भाँति यथार्थवादी राजनीति में विश्वास रखता था, राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर वह किसी भी माध्यम और नीति को अपना सकता था, बशर्ते उससे राज्य का हित हो। उसे युद्ध और सैन्यवाद से परहेज नहीं था। उसे यह भी ज्ञान था कि इंग्लैण्ड और फ्रांस ही उसके सहायक नेपोलियन तृतीय महत्वाकांक्षी, साहसी और राष्ट्रीयता का समर्थक था। फ्रांस की सेना भी यूरोप में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। अतः कैवूर ने नेपोलियन तृतीय की सहायता पाने का प्रयत्न किया।

### क्रीमिया का युद्ध और कैवूर

कैवूर की विदेश नीति का प्रारंभ क्रीमिया के युद्ध से होता है और यहीं से उसकी कूटनीतिक योग्यता का सबूत भी मिलता है। क्रीमिया के युद्ध ने कैवूर को इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ सहयोग करने और उनकी मित्रता से लाभ उठाने का अवसर दे दिया। पूर्वी समस्या के उलझ जाने के कारण काला सागर के तट पर क्रीमिया का युद्ध 1854 ई. में छिड़ गया था, इस युद्ध में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने रूस के विरुद्ध तुर्की की मदद की थी। दूरदर्शी कैवूर ने यहाँ एक अवसर देखा। रूस के विरुद्ध लड़ती हुई, इंग्लैण्ड और फ्रांस की सेनाओं की मदद के लिए कैवूर ने जनवरी, 1854 ई. में सहायता का वचन दिया। अप्रैल, 1854 ई. तक 18,000 इटालियन बहादुर सैनिक क्रीमिया पहुँच गये, जिससे मित्र राष्ट्रों को काफी प्रोत्साहन मिला। यह स्मरण रहे कि उस समय उदारवादियों ने कैवूर की नीति का विरोध किया था क्योंकि उसने अप्रत्यक्ष रूप से निरंकुश तुर्की की मदद की थी परन्तु विक्टर इमेन्युअल ने उसकी नीति का अनुमोदन किया। कैवूर की यद्यपि पूर्वी समस्या में कोई रुचि नहीं थी फिर भी वह युद्ध में शामिल होने लगे और इटली के एकीकरण का प्रश्न यूरोपीय शक्तियों के बीच कूटनीतिक प्रश्न बन जाए। वह यह भी चाहता था कि कम से कम एक बड़ी यूरोपीय शक्ति उसके पक्ष में हो जाए। कैवूर ने यह राजनीतिक जुआ इसलिए खेला था कि उसे फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय की सहानुभूति का विश्वास था। यह भी उल्लेखनीय है कि कैवूर ने इंग्लैण्ड और फ्रांस की रूस के विरुद्ध सहायता करके जो जुआ खेला था, उसमें न कोई शर्त थी, न उसमें कोई गुप्त रहस्य था और न किसी ओर से कोई गारन्टी थी। 1855 में उसने अपनी सेनाएँ इंग्लैण्ड तथा फ्रांस की सहायता के लिए

भेज दीं, उसका मानना था कि क्रीमिया के युद्ध के बाद विजेता राष्ट्र इटली की समस्या पर विचार करेंगे, परन्तु उसे सिर्फ सहानुभूति मिली।

क्रीमिया के युद्ध में इटली के सम्मिलित होने के महत्व के सम्बन्ध में पार्थसारथी गुप्ता लिखते हैं– "कैवूर ने बहुत चेष्टा की कि इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों में से कोई तो पीडमाँ का साथ दे। उसका तो विश्वास था कि क्रीमिया के कीचड़ में इटली का निर्माण होगा और कैवूर को इंग्लैण्ड से सहायता की अधिक आशा थी, किन्तु वामर्स्टन सहानुभूति से अधिक कुछ न दे सका। यह विचार ठीक नहीं है। नेपोलियन तृतीय ने 1859 में जब पीडमाँ की सहायता की तो इंग्लैण्ड ने विरोध नहीं किया। फ्रांस द्वारा सहायता इंग्लैण्ड की मूल नीति 'शक्ति सन्तुलन' के विरुद्ध थी और संयुक्त इटली के निर्माण के भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के लिए भय और दायित्व बढ़ना था। यह क्रीमिया की ही देन थी कि इंग्लैण्ड ने फिर भी फ्रांस द्वारा इटली को सहायता दिए जाने का विरोध नहीं किया। दूसरे, सैनिक विजय ने कस्टोला तथा नोवारा के युद्धों के कलंक को धो दिया तथा इटली को अपनी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए क्रीमिया प्रयोग स्थल के रूप में मिला था। इटली की जनता और राजतंत्र, पीडमाँ की सफलता पर, सार्डीनिया पीडमाँ को अपना नेता मानने लगी। प्रजातंत्रवादी मैजोनी तथा पोप संघवादी जियोबर्ती इत्यादि भी, कैवूर और पीडमाँ को, सच्चे देशभक्त की तरह, हर प्रकार की सहायता देने को तैयार हो गए, इस दृष्टि से इटली में पुनर्जागरण का कार्य चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। अब इटली का एकीकरण रुक नहीं सकता था, क्योंकि सिद्धान्त नीति और नियम के स्थान पर अब बलिदान प्रमुख हो चुका था। तीसरे, पेरिस में विजेता प्रतिनिधियों के साथ कैवूर ने भी पीडमाँ के द्वारा यूरोपीय राजनीति में भाग लेने का अवसर मिला।"

**पेरिस सम्मेलन (मार्च 1856 ई.)** – युद्ध समाप्ति के पश्चात् पेरिस में सम्मेलन हुआ। यद्यपि सार्डीनिया को आमन्त्रित करने का आस्ट्रिया ने विरोध किया किन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस ने उसके विरोध के बावजूद सार्डीनिया को सम्मेलन में आमन्त्रित किया। पेरिस में इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा आस्ट्रिया के प्रतिनिधियों के साथ कैवूर को भी बराबर की स्थिति में भाग लेने का अवसर मिला, इस अवसर पर फ्रांस के विदेश मंत्री बैलेवस्क ने कैवूर से कहा था, **"तुम इतने चतुर हो कि तुमने ऐसे मामले में भी प्रवेश पा लिया, जिसमें तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है।"** उसने सम्मेलन के समक्ष इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया और आस्ट्रिया को उसके लिए दोषी ठहराया। कैवूर ने ही पेरिस के शांति सम्मेलन में यह बात स्पष्ट रूप से बताई कि जिन बातों का प्रभाव इटली पर पड़ता है, उन बातों का सार्डीनिया–पीडमोन्ट पर भी प्रभाव पडे बिना नहीं रह सकता अर्थात् इटली सार्डीनिया दो नहीं, एक ही है।

इस सम्मेलन में कैवूर ने इटली के प्रश्न को यूरोपीय प्रश्न बना दिया। पेरिस सम्मेलन में उसने एक प्रकार से नैतिक विजय प्राप्त की और उसके कारण सार्डीनिया–पीडमोन्ट में ही नहीं, सम्पूर्ण इटली में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, इस प्रकार क्रीमिया का युद्ध कैवूर के लिए एक सुअवसर साबित हुआ, इसीलिए यह कहा जाता है कि **'क्रीमिया के कीचड़ में इटली का जन्म हुआ।'**

## नेपोलियन का सहयोग एवं लोम्बार्डी की प्राप्ति

कैवूर ने भावी स्वतंत्रता संग्राम की रूपरेखा को साकार करने के लिए फ्रांसीसी सहायता को प्राप्त करना अपरिहार्य समझा। कैवूर नेपोलियन से संधि करने का उपयुक्त अवसर देख रहा था, परन्तु इसी बीच आर्सिनी काण्ड हो गया।

**आर्सिनी काण्ड** – 1858 ई. में एक ऐसी घटना हो गई जिससे कैवूर के सारे प्रयासों पर पानी फिरता नजर आने लगा। यह घटना थी नेपोलियन तृतीय की हत्या का प्रयास। मैजिनी के गणतंत्रवादी शिष्य आर्सिनी ने नेपोलियन तृतीय की हत्या का प्रयास किया, तो कैवूर की सारी योजनाओं पर मानो तुषारापात हो गया। यह 1800 ई. की दुर्घटना की पुनरावृत्ति थी और नेपोलियन की भाँति ही नेपोलियन तृतीय भी बाल–बाल बच गया था। कैवूर ने आर्सिनी के कार्य की आलोचना

इस सम्मेलन में कैवूर ने इटली के प्रश्न को यूरोपीय प्रश्न बना दिया। पेरिस सम्मेलन में उसने एक प्रकार से नैतिक विजय प्राप्त की और उसके कारण सार्डीनिया–पीडमोन्ट में ही नहीं, सम्पूर्ण इटली में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, इस प्रकार क्रीमिया का युद्ध कैवूर के लिए एक सुअवसर साबित हुआ, इसीलिए यह कहा जाता है कि **'क्रीमिया के कीचड़ में इटली का जन्म हुआ।'**



## नेपोलियन का सहयोग एवं लोम्बार्डी की प्राप्ति

कैवूर ने भावी स्वतंत्रता संग्राम की रूपरेखा को साकार करने के लिए फ्रांसीसी सहायता को प्राप्त करना अपरिहार्य समझा। कैवूर नेपोलियन से संधि करने का उपयुक्त अवसर देख रहा था, परन्तु इसी बीच आर्सिनी काण्ड हो गया।

**आर्सिनी काण्ड** – 1858 ई. में एक ऐसी घटना हो गई जिससे कैवूर के सारे प्रयासों पर पानी फिरता नजर आने लगा। यह घटना थी नेपोलियन तृतीय की हत्या का प्रयास। मैजिनी के गणतंत्रवादी शिष्य आर्सिनी ने नेपोलियन तृतीय की हत्या का प्रयास किया, तो कैवूर की सारी योजनाओं पर मानो तुषारापात हो गया। यह 1800 ई. की दुर्घटना की पुनरावृत्ति थी और नेपालियन की भाँति ही नेपोलियन तृतीय भी बाल–बाल बच गया था। कैवूर ने आर्सिनी के कार्य की आलोचना की और नेपोलियन की इच्छानुसार समाचार–पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि आर्सिनी द्वारा जेल से लिखे गये एक पत्र का, जिसमें फ्रांस के सम्राट से इटली को स्वतंत्रता दिलाने की प्रार्थना की थी, नेपोलियन तृतीय पर बहुत प्रभाव पड़ा।

**प्लोम्बियर्स का समझौता** – जब सम्राट नेपोलियन तृतीय सार्डीनिया की सीमा के पास छुट्टियाँ व्यतीत करने के लिए ठहरा हुआ था तब कैवूर बिना किसी औपचारिक निमंत्रण के प्लोम्बियर्स जा पहुँचा। कैवूर और नेपोलियन की भेंट के परिणामस्वरूप फ्रांस तथा सार्डीनिया के बीच एक समझौता हुआ, इस समझौते में निम्नलिखित निर्णय लिये गये–

(1) नेपोलियन ने वचन दिया कि आस्ट्रिया को इटली से निकालने के लिए सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध होने पर फ्रांस दो लाख सैनिक पीडमोन्ट के लिए भेजेगा।

(2) आस्ट्रिया को बाहर निकालने के बाद लोम्बार्डी, वेनेशिया और कुछ अन्य भाग सीर्डीनिया के राज्य में सम्मिलित कर दिये जायेंगे, जिससे उसकी सीमा आल्पस से एड्रियाटिक तक पहुँच सके।

(3) नेपोलियन की सहायता के बदले में कैवूर ने सेवाय और नीस के भाग फ्रांस को देने का आश्वासन दिया।

(4) आम्ब्रिया और टस्कनी को मिलाकर इटली में एक नया राज्य बनाने और प्रिंस जेरोम बोनापार्ट को उस राज्य का शासक बनाने का निश्चय हुआ।

(5) नेपल्स और सिसली (दोनों) तथा पोप के राज्यों को पूर्ववत् बनाये रखने का भी निर्णय किया गया।

(6) विक्टर इमैनुअल द्वितीय की पुत्री क्लोटिल्डे का विवाह नेपोलियन तृतीय के भाई जेरोम के साथ किया जायेगा।

इस समझौते में फ्रांस उत्तरी इटली के एकीकरण के लिए मान गया था। उसने यह भी स्वीकार कर लिया कि यदि टस्कनी, पारमा तथा मौडीना इत्यादि के राज्य और पोप का प्रदेश भी मताधिकार द्वारा सयुक्त इटली में शामिल होना चाहें तो फ्रांस विरोध नहीं करेगा, इस समझौते से इटली को चार राज्यों में विभाजित करने और उसका एक संघ बनाने की योजना बनी। कैवूर यह कभी नहीं चाहता था परन्तु आस्ट्रिया के विरुद्ध फ्रांस की सहायता को आवश्यक समझता था इसलिए उसने इस समझौते को स्वीकार किया।

इस समझौते के द्वारा इटली को चार राज्यों में विभाजित करने और उनका एक संघ बनाने की योजना बनायी थी। यद्यपि कैवूर को यह बात स्वीकार नहीं थी तथापि उसने इस

स्वीकार कर लिया, क्योंकि वह पूर्व परिस्थितियों से शिक्षा ले चुका था। 1848–49 ई. की घटनाएँ उसके सम्मुख थीं। कैवूर को 1856 ई. के पेरिस सम्मेलन में यह स्पष्ट हो गया था कि आस्ट्रिया बिना युद्ध के इटली पर अपना अधिकार नहीं छोड़ेगा, इसलिए इटली के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करना अनिवार्य था और इस सहायता के लिए कोई भी कीमत ज्यादा नहीं थी। वैसे तो कैवूर इंग्लैण्ड की सहायता चाहता था। इंग्लैण्ड इटली के एकीकरण का परिणाम समझता था– विजयी नेपोलियन तृतीय, परास्त आस्ट्रिया तथा शक्तिशाली संयुक्त इटली। ऐसी स्थिति में कैवूर के लिए यह संतोष की बात हो सकती थी कि वह इंग्लैण्ड को तटस्थ रख सके और इसमें वह सफल हुआ।

पेरिस सम्मेलन के साथ कैवूर ने इटली की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति नेपोलियन की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। नेपोलियन कई कारणों से राष्ट्रीय आंदोलन में सहायक होना चाहता था। वह पहले कार्बोनरी संस्था का सदस्य रह चुका था। उसने इटली के स्वतंत्रता के संघर्ष में भाग लिया था। उसका यह समीकरण भी था कि सार्डीनिया की सहायता करके वह इटली में आस्ट्रिया के प्रभुत्व को नष्ट कर सकेगा और 1815 ई. में उसके वंश एवं फ्रांस का अपमान करने वाले शत्रु से प्रतिशोध भी ले सकेगा। उसे नीस और सेवाय के प्रवेश के प्रदेश प्राप्त करने का भी वचन समझौते से मिल चुका था। संक्षेप में, नेपोलियन की इटली सम्बन्धी नीति का उद्देश्य फ्रांस का गौरव बढ़ाना था।

## आस्ट्रिया–सार्डीनिया युद्ध

उपर्युक्त समझौते के बाद कैवूर ने युद्ध की तैयारी प्रारंभ कर दी। कैवूर को इस युद्ध के प्रारंभ में इतना करना था कि आक्रमण करने का दायित्व आस्ट्रिया पर आये। उसने आस्ट्रिया को भड़काना प्रारंभ कर दिया। कैवूर ने प्लोम्बियर्स से लौटते ही युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। पीडमोन्ट के समाचार–पत्रों में आस्ट्रिया की कटु आलोचना की जाने लगी। कैवूर अपने कार्यों से आस्ट्रिया को आक्रमण करने के लिए उकसाना चाहता था। कैवूर ने इटली में स्थित आस्ट्रिया के मरस और फर्रारा में विद्रोह करवा दिया, जिससे स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यम्भावी है। अतः ब्रिटेन ने फ्रांस के सहयोग से समस्या के समाधान का रास्ता खोजने की कोशिश की। अंत में सार्डीनिया सैन्य–वियोजन के लिए राजी हो गया, किन्तु आस्ट्रिया इस समय मूर्खता के साथ आगे बढ़ा और उसने उत्तेजित होकर सार्डीनिया को 23 अप्रैल, 1859 ई. को एक अल्टीमेटम भेजा कि तीन दिन के भीतर वह सैन्य–वियोजन कर दे अन्यथा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जायेगा। कैवूर ने यूरोपीय शक्तियों का रुख देखते हुए तथा आस्ट्रिया के स्वाभिमान को चुनौती देते हुए अपनी सेनायें पीछे हटाने का हुक्म दे दिया। आस्ट्रिया ने इसे उचित अवसर समझकर युद्ध प्रारंभ कर दिया।

इससे कैवूर की सोई हुई आशाएँ जाग उठीं। कैवूर प्रसन्नता से चिल्ला उठा, **"पासा उलट गया है और हम इतिहास बनाने जा रहे हैं।"** अप्रैल में आस्ट्रिया की सेना ने सार्डीनिया की सीमा में प्रवेश किया और युद्ध आरम्भ हो गया, इस युद्ध में विक्टर इमेन्युअल ने स्वयं अपनी सेना की कमान सम्भाली। आस्ट्रिया के आक्रामक होने की वजह से नेपोलियन का संकोच भी समाप्त हो गया और 3 मई को फ्रांस ने भी सार्डीनिया के पक्ष में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

## आस्ट्रिया से युद्ध

29 अप्रैल, 1859 को युद्ध प्रारभ हो गया। आस्ट्रिया ने सार्डीनिया को तीन दिन का अल्टीमेटम देकर कहा कि वह निरस्त्रीकरण कर दे। कैवूर ने उसकी माँग को अस्वीकार कर दिया। 29

अप्रैल को आस्ट्रिया की सेनाओं ने सार्डीनिया की सीमा में प्रवेश किया और इस तरह युद्ध प्रारंभ हो गया। तीन मई को नेपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस और सार्डीनिया की संयुक्त सेनाओं ने 20 मई, 30 मई, 4 जून को क्रमशः मांटेबेलो, पोलेस्ट्रो और मेगेन्टा में आस्ट्रिया को हराया। कुछ ही दिनों बाद मिलान पर अधिकार हो गया। 24 जून को इस संयुक्त दल ने सॉलफरीनो की शानदार विजय प्राप्त की, इस हार के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया को लोम्बार्डी का प्रदेश छोड़ना पड़ा और आस्ट्रिया के सैनिकों को वेनेशिया के चार प्रसिद्ध किलों मैन्शुआ, पेस्चीरा, वेरोना और लेग्नोना में शरण लेनी पड़ी। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वेनेशिया पर भी सार्डीनिया का अधिकार हो जायेगा।

लगभग छः सप्ताह के युद्ध के बाद ही कैवूर तथा नेपोलियन की संयुक्त सेनाओं ने मेजन्टा तथा सोलफेरिनों के युद्ध जीतकर लोम्बार्डी पर अधिकार कर लिया। कुछ समय बाद फ्रांस तथा पीडमान्ट की सेनाओं ने मिलान पर अधिकार कर लिया। आस्ट्रिया की पराजय हुई, परन्तु बीच में ही नेपोलियन ने युद्ध बन्द करने की घोषणा करके इटली से आस्ट्रिया के सफाये को पूर्ण नहीं होने दिया।

फ्रांस के युद्ध से अलग होने के क्या कारण थे –

(1) फ्रांस को इस युद्ध में काफी हानि उठानी पड़ी थी और यदि युद्ध अधिक समय तक चलता, तो और अधिक हानि की सम्भावना थी।

(2) नेपोलियन ने महसूस किया कि फ्रांस की दक्षिणी–पूर्वी सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना फ्रांस के लिए एक खतरा साबित हो सकता है।

(3) फ्रांस के रोमन कैथोलिक लोग युद्ध जारी रखने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि सार्डीनिया के विजय अभियान से पोप की स्थिति खतरे में पड़ सकती थी।

(4) नेपोलियन इस बात से भिज्ञ था कि पराजय के बावजूद आस्ट्रिया की सैनिक शक्ति अब भी कमजोर नहीं हुई थी। साथ ही प्रशा आस्ट्रिया के पक्ष युद्ध लड़ने को तैयार कर रहा था। उसने सेनाओं को सीमाओं पर भेजना प्रारम्भ कर दिया था। नेपोलियन दोनों की संयुक्त सेना का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था।

## विलाफ्रेंका की विराम संधि (11 जुलाई, 1859 ई.)

11 जुलाई, 1859 को फ्रांस और आस्ट्रिया में एक संधि हो गई, इस संधि के अनुसार आस्ट्रिया ने लोम्बार्डी का प्रान्त मान्दुआ और पेश्चीरा को छोड़कर फ्रांस को दे दिया तथा फ्रांस ने उसे सार्डीनिया को दे दिया। वेनेशिया का प्रान्त आस्ट्रिया के अधिकार में रहा। मध्य इटली के राज्यों पार्मा, मोडेना, टस्कनी में वहाँ के शासकों को पुनः स्थापित करने का फैसला किया, इस संधि से कैवूर बहुत हताश हुआ तथा उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया, इस संधि की शर्तें निम्नलिखित थी–

1. लोम्बार्डी सार्डीनिया को दे दिया जाये परंतु वेनेशिया आस्ट्रिया के पास ही बना रहेगा।
2. मध्य इटली के राज्य परमा, मोडेना और टस्कनी में वहाँ के शासकों को पुनः स्थापित करने का निर्णय लिया गया।
3. पोप के अधिकार में इटली, एक संघ बनाया जायेगा और वेनेशिया उक्त इटालियन संघ का एक भाग होगा।

इस संधि के बाद **लिप्सन** ने टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है, **"इस देश ने विजयोल्लास का प्याला अपने होठों से लगाया ही था कि वह गिरकर चकनाचूर हो गया।"** इस संधि से वेनेशिया में आस्ट्रिया का अधिकार बना रहा, जो इटली के लिए घातक था। आहत कैवूर ने सम्राट विक्टर इमेन्युअल को यह सलाह दी कि वह इस संधि को न माने

और अकेला ही युद्ध करे, किन्तु विक्टर इमेन्युअल ने आवेश में आकर कोई निर्णय नहीं लिया, इससे कैवूर ने त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि पीडमॉन्ट की आशायें पूरी नहीं हुयीं तथापि उसे लाभ अवश्य मिला था कि जब यूरोपीय शक्तियों ने लोम्बार्डी पर इटली का अधिकार मान लिया है, तो वेनेशिया पर भी इटली का नैतिक अधिकार एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है।

NOTES

**ज्यूरिख की संधि** – विक्टर इमेन्युअल ने आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ मिलकर 10 नवम्बर, 1859 को ज्यूरिख की संधि पर हस्ताक्षर किये। ज्यूरिख की संधि द्वारा विलाफ्रेंका की विराम संधि की पुष्टि की गयी, इससे लोम्बार्डी पर पीडमॉन्ट का विधिवत अधिकार स्थापित हो गया और इसी के साथ इटली के एकीकरण का प्रथम चरण पूरा हुआ।

## एकीकरण का प्रथम चरण पूर्ण

आस्ट्रिया–सार्डीनिया युद्ध के समय सारा इटली राष्ट्रीयता की भावना से ओत–प्रोत था, इसी दौरान मध्य इटली की जनता ने भी अपने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और परमा, मोडेना और टस्कनी के शासकों को हटा दिया। इन विद्रोहों के लिए नेशनल सोसायटी पहले ही भूमिका तैयार कर चुकी थी। जनता ने बोलोग्ना और रोमाग्ना से पोप के प्रतिनिधियों को निकाल दिया और इन स्थानों पर अस्थायी सरकारों का गठन कर लिया। यहाँ के देशभक्तों ने एक विशाल सेना भी गठित कर ली थी। इन प्रदेशों ने प्रस्ताव पास कर यह निर्णय लिया कि उनके राज्य सार्डीनिया में मिला दिये जायें। सार्डीनिया की मध्य डचियों के इस आन्दोलन के प्रति सहानुभूति थी। इंग्लैण्ड की उदारवादी सरकार की भी इटली की आकांक्षाओं के साथ अधिकार है। आस्ट्रिया और प्रशा चाहते थे कि ज्यूरिख की संधि के अनुसार मध्य इटली में पुराने शासकों को गद्दी पर बिठाया जाये। अतः अब सारी स्थिति फ्रांस के दृष्टिकोण पर निर्भर थी।

1860 में कैवूर को पुनः प्रधानमंत्री बनाया गया। कैवूर ने इस स्थिति का फायदा उठाकर, मध्य इटली के एकीकरण को पूर्ण करने का निश्चय किया। नेपोलियन ने टस्कनी को मिलाए बिना नीस और सेवाय की माँग की जिसे कैवूर ने स्वीकार कर लिया, इससे नेपोलियन की पूरी प्रतिष्ठा समाप्त हो गई। मार्च 1860 में मध्य ने एकमत होकर, जनमत द्वारा पीडमाँ के साथ सयुक्तिकरण घोषित कर दिया, इस तरह यूरोप के क्षेत्र में उत्तरी इटली ने जन्म ले लिया था, इसमें केवल वेनेशिया और कुछ उत्तर पूर्वी नगर नहीं मिले तथा मार्शस और अंब्रिया के पोप के प्रदेश अभी नहीं मिले थ। मध्य इटली में पोप का राज्य तथा दक्षिण इटली भी अभी संयुक्त इटली में नहीं मिले। 1860 के अंत में अंब्रिया तथा मार्शस को तो गैरीबाल्डी ने जनमत द्वारा उत्तरी इटली में मिला लिया।

## नेपल्स और सिसली का विलय

विलाफ्रेंका के विश्वासघात के बाद कैवूर ने कहा था, "**यूरोपीय शक्तियों ने मुझे कूटनीति के द्वारा उत्तर की ओर एकीकरण नहीं करने दिया। अब मुझे क्रांति का सहारा लेकर दक्षिण की ओर से इटली का एकीकरण करना होगा।**" यह कैवूर की नीति में परिस्थितिजन्य परिवर्तन का द्योतक था।

नेपल्स और सिसली के पिछले 40 वर्षो का इतिहास अत्याचारपूर्ण निरंकुशता का इतिहास था। मई, 1859 ई. में नेपल्स और सिसली के शासक फर्डीनेण्ड द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर फ्रांसिसी द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह एक अयोग्य, अनुभवहीन और निर्बल शासक था। फ्रांसिस द्वितीय ने कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया किन्तु उससे जनता का असंतोष कम नहीं हुआ। 1859 ई. में सार्डीनिया और आस्ट्रिया के युद्ध और केन्द्रीय इटली में जो विद्रोह हुए, उन सबका प्रभाव नेपल्स और सिसली पर भी पड़ा, इसके अतिरिक्त वहाँ शासक के विदेशी होने के कारण भी भारी असंतोष था। सिसली में नेशनल सोसायटी का प्रचार कार्य तेजी से चल रहा था। मैजिनी ने भी विद्रोह को प्रोत्साहन दिया और उसके एक समर्थक फ्रासिस्को क्रिस्पी ने विद्रोह की योजना तैयार की किन्तु नेपल्स और सिसली के विद्रोह को सफल बनाने का श्रेय गैरीबाल्डी को जाता है और 1861 में नेपल्स तथा सिसली भी संयुक्त इटली का भाग बन गए।

7 नवम्बर, 1860 को विक्टर एमेनुअल ने गैरीबाल्डी के साथ नेपल्स में प्रवेश किया। फरवरी, 1861 में ट्यूरिन में इटली की प्रथम संसद की बैठक हुई जिसमें वेनेशिया और रोम को छोड़कर सम्पूर्ण इटली के प्रतिनिधि थे। 6 जून, 1861 को कैवूर की मृत्यु हो गयी।

## (2) द्वितीय चरण

1861 के प्रथम चरण पूर्ण होने पर वेनेशिया तथा रोम संयुक्त इटली के बाहर थे। अब रोम और वेनेशिया को छोड़कर इटली का एकीकरण लगभग पूर्ण हो चुका था। रोम और वेनेशिया का भाग्य अब भी अन्तरराष्ट्रीय स्थिति के साथ जुड़ा था। इटली का शेष एकीकरण प्रशा के कारण हुआ। कैवूर के बाद विक्टर इमेन्युअल ने इनको इटली के अधीन लाने में जल्दबाजी नहीं की। उसने उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा की। इटली की राजनीतिक अस्थिरता और शोचनीय आर्थिक स्थिति के कारण विक्टर इमेन्युअल इटली के लिए कुछ समय तक कोई कदम न उठा सका।

### वेनेशिया की प्राप्ति

इटली को वेनेशिया प्राप्ति का अवसर 1866 ई. में मिला। प्रशा का चांसलर बिस्मार्क आस्ट्रिया के विरुद्ध भावी युद्ध की तैयारी कर रहा था क्योंकि आस्ट्रिया इटली के एकीकरण के समान जर्मनी के एकीकरण में भी बाधक था। बिस्मार्क आस्ट्रिया के विरुद्ध इटली का सहयोग प्राप्त करना चाहता था। 1866 में आस्ट्रिया तथा प्रशा के बीच युद्ध हुआ। 8 अप्रैल, 1866 को प्रशा तथा इटली के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार प्रशा युद्ध में इटली की सहायता मिलने पर वेनेशिया इटली को दे देगा। 14 जून, 1866 को प्रशा ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, इसके साथ इटली ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। विक्टर इमेन्युअल ने दूरदर्शिता दिखायी और जब आस्ट्रिया ने उत्तर से प्रशा पर हमला किया, तो दक्षिण से उसकी सेना ने 20 जून को वेनेशिया पर हमला कर दिया। फलतः आस्ट्रिया की सेनाएँ बँट गयीं। इटली ने युद्ध में बड़े उत्साह से भाग लिया था, किन्तु उसे आस्ट्रिया से कई स्थानों पर हारना पड़ा। प्रशा ने सेडोवा में आस्ट्रिया को पराजित कर दिया, इसके विपरीत 3 जुलाई, 1866 ई. को प्रशा ने सेडोवा के युद्ध में आस्ट्रिया को निर्णायक पराजय देने में सफलता प्राप्त की। बिस्मार्क ने प्राग की संधि द्वारा वेनेशिया इटली को दिलवा दिया। जनमत संग्रह के द्वारा वेनेशिया का इटली में विलय सम्पन्न हुआ।

### रोम की प्राप्ति

रोम को छोड़कर सम्पूर्ण इटली का एकीकरण 1866 ई. में पूर्ण हो चुका था। रोम के बिना इटली की स्थिति उसी प्रकार थी, जैसे हृदय के बिना शरीर। रोम पोप के अधीन था और रोम में फ्रांसीसी सेनाएँ पोप की रक्षा के लिये मौजूद थीं। गैरीबाल्डी ने 1867 ई. में रोम को लेने का असफल प्रयास किया था। इटली के राजनीतिज्ञ जानते थे कि फ्रांस के सहयोग के बिना उस पर अधिकार करना कठिन था।

रोम की प्राप्ति का कार्य तब पूर्ण हुआ, जब 1870 में प्रशा तथा फ्रांस के बीच युद्ध हुआ, इसमें फ्रांस को रोम से सेनाएँ वापस बुलानी पड़ीं। सीडान में फ्रांस की पराजय की सूचना मिलते ही सेनापति केडोर्ना ने नेतृत्व में रोम पर आक्रमण कर दिया गया, इस युद्ध में नेपोलियन तृतीय को प्रशा के विरुद्ध अपनी पूरी ताकत लगानी पड़ी। अतः उसने रोम से भी अपनी सेना बुला ली। फ्रांस को प्रशा से उलझा हुआ देखकर विक्टर इमेन्युअल ने रोम पर आक्रमण कर दिया। 20 सितम्बर, 1870 को रोम पर इटली का अधिकार हो गया। रोमवासियों ने जनमत संग्रह में इटली में शामिल होना स्वीकार कर लिया। जनमत संग्रह में 40,000 से अधिक मत विक्टर इमेन्युअल के पक्ष में पड़े, जबकि पोप के पक्ष में केवल 46 मत पड़े। परिणामस्वरूप रोम इटली में शामिल कर लिया गया और उसे संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। 2 जून, 1871 ई. को सम्राट ने इटली की इस राजधानी में प्रवेश किया। 12 जून, 1871 ई. को रोम में संसद का उद्घाटन करते हुए विक्टर इमेन्युअल ने कहा– "जिस कार्य के लिए हमने अपना जीवन भेंट चढ़ाया था, वह आज पूरा हो गया है। हमारी राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गयी है।

**अब हमें अपने देश को सुखी एवं सम्पन्न बनाना है। हम रोम में हैं रोम में ही रहेंगे।''** रोम की प्राप्ति के साथ ही इटली एक **''भौगोलिक अभिव्यक्ति''** मात्र नहीं रहा अपितु एक स्वतंत्र सम्प्रभु राष्ट्र बन गया।

### (3) तृतीय चरण

NOTES

इटली के कुछ उत्तर पूर्वी नगर जैसे, टाइशेल, ट्रीस्ट, यूम 1919 में प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही संयुक्त इटली में मिले, इस तरह इटली का एकीकरण पूर्ण हुआ।

### बोध प्रश्न

1. कैवूर की गृह नीति का वर्णन कीजिए?

.................................................................................................................

.................................................................................................................

.................................................................................................................

2. कैवूर की विदेश नीति का वर्णन कीजिए?

.................................................................................................................

.................................................................................................................

.................................................................................................................

## 2.6 एकीकरण के नायक

इटली के एकीकरण आन्दोलन में तीन प्रमुख नेताओं का योगदान महत्वपूर्ण है। इन तीन नेताओं की भूमिका का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

- मैजोनी
- कैवूर
- गैरीबाल्डी

### (1) इटली के एकीकरण में मैजोनी की भूमिका

इटली के एकीकरण का प्रारभ बिन्दु मैंजोनी था उसका जन्म 1805 मे जेनोआ में हुआ था। जैनोआ के गणतन्त्रात्मक स्वरूप तथा इटली के राष्ट्रवादी आन्दोलन ने मैंजोनी को बचपन से ही प्रभावित कर लिया या 1820–21 में आस्ट्रिया की सरकार ने कार्बोनारी संस्थाओं पर जो अत्याचार किये थे। उसने मैंजोनी को अन्दर से झकझोर कर रख दिया था। 1820 में वह कार्बोनारी का सदस्य बना तथा 1831 में **'यंग इटली'** नामक संस्था की स्थापना की जिसने इटली के पुनर्जागरण आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1848 की क्रांति बहुत हद तक इसी संस्था के कार्यो का परिणाम थी। इटली में जन्मा फ्रांसीसी क्रांतिकारी बुओनारोटी भी **'यंग इटली'** की ओर आकर्षित हुआ था। मैंजोनी प्रजातंत्र का सबसे बडा समर्थक था।

मैंजोनी का सर्वप्रथम कार्य था गुप्त संस्थाओं के द्वारा आंदोलन को चलाना। मैंजोनी का महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने इटली के लोगों में क्रांतिकारी आंदोलनों एवं परिवर्तनवादी आंदोलनों के बार–बार दमन के बावजूद–क्रांतिकारी भावनाओं एवं परिवर्तन की इच्छा को दबने नही दिया अपितु उसे बढाया भी जैसा कि पीडमॉं में 1821 से 1831 के बीच क्रांतिकारी आंदोलनों के दमन के बावजूद क्रांति की भावनाएँ दबने नहीं दी गई इसका श्रेय मैंजोनी को तथा अन्य लेखकों को था।

1830 में इटली के माडीना मे फ्रांसिस चतुर्थ को उसकी राजधानी से निकाल दिया गया तथा मेरी लुईसी को भी निकाल दिया गया परमा से। रोम के पूर्व में भी क्रांतिकारियों ने अंतरिम सरकार स्थापित कर ली थी, इस तरह 1830 में कई क्रांतिकारी घटनायें हुई जिन्हें बुरी तरह विफल होना पडा। मैंजोनी का **'कार्बोनारी'** की गतिविधियों मे भाग लेने के कारण जेल भेज

दिया गया परन्तु वह वहाँ से भाग निकला और फ्रांस के एक शहर में जाकर रहने लगा, वहाँ उसने 'यंग इटली' नामक संस्था की स्थापना तथा 1833 तक इस संस्था की सदस्य संख्या 60,000 तक पहुँच गई थी। **'यंग इटली'** की स्थानीय समितियाँ इटली के हर शहर में स्थापित हो चुकी थीं, इसके बाद ही इटली में पुनर्जागरण आंदोलन ने प्रगति की तथा यह आंदोलन संपूर्ण यूरोप में फैला और मैजोनी ने इसी उद्देश्य से 1834 में यंग यूरोप संस्था की स्थापना की। 1830 में मैजोनी इटली में असफल रहा परंतु उसके विचारों, सिद्धान्तों तथा नीतियों का स्वागत–बेल्जियम, यूनान तथा पुर्तगाल में किया गया। मैजोनी ने **'यंग इटली'** की स्थापना का उद्देश्य प्रतिपादित किया था– केवल राष्ट्रीय एकीकरण तथा स्वतंत्रता इससे कम कुछ नहीं। जबकि अन्य संस्थायें जैसे कार्बोनरी तथा फेदराती अधूरी स्वाधीनता के प्रस्ताव से भी समझौता करने को तैयार थीं।

मैंजोनी इटली के एकीकरण के लिए जनक्रांति का समर्थक था। उसका मानना था कि जनक्रांति के बिना स्वतंत्रता का हर प्रयास असफल रहेगा। मैंजोनी का यह मानना तर्कसंगत नहीं था क्योंकि विदेशी युद्ध लड़े बिना एकीकरण संभव नहीं था और विदेशी युद्ध के लिए सैनिक नेतृत्व आवश्यक था जो केवल पीडमाँ का शासक दे सकता था। 1848 का वर्ष मैजोनी के सिद्धान्तों का समर्थन था, इसी वर्ष में जियोबर्ती के साथ मैंजोनी भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध का समर्थन कर रहा था।

सन् 1848 ई. में इटली में तीन प्रकार के आंदोलन हुए– (1) दक्षिण इटली में मैजोनी के नेतृत्व में प्रजातंत्रात्मक आंदोलन, (2) उत्तर में पीडमाँ तथा टस्कनी में संघवाद के सिद्धान्तों पर प्रजातंत्रात्मक आंदोलन, (3) पोप के नेतृत्व में इटली में उदारवादी धार्मिक संघ का आंदोलन था।

1848 ई. में पालरमों के विद्रोह का श्रेय मैंजोनी को ही था, इसके परिणामस्वरूप फर्डीनेंड को 1812 का संविधान प्रदान करना पड़ा। यह वह समय था जब इटली का नागरिक सिसली में पूर्ण स्वायत्तता की माँग कर रहा था। यह माँग केवल सिसली तक सीमित थी ऐसा नहीं था बल्कि पीडमाँ, टस्कनी तथा रोम में भी यह माँग प्रबल थी।

1848 में जो क्रांतियाँ हुई वे सफल रहीं। अल्प समय के लिए पीडमाँ, लोम्बार्डी तथा वेनिस का एकीकरण हो सका, इस प्रकार 1848 में मिलान की घटनाओं तथा पालरमों विद्रोह ने मैजोनी की लोकप्रिय क्रांति के सिद्धान्त को सार्थक बना दिया। यह वह समय था जब मैजोनी भी अपने प्रजातंत्र के सिद्धान्त को विस्मृत करके पीडमाँ के शासक को अपना पूर्ण सहयोग देने के लिए तैयार था। गैरीबाल्डी ने तो चार्ल्स को युद्ध की संयुक्त योजना और सहायता देने का भी प्रस्ताव रखा था जिसे चार्ल्स ने ठुकरा दिया था।

जब इटली की क्रांति को पीडमाँ और पोप का नेतृत्व नहीं मिला तो क्रांति के संचालन का भार रोम में मैंजोनी पर तथा वेनिस में डेनियल मनीन के कंधों पर आ पड़ा। मैजोनी तथा मनीन फ्लोरेंस, रोम, ट्यूरिन और वेनिस में गणतंत्र स्थापित करने के पश्चात भी टस्कनी, पोप तथा पीडमॉ का सहयोग न पा सके और इस तरह इटली के एकीकरण का यह प्रयास असफल रहा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में मैंजोनी का प्रयास असफल रहा, परन्तु उसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उसने इटली की जनता में राष्ट्रवादी भावनाओं को जन्म दिया। क्रांति और युद्ध के माध्यम से ही एकीकरण हो सकता है, इस भावना को सशक्त बनाया। उसकी असफलता ने इटली के नागरिकों की यह धारणा बना दी कि पीडमॉ के नेतृत्व में ही सैनिक कार्यवाही द्वारा इटली का एकीकरण हो सकता है जिससे कैवूर का मार्ग प्रशस्त हुआ। 1848 के बाद का नेतृत्व कैवूर के हाथों में आ गया। मैजोनी ने एकीकरण की भूमिका तैयार कर दी थी, इसी नींव पर इटली के एकीकरण के महल की प्रथम मंजिल कैवूर द्वारा बनायी गई।

## (2) इटली के एकीकरण में कैवूर की भूमिका

**काउंट कैविलो ड कैवूर** का जन्म 1819 में हुआ था। वह यथार्थवादी व्यक्ति था। उसका मानना था कि इटली के एकीकरण के लिए आर्थिक उन्नति तथा सैनिक शक्ति दोनों ही अनिवार्य

थे। वह यह भी मानता था कि जब तक इटली को विदेशी सहायता न मिलेगी तब तक इटली का एकीकरण तथा विदेशी प्रभाव से मुक्ति संभव नहीं। 1848–49 के प्रजातंत्रात्मक आंदोलनों की असफलता ने सैनिक शक्ति के महत्व को स्पष्ट कर दिया था और इसलिए कैवूर शक्ति का सिद्धान्त का समर्थक था।

NOTES

कैवूर 1850 में कृषि व्यापार तथा नौ–शक्ति में मंत्री बना था। उसने पीडमाँ के विकास के लिए कई प्रयास किये। 1848 से 1861 तक के इतिहास में इटली का सबसे महान राजनीतिज्ञ कैवूर था। इटली के एकीकरण का प्रथम चरण 1861 में पूर्ण हुआ जिसका नेतृत्व कैवूर ने किया। वह यह बात बहुत अच्छी तरह से जानता था कि इटली के एकीकरण का नेतृत्व पीडमाँ को ही करना था इसीलिए उसने पीडमाँ को आर्थिक तथा सैनिक शक्ति से मजबूत बनाने का प्रयास किया, इसके दो कारण थे– (1) पीडमाँ को युद्ध सहायता देनी होगी, क्योंकि बिना आस्ट्रिया से युद्ध लड़े, इटली कभी मुक्त तथा एकीकृत नहीं हो सकता था, (2) पीडमाँ के आर्थिक रूप से सम्पन्न होने पर ही वह प्रजातंत्र के विरुद्ध लड़ पायेगा, इसके साथ ही वह इटली के अन्य राज्यों के समक्ष उदाहरण बनकर यह प्रमाणित कर सकेगा कि एकीकरण के लिए राजतंत्र उस समय सबसे सही तरीका है।

कैवूर की गृहनीति उदारवाद पर और विदेश नीति युद्ध तथा सैन्यशक्ति पर अधिक आधारित थी। वह राज्य के लिए किसी भी माध्यम को अपना सकता था। वह बहुत समझदार कूटनीतिज्ञ था। मौके का फायदा उठाना तथा विदेशी सहायता पाने के लिए क्या नीति अपनायी जाये यह वह अच्छी तरह से समझता था। उसने क्रीमिया के युद्ध का अध्ययन बहुत ध्यान से किया और 1855 में कैवूर ने अपनी सेनायें इंग्लैण्ड तथा फ्रांस की सहायता के लिए भेजीं। उसका मानना था कि युद्ध के बाद विजेता राष्ट्र इटली की समस्या पर उदारतापूर्वक विचार करेंगे। उसका मानना था कि क्रीमिया की कीचड़ से एकीकृत इटली का जन्म होगा। कैवूर को इंग्लैण्ड से सहायता की आशा थी। नेपोलियन तृतीय ने 1859 में जब पीडमाँ की सहायता इंग्लैण्ड की मूल नीति ''शक्ति संतुलन'' के विरुद्ध थी और संयुक्त इटली के निर्माण से भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के लिए भय और दायित्व बढ़ाना था। यह क्रीमिया की ही देन थी कि इंग्लैण्ड ने फिर भी फ्रांस द्वारा इटली को सहायता दिए जाने का विरोध नहीं किया।

क्रीमिया युद्ध में कैवूर को इटली की सैन्य शक्ति के प्रदर्शन का अवसर मिला। क्रीमिया में शक्ति प्रदर्शन से इटली की जनता और राजतंत्र पीडमाँ की सफलता पर उसे अपना नेता मानने लगी, इसी सफलता की वजह से मैजोनी तथा पोप संघवादी जियोबर्ती आदि भी कैवूर और पीडमाँ का सच्चा देशभक्त और नेता मानने लगे थे।

कैवूर की सफलता और उपलब्धियों से इटली में पुनर्जागरण का कार्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया, क्योंकि अब इटली में जनता बलिदान के लिए तैयार थी। सिद्धान्त और नीति गौण हो गए थे। सही नेतृत्व कैवूर के नेतृत्व में पीडमाँ दे रहा था तथा पेरिस में विजेता नेताओं के तरफ से कैवूर ने पीडमाँ का प्रतिनिधित्व किया। यह सम्मान इटली के निवासियों के लिए बड़ी चीज थी और इटली को यूरोप की राजनीति में भाग लेने का अवसर मिला जिससे भविष्य में बहुत लाभ हुआ। अब इटली का एकीकरण रुक नहीं सकता था।

रूस क्रीमिया के युद्ध के परिणामों से नाराज था। ऐसी परिस्थितियों में यदि कैवूर ने इंग्लैण्ड को तटस्थ रहने पर भी तैयार कर लिया तो यह उसकी बडी कूटनीतिक विजय थी। वह फ्रांस से सहायता की अपेक्षा करता था और वह अपने उद्देश्य में सफल भी रहा।

विलाफ्रंका की संधि से कैवूर इतना निराश तथा हताश हुआ कि उसने त्यागपत्र दे दिया। 1859 में पारमा, मौडीना तथा रोमागना और टस्कनी के संसदीय सदनों की बैठकें हुई और इन चारों ने एक संयुक्त सेना बनाकर स्वतन्त्रता का प्रण लिया। दिसम्बर 1859 में नेपोलियन ने पारमा, मौड़ीना आदि का पीडमाँ के साथ एकीकरण स्वीकार कर लिया। 1860 में कैवूर को पुनः प्रधानमंत्री बना दिया गया। कैवूर ने नई परिस्थितियों को देखते हुए मध्य इटली के एकीकरण को पूर्ण

से सहयोग करता रहा, इस समय में उसने छापामार युद्ध का अच्छा प्रशिक्षण प्राप्त किया, जो आगे चलकर इटली के एकीकरण के युद्धों में सहायक हुआ।

1848 में इटली की क्रांति की सूचना मिलते ही वह वापस लौट आया। 1849 में इटली असफल रहा परन्तु गैरीबाल्डी जहाँ–जहाँ लड़ा सफल रहा। उसने चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध रोम की रक्षा का अंत तक प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल न हो सका और किसी प्रकार बचकर टस्कनी पहुँचा। टस्कनी से वह पीडमोन्ट आया और वहाँ से पुनः देश छोड़कर जाने की तैयारी करने लगा, इस समय उसने अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा था– **"मैं तुमको न तो वेतन देता हूँ, न भोजन देता हूँ और न निवास के लिए मकान। मैं तुम्हें भूख, प्यास, जबरन आगे बढ़ना ही दे सकता हूँ। अतः जो केवल मुख से सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले हैं, वे नहीं वरन् सच्चे ह्रदय से देश को प्यार करने वाले ही मेरा अनुगमन करें।"** अमेरिका में वह छह वर्ष रहा और वहाँ काफी धन कमाकर 1854 ई. में पुनः इटली लौट आया।

1856 ई. में उसका कैवूर से प्रथम सम्पर्क हुआ। वह कैवूर के विचारों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने 1857 ई. में सार्डीनिया के शासक को अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं। गैरीबाल्डी के जीवन की यह एक महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि गणतंत्रवादी अब वैधानिक राजतंत्रवाद का समर्थक बन गया था। उसी के कारण सार्डीनिया के गणतंत्रवादियों और राजतंत्रवादियों में समझौता हो सका। कैटलबी ने लिखा है, ''यदि यह समझौता नहीं होता और दोनों के मतभेद बने रहते, तो वे एक–दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते और इटली की एकता का प्रयत्न विफल हो जाता।''

सिसली में विद्रोह– 1860 ई. में गैरीबाल्डी ने दक्षिणी इटली से कार्य प्रारंभ किया। सिसली की जनता बूर्बो राजाओं के निरंकुश शासन के विरुद्ध थी। यहाँ के देशभक्तों ने गैरीबाल्डी से प्रार्थना की कि वह उनका नेतृत्व करे। गैरीबाल्डी उनकी सहायता के लिए तैयार हो गया, किन्तु उसने यह शर्त रखी थी कि वे इटली और विक्टर इमेन्युअल के नाम पर विद्रोह करें। 4 अप्रैल, 1860 ई. को मसीना के निकट विद्रोह हो गया। यद्यपि आरम्भ में विद्रोहियों को कुछ सफलता मिली लेकिन फ्रांसीसी सेनाओं ने उपद्रव को क्रूरता से दबा दिया, इस घटना के बाद गैरीबाल्डी सिसली की मदद को तैयार हो गया। कैवूर भी सिसलीवालों की मदद करना चाहता था, लेकिन वह खुलेआम ऐसा नहीं कर सकता था क्योंकि ऐसा करना अन्तरराष्ट्रीय कानून के विरुद्ध था, इससे नेपल्स और सार्डीनिया के मध्य युद्ध छिड़ सकता था। सम्भव था कि यूरोपीय राज्य इसमें हस्तक्षेप करने लगते। कैवूर तो यह भी जानता था कि उत्तरी इटली का जनमत सिसली के विद्रोह का समर्थक है। अतः वह जनता की भावना के विरुद्ध नहीं जा सकता था। उसने गुप्त रूप से गैरीबाल्डी और सिसली की मदद की। 5 मई, 1860 ई. को गैरीबाल्डी ने अपने प्रसिद्ध एक हजार 'लाल कुर्ती वाले स्वयंसेवकों के साथ जेनोवा से सिसली की ओर प्रस्थान किया। मई में वह मरसला के स्थान पर 10,000 सैनिकों के साथ उतरा। उसने बिना किसी विरोध के सिसली पर अधिकार कर लिया। उसने बड़ी आसनी से बूर्बो शासक फ्रांसिस द्वितीय को नेपल्स में हरा दिया। नेपल्स तथा सिसली ने जनमत द्वारा विक्टर इमैनुअल द्वितीय को शासक स्वीकार किया। गैरीबाल्डी का हस्तक्षेप बहुत सफल रहा, इससे कैवूर का लक्ष्य पूर्ण हुआ। 1861 में एकीकरण का दूसरा चरण पूर्ण हुआ।

## नेपल्स पर अधिकार

कुछ समय बाद गैरीबाल्डी ने अपनी सेना के साथ 19 अगस्त, 1860 ई. को नेपल्स पर हमला कर दिया। पहले से ही उसकी स्थिति बेहतर थी क्योंकि उसे अपार जनसमूह का समर्थन प्राप्त था और उसकी सेना का मनोबल ऊँचा था। नेपोलियन तृतीय गैरीबाल्डी की प्रगति को रोकना चाहता था क्योंकि वह इटली को शक्तिशाली राज्य नहीं होने देना चाहता था, परन्तु ब्रिटेन की सहानुभूति नीति के कारण गैरीबाल्डी को नेपल्स में आगे बढ़ने का अवसर मिल गया।

NOTES

फ्रांसिस द्वितीय द्वारा गैरीबाल्डी को रोकने के प्रयत्न विफल हुए और उसके सेनापति विद्रोही हो गये। ऐसी स्थिति में शासक नेपल्स छोड़कर गेटा भाग गया। गैरीबाल्डी बिना किसी प्रतिरोध के आगे बढ़ता ही चला गया। गैरीबाल्डी ने स्वयं को नेपल्स का अधिनायक घोषित किया और मैजिनी के समर्थक बर्तानी को राज्य का मंत्री नियुक्त किया।

**गैरीबाल्डी की महानता** – इटली को मुक्त कराने में गैरी बाल्डी का योगदान अविस्मरणीय है। विक्टर इमेन्युअल के इटली का राजा घोषित होने के पश्चात् गैरीबाल्डी को सम्मानित करने और उपाधियाँ देने का प्रस्ताव रखा गया, लेकिन उसने आदरपूर्वक उपाधियाँ और पुरस्कारों को लेने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, **"देश सेवा स्वयं एक पुरस्कार है, मुझे कोई दूसरी चीज नहीं चाहिये। स्वतंत्र इटली अमर हो।"** इटली के इस महान देशभक्त और योद्धा के वीरतापूर्ण कार्यों का यही यशस्वी अंत था। वह अपने खेतों में बोने के लिए बीजों का एक थैला लेकर अपने द्वीप केप्रीरा चला गया।

## 2.7 सारांश

इटली में नेपोलियन ने सभी भौगोलिक तथा राजनीतिक बाधाओं को समाप्त करके इटली को एकता का महत्व दिखाया था और जब फ्रांस ने राष्ट्रीय एकता को समाप्त करना चाहा तो इटली निवासियों में राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन मिला। इसलिए नेपोलियन को ही इटली में राष्ट्रवाद का जन्मादाता कहा जाता है। उसने इटली में राष्ट्रवाद ........................ की भावनाओं को जागृत किया।

## 2.8 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) इटली के एकीकरण में सहायक प्रारंभिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिये।

(2) इटली के एकीकरण के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिये।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) इटली के एकीकरण में मेजिनी की भूमिका की समीक्षा कीजिये।

(2) इटली के एकीकरण में कैवूर तथा गैरीबाल्डी के योगदान का वर्णन कीजिये।

### विकल्प

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

1. पेरिस सम्मेलन हुआ था–

(अ) 1856 (ब) 1876 (स) 1844 (द) 1894

2. विलाफ्रेंका की विराम संधि हुई–

(अ) 1870 (ब) 1840 (स) 1859 (द) 1839

**उत्तर** 1. (अ), 2. (स)

## 2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

# अध्याय-3 जर्मनी का एकीकरण
## (UNIFICATION OF GERMANY)

NOTES

### इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 परिचय
3.2 एकीकरण की पृष्ठभूमि
3.3 प्रथम चरण 1815 से 1850
3.4 जर्मनी के एकीकरण की बाधाएँ
3.5 बिस्मार्क का उदय और एकीकरण
3.6 लुईस फिलिप की आंतरिक और विदेश नीति
3.7 लुई की आंतरिक नीति
3.8 लुई की विदेश नीति
3.9 आस्ट्रिया और प्रशा का युद्ध
3.10 तृतीय चरण : फ्रेको–प्रशियन युद्ध एंव फ्रेंकफर्ट की संधि
3.11 विस्मार्क आधुनिक जर्मनी का निर्माता
3.12 सारांश
3.13 अभ्यास प्रश्न
3.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. जर्मनी के एकीकरण एवं इसकी पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. जर्मनी के एकीकरण की बाधाएँ को जान सकेंगे।
3. विस्मार्क का उदय एवं एकीकरण को जान सकेंगे।
4. तात्कालीन समय की ऐतिहासिक एव समसामायिक घटनाक्रम से परिचित हो सकेंगे।

## 3.1 परिचय

यूरोपीय देशों में जर्मनी राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक विभक्त देश था. इसमें लगभग 200 राज्य थे। इन राज्यों में कुछ धार्मिक तथा राजनीतिक इकाइयाँ होती थीं। जर्मनी के ये 200 से अधिक राज्य भौगोलिक दृष्टि से अलग–अलग आकार के थे। इन राज्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) उत्तरी जर्मनी – प्रशा, सेक्सनी, हेनोवर, फ्रेंकफर्ट

(2) मध्य जर्मनी – राइन लैण्ड

(3) दक्षिण जर्मनी – बवेरिया, बादेन, पैलेटिनेट, वुर्टेम्बर्ग इत्यादि

NOTES

## 3.2 एकीकरण की पृष्ठभूमि

आकार और सैनिक शक्ति की दृष्टि से प्रशा सबसे शक्तिशाली था। उन राज्यों की सामाजिक व राजनीतिक प्रणालियाँ भी पिछड़ी हुई थीं। अनेक राज्यों में बँटे होने के कारण जर्मनी को आर्थिक विकास का बड़ा नुकसान उठाना पड़ा था। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जर्मनी राज्य राजनीतिक दृष्टि से विखंडित होते हुए भी एक–दूसरे से थोड़े बहुत जुड़े हुए थे, इसका पहला कारण यह था कि इन राज्यों में पवित्र रोमन सम्राट के प्रति सैद्धांतिक रूप से आदर की भावना थी। दूसरा प्रमुख कारण डाइट का अस्तित्व था। डाइट में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि एक ही मंच पर एकत्र होते थे।

इस तरह के भौगोलिक और व्यापारिक विभाजन के अतिरिक्त जर्मनी के राज्य–राज्य, प्रशासकीय व्यवस्था तथा सामरिक शक्ति से भी अलग–अलग थे। इन्हें चार समूहों में विभाजित किया गया– (i) अभिजात वर्ग, (ii) स्वतंत्र राज्य, (iii) धार्मिक इकाइयाँ, (iv) गैर राजनैतिक इकाइयाँ। जर्मनी के उत्तरी भाग के राज्यों का दृष्टिकोण अनुदार था तथा दक्षिणी राज्यों का दृष्टिकोण उदार था।

**राष्ट्रीयता की भावना का विकास** – अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिन नई शक्तियों एवं प्रवृत्तियों का जन्म हुआ, उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रमुख है। राष्ट्रीयता का विकास उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय इतिहास की एक सच्चाई है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में एक ओर क्रांति की प्रगतिशील शक्तियाँ काम करती रहीं, दूसरी ओर प्रतिक्रिया की शक्तियाँ उनका दमन करने का प्रयास करती रहीं। यह एक प्रकार का संक्रमण काल था, इस युग में द्वंद्व चलता रहा, किन्तु राष्ट्रीयता की भावना ने युग को आगे बढ़ाया, इसी राष्ट्रीयता की भावना ने जर्मनी को एक दिशा दी।

### एकीकरण का जन्मदाता नेपोलियन

जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना के विकास का श्रेय यदि किसी को जाता है, तो वह नेपोलियन है। नेपोलियन का सबसे ज्यादा दबाव जर्मनी ने ही महसूस किया था और यहीं उसकी सत्ता को सबसे बडी चुनौती का सामना करना पडा। वस्तुतः जर्मनी में नेपोलियन की सरकार बनना एक दुःखद किन्तु लाभदायक घटना थी, यह स्मरणीय है कि फ्रांसीसी क्रांति से पहले जर्मनी यूरोपीय देशों में राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक विभक्त देश था, जिसमें लगभग 300 राज्य थे। नेपोलियन ने जर्मनी में 39 राज्यों का एक संघ बनाकर राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया, इस संघ को राइन संघ कहा गया। नेपोलियन के इस कार्य से जर्मनी की जनता में एकता की भावना का संचार हुआ। लिप्सन के अनुसार, यह इतिहास के मजाकों में से एक है कि आधुनिक जर्मनी का जन्मदाता नेपोलियन था। अपनी रचनात्मक राजनीति के कारण तो सीधे तरीके से और उसके शासन के विरोध के कारण जो विरोध उत्पन्न हुआ, उससे उल्टे तरीके से, नेपोलियन के द्वारा संयुक्त जर्मनी का निर्माण हुआ और जर्मन साम्राज्य की नींव पड़ी। इटली के एकीकरण के समान ही जर्मनी का एकीकरण भी उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास की प्रमुख घटना थी। एकीकरण के बाद जर्मनी यूरोप की एक मजबूत शक्ति के रूप में उभरा।

### इटली और जर्मनी के एकीकरण में समानताएँ

सामान्य तौर पर जर्मनी के एकीकरण का इतिहास इटली के समान ही प्रतीत होता है। दोनों में एक रियासत अन्य रियासतों से शक्तिशाली थी और उस एक शक्तिशाली रियासत ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया था। इटली में पीडमॉन्ट ने और जर्मनी में प्रशा ने दोनों का नेतृत्व मुख्यतः उनके प्रमुखों ने किया–एक का कैवुर ने तो दूसरे का बिस्मार्क ने। इनके अतिरिक्त और भी समानताएँ थीं दोनों देशों ने एक दूसरे का सहयोग दिया, दोनों देशों के एकीकरण में मुख्य बाधक तत्व आस्ट्रिया था और दोनों का एकीकरण लगभग एकसमय पूर्ण हुआ, परन्तु ये समानताएँ केवल ऊपरी थीं। इन दोनों राज्यों को जिन समस्याओं का सामना

करना पड़ा वे भिन्न थीं। साथ ही जिन सिद्धांतों और रीतियों के अनुसार उन समस्याओं को हल किया, वे भी भिन्न थीं।

नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप में हुई वियेना कांग्रेस (1815 ई.) ने जर्मन राज्यों के एकीकरण का विरोध किया लेकिन जर्मन के क्षेत्र में नजदीक होने की तड़प बढ़ती जा रही थी, इस सामीप्य की भावना के पीछे आर्थिक कारण भी थे। जर्मनी में आर्थिक विकास हो रहा था और व्यापक संगठन के बिना पूरा आर्थिक लाभ उठाना राज्यों के लिए संभव नहीं था, इसलिए बुर्जुआ ताकतों ने जन समर्थन के सहारे निकट आने का क्रम शुरू कर दिया, किन्तु प्रतिक्रियावादी युग के प्रतीक आस्ट्रिया का मेटरनिख, कई यूरोपीय शासकों को साथ लेकर किसी भी परिवर्तन की आशंका का गला घोंटने को लिए कटिबद्ध हो गया।

जर्मन राज्यों के एकीकरण का विरोध करते हुए वियेना कांग्रेस ने उसे एक शक्तिहीन संघ राज्य के रूप में आस्ट्रिया के प्रभाव में रख दिया था। आस्ट्रिया को इस संघ का अध्यक्ष बनाया गया, इस समझौते के अन्तर्गत किसी भी शासक को जर्मन सम्राट का पद नहीं दिया गया। जर्मनी में ऐसी कोई केन्द्रीय संघीय संस्था न थी, जो राज्यों की शक्ति पर नियंत्रण कर पाती। जर्मनी की संघीय डाइट समझौता करने वाली एक संस्था मात्र साबित हुई, इसमें जर्मन रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि ही शामिल हो सकते थे। यह संघीय डाइट आस्ट्रिया के प्रभाव तथा आस्ट्रिया व प्रशा की पारस्परिक ईर्ष्या के कारण कोई निर्णायक कार्यवाही नहीं कर सकती थी, इस प्रकार वियेना समझौते के अन्तर्गत जर्मनी के प्रशासन के लिए की गयी व्यवस्था दोषपूर्ण तो थी ही, साथ ही जर्मनी के एकीकरण में बांधक भी थी।

जर्मनी के राज्य राजनीतिक तथा भौगोलिक तथा अन्य कई तरह से विभाजित होते हुए भी वे एक दूसरे से जुड़े हुए थे–इस तरह जुड़े होने का सूत्र था– पवित्र रोमन सम्राट के प्रति सैद्धान्तिक रूप से आदर की भावना और 'डायर' का होना। **'डायर'** में 200 राज्यों के प्रतिनिधि एक ही मंच पर एकत्र होते थे। डायर की संरचना संसदीय नहीं थी बल्कि राजदूतों का संघमात्र थी।

## 1.3 प्रथम चरण 1815 से 1850

1815 ई. से 1850 ई. तक जर्मनी के एकीकरण की प्रगति मंद रही, इसके कुछ कारण थे–

(i) प्रथम, जर्मनी को वह शारीरिक एवं मानसिक थकान दूर करनी थी जो नेपोलियन के साथ युद्ध के कारण हुई थी।

(ii) द्वितीय, जर्मनी में राजनीतिक विषमताएँ थीं।

(iii) प्रतिक्रियावादी आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग साम्राज्य के अधीन जर्मन साम्राज्य की स्थापना चाहते थे।

(iv) सुधारवादियों में कुछ प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी को संगठित करना चाहते थे।

(v) सभी राज्यों को समाप्त कर एक गणराज्य की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे।

(vi) तृतीय, मेटरनिख के द्वारा जर्मनी को नियंत्रण में रखने के लिए प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन किया गया था। मेटरनिख ने कार्ल्सवाद घोषणा के द्वारा जर्मनी की मौजूदा व्यवस्था को अधिक प्रतिक्रियावादी बनझ दिया। अब शिक्षकों तथा विद्यार्थियों पर कठोर नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। गुप्त समितियों एवं समाचार पत्रों पर भी प्रतिबंध लगा दिये गये। दुःखद तथ्य यह रहा कि जर्मनी के कुछ राज्य भी इस काल में आस्ट्रिया की नीतियों के समर्थक बने रहे।

### एकीकरण के प्रयास में सहायक तत्व

जर्मनी के एकीकरण की गति चाहे धीमी रही, किन्तु 1815 ई. से 1850 ई. के मध्य कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का विकास हो गया था, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिमय और एकीकरण की विचारधारा के प्रसार में निम्नलिखित तत्व प्रमुख रूप में सहायक रहे –

NOTES

**(A) बौद्धिक आन्दोलन–** अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी के कुछ दार्शनिक एवं विद्वानों ने जर्मनी के बौद्धिक जीवन को एक नयी दिशा प्रदान की। जर्मनी के जेना विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने बौद्धिक आन्दोलन को नया आयाम दिया। इन विधार्थियों के प्रयासों से 1815 ई में **बर्शेनशैट** नामक संगठन का निर्माण मेटरनिख व्यवस्था के विरुद्ध किया गया। धीरे–धीरे इसकी 16 शाखाएँ अन्य विश्वविद्यालयों में फैल गयीं, इस संस्था का नारा था– **"नैतिक चरित्र के उत्थान से ही जर्मनी एकीकृत हो सकता है।"** इस संस्था के सदस्यों का उद्देश्य था कि विभिन्न आन्दोलनों द्वारा जर्मनी का एकीकरण किया जाए। बर्शेनशैट संस्था के विद्यार्थियों ने सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीयता की शक्तियों को सफल बनाने के लिए 18 अक्टूबर, 1817 ई. को बांटबर्ग में मार्टिन लूथर द्वारा घोषित धर्म सुधार की त्रिशताब्दी मानने तथा लिप्जिग के राष्ट्रीय युद्ध की चतुर्थ वर्षगाँठ मनाने हेतु एक राष्ट्रीय उत्सव का आयोजन किया।

इससे प्रतिक्रियावादी मेटरनिख घबरा गया। अतः 1818 ई. में एक्सला–शैपल कांग्रेस में उसने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि अभी संसार में क्रांतिकारी विचारों के दमन की आवश्यकता है। जर्मनी में उदारवाद एवं राष्ट्रवाद की भावनाओं के विकास में स्वच्छंदतावादी आंदोलन का योगदान भी महत्वपूर्ण है, इस संबंध में एक इतिहासकार के विचार उल्लेखनीय हैं–"एक पक्ष बौद्धिक तथा प्राचीन जर्मन संस्कृति की जागृति से परिचित होकर अपनी प्राचीन विचारधारा अर्थात् रूढ़िवादी राजनीतिक विचारधारा को उदारवादी परिवर्तन से बचाए रखना चाहता था, तो दूसरा पक्ष जर्मन को मध्ययुगीन व्यवस्था से मुक्त करके आधुनिकता का मार्ग अपनाना चाहता था। इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के दो प्रमुख आधार थे–आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग वंश का नेतृत्व जो जर्मनी की विकेंद्रीकरण की शक्तियों, स्वेच्छाचारी राजतंत्र और मध्ययुगीन रूढ़िवाद का समर्थन करना चाहता था और राष्ट्रीय एकीकरण का दमन कर देना चाहता था, इसके विपरीत दूसरा पक्ष सांविधानिक तथा राष्ट्रीय आंदोलन के माध्यम से शासन में परिवर्तन लाना चाहता था और इसने भाग्य का स्वयं निर्णय करने के लिए उत्सुक था, इस पक्ष में प्रशा का नाम उल्लेखनीय है।"

इस समय में जर्मनी के कुछ विद्वानों, दार्शनिकों तथा कवियों ने वहाँ की बौद्धिक चेतना को नया उन्मेष दिया–

(i) **हर्डर (1744–1803)** मानव स्वतंत्रता के समर्थक थे।

(ii) **ई. कैंट (1724–1804)** जर्मन उदारवाद को स्वतंत्रता का आदर्श दिया।

(iii) **हीगल (1770–1891)** दर्शन के क्षेत्र में राष्ट्र को सर्वोपरि प्रतिपादित करके राष्ट्रीय गौरव को प्रतिष्ठित किया।

(iv) **हम्बोल्ट (1767–1835)** ये प्रशा के शिक्षा मंत्री थे तथा शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया।

(v) **कवि आर्न्डर (1769–1860)** भक्ति भावना से प्रेरित कविताओं से जर्मन जनता में देश प्रेम तथा फ्रांस विरोधी भावनाओं को जगाया।

**जैकाव ग्रीम** और **विल्हेम ग्रीम** – इन्होंने जर्मनों में सांस्कृतिक एकता का बंधन और दृढ़ किया। इन्होंने जर्मनों में जर्मनत्व की भावना को कूट–कूट कर भर दिया, इस सांस्कृतिक जागरण के परिणामस्वरूप जर्मनी का संग्राम प्रारंभ हुआ तथा नेपोलियन का पतन हुआ, इस युग के अनेक दार्शनिकों में **हर्डर** ने सर्वप्रथम मानव स्वतंत्रता के बारे में विचार व्यक्त किये। **फिक्टे** ने जर्मनी के फ्रांस विरोधी राष्ट्रवाद को तर्क और युक्ति के आधार पर स्थापित किया।

**हीगल** का मत था कि सार्वलौकिक विचारधारा का सर्वोत्तम रूप है–राष्ट्र, इसलिए राष्ट्र का स्थान सर्वोपरि होना चाहिए। **हार्डेनबर्ग नोवलिस** की रचनाएँ जर्मनी के अतीत के इतिहास पर प्रकाश डालती हैं, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी के जन मानस की आशा, आकांक्षा और कल्पना की शक्ति जागृत और सजग हो गई, इससे जर्मनी के निवासियों को यह भी अनुभव हुआ कि उनको एक सूत्र में बाँधने के लिए सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अर्थात धर्म, भाषा और प्राचीन इतिहास

है, जिसका ज्ञान होना चाहिए। **डालमेन, रांके, बोमर, हासर,** आदि इतिहासकारों ने पुराने इतिहास की छानबीन करके जर्मन इतिहास को नये रूप में प्रस्तुत किया, इसके साथ ही **हेनरिक हाइन, आर्नडट्**–जैसे कवियों ने जनता में राष्ट्रीयता का जोश भरा, इस प्रकार प्रबुद्ध वर्ग ने जर्मन जनता की राष्ट्रीयता की भावनाओं को उकेरा।

## उदारवादी सुधारकों का उदय

इस स्थिति में कुछ सुधारकों के उदय ने जर्मनी में राष्ट्रीय भावना के उदय में सहयोग दिया। उनमें प्रमुख थे– **स्टीन, हार्डे बर्ग, शार्न हार्स्ट, हम्बोल्ट** इत्यादि। जर्मनी के उदारवाद की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार थीं– सांविधानिक राजतंत्र, प्रतिनिधिमूलक विधानसभा, समाचार–पत्रों की स्वतंत्रता, सीमित मतदान के अधिकार, भाषण की स्वतंत्रता, आर्थिक व्यवस्था में सुधार किसानों और दासों की स्थिति में परिवर्तन इत्यादि। स्टीन सांविधानिक राजतंत्र में विश्वास करते थे।

**(B) जालवरीन** – प्रशा ने आर्थिक पुनर्गठन के लिए सीमा शुल्क संघ की स्थापना की। कुछ जर्मनी के राज्य कुछ समय तक इसका विरोध करते रहे। बाद में उनके मतभेद समाप्त हो गये तथा 1834 में बवेरिया, सेक्सनी, हेसकेमल, बुटर्मबर्ग आदि राज्यों ने प्रशा के सीमा शुल्क संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया। 1850 तक जर्मनी के लगभग सभी राज्य इस आर्थिक संघ में शामिल हो गये। प्राइड्रिख लिस्ट नामक अर्थशास्त्री ने जालवरीन को जर्मन राष्ट्रीयता का एक प्रमुख तत्व माना था।

अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट की विचारधारा इस अर्थनीति की पृष्ठभूमि में कार्यरत थी। वह राष्ट्रवादी होने के कारण आर्थिक राष्ट्रवाद में विश्वास रखता था। उसका यह मत था कि जर्मनी की सीमा के अन्दर निःशुल्क वाणिज्य नीति प्रचलित होनी चाहिए, जिससे जर्मनी की अर्थनीति में एकता स्थापित हो सके। उसने जर्मनी के रेलमार्ग को विस्तृत करने के महत्त्व पर ध्यान दिया। लिस्ट को जर्मन रेलमार्ग का जनक कहा जाता है। जर्मनी में एकता लाने के लिए जो पारस्परिक आदान–प्रदान की आवश्यकता थी, वह आवश्यकता विकसित रेलमार्ग के निर्माण से पूरी हुई।

जालवरीन का प्रारम्भ में कुछ राज्यों द्वारा विरोध हुआ किन्तु शीघ्र ही उनके मतभेद समाप्त हो गये। 1834 ई. तक जर्मनी के सभी प्रमुख राज्य अपनी आर्थिक सुविधाओं को ध्यान में रखकर इसके सदस्य बन गये थे इस चुंगी संघ में यह निश्चय किया गया कि संघ के सदस्य अधिकांश वस्तुओं का स्वतंत्र व्यापार करेंगे और एक–दूसरे के सामान पर चुंगी नहीं लेंगे, इस समझौते के महत्त्व को आरम्भ में आस्ट्रिया समझने में असफल रहा। "प्रारम्भ में सम्भवतः जालवरीन के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य या उच्चाभिलाषा नहीं रही, परन्तु धीरे–धीरे प्रशा जालवरीन के नेतृत्व के माध्यम से जर्मन एकीकरण के राजनीतिक नेतृत्व में उत्तरदायित्व लेने के लिए अज्ञात रूप से प्रस्तुत हो रहा था।" जालवरीन की सफलता और आस्ट्रिया के उससे दूर रहने का परिणाम यह निकला कि एक आर्थिक शक्ति के प्रभाव और दबाव से जर्मन राज्यों के मध्य जो राजनीतिक व्यवधान था और जिसने जर्मनी को इतना खंडित कर रखा था, वह व्यवधान धीरे–धीरे समाप्त होता जा रहा था। आर्थिक क्षेत्र में एकता की इस अनुभूति ने जर्मनी क विकेन्द्रीकरण में सहायक राजवंशीय तथा प्रादेशिक प्रभाव को कम कर दिया। जालवरीन के राष्ट्रवादी चरित्र के विषय में **रोबर्ट इरगेंग** ने लिखा हैं, **"जालवरीन ने क्षेत्रीय भावनाओं और आदतों को दबाया और इनके स्थान पर विस्तृत और मजबूत जर्मन राष्ट्रवादी तत्वों को प्राथमिकता दी।"** अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि **"जालवरीन जर्मन के राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में एक उल्लेखनीय एवं प्रभावशाली सोपान था, इसी आर्थिक संघ के कारण प्रशा जर्मन एकीकरण का मार्ग तैयार कर दिया।"** इस संगठन को यद्यपि किसी भी प्रकार का राजनीतिक रूप नहीं दिया गया तथापि आर्थिक हितो की रक्षा के लिए इसमे राजनीतिक एकता का बीजारोपण हो चुका था।

**(C) फ्रांसीसी राज्य क्रांति, 1848 ई. की क्रांति और जर्मनी**– फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद जर्मनी का सम्पर्क फ्रांस से बढा तथा नेपोलियन ने आक्रमणों एव शासन के परिणामस्वरूप

जर्मनी में आधुनिक युग का उदय हुआ। 1806 में पवित्र रोमन सम्राट की समाप्ति हुई, इससे जर्मन समाज की प्राचीन धार्मिक रूढ़ियाँ क्षीण पड़ गई तथा इस परिवर्तन से जर्मन लोगों में अपने देश, संस्कृति के प्रति भावनात्मक लगाव बढ़ा। पवित्र रोमन सम्राट के समाप्त हो जाने से यह बात जर्मन लोगों के समक्ष प्रकट हुई कि अब कोई भी जर्मन राज्य शक्तिशाली बनकर सम्पूर्ण जर्मनी पर शासन स्थापित कर सकता है।

जर्मनी में फ्रांस के आक्रमण से दो विचारधाराओं का प्रवाह चला– उदारवाद और रूढ़िवादी विचारधारा। फ्रांस का प्रभाव जर्मनी में बढ़ने से जर्मनी के लोगों में फ्रांस विरोधी भावना का उदय हुआ जो बाद में राष्ट्रीय भावना के उदय का कारण बनी। नेपोलियन के आक्रमणों से जर्मनी को जनहानि और आर्थिक हानि दोनों हुईं। प्रशा तथा सेक्सनी को विभाजित कर दिया गया। नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था से कुछ जर्मन राज्यों को बहुत आर्थिक क्षति हुई।

इस स्थिति में जर्मनी में नकारात्मक दृष्टिकोण का उदय हुआ तथा प्रशासकीय सुधार की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी।

जर्मनी के एकीकरण का प्रारंभ नेपोलियन के आक्रमणों के प्रभाव स्वरूप हुआ। आधुनिक एकीकृत जर्मनी का निर्माता नेपोलियन को मानते हुए **लिप्सन** ने लिखा है– ''यह इतिहास के मजाकों में से एक है कि आधुनिक जर्मनी का जन्मदाता नेपोलियन था, इसका प्रत्यक्ष कारण उसकी निर्माणकारी राजनीतिकता थी और अप्रत्यक्ष रूप से उस विरोध का परिणाम था जो जर्मनी में उसके शासन के विरोध में था। उसने जर्मनी के एकीकरण में भारी योग दिया और जर्मन साम्राज्य की स्थापना की नींव रखी।'' जर्मनी के एकीकरण के लिए नेपोलियन के कार्यो का वर्णन करते हुए **पार्थसारथी गुप्ता** लिखते हैं– ''जर्मनी में भविष्य में प्रगतिशील परिवर्तन लाने में नेपोलियन के आक्रमण और शासन के सकारात्मक रूप से सहायता की। जर्मन एकीकरण की चेष्टा और उदारवाद की जागृति इसी के परिणाम थे। नेपोलियन की शासन–व्यवस्था से जर्मनी में कुछ प्रशासकीय सामाजिक और आर्थिक सुधार भी हुए थे। 'गिल्ड' प्रथा का अंत अबाध वाणिज्य नीति का प्रचार फ्रांसीसी शासन के ही परिणाम थे। नेपोलियन की शासन व्यवस्था से जर्मन–संघ के राज्यों की संख्या 300 से घटकर 39 रह गई थी। जिससे विभक्त जर्मनी स्वाभाविक रूप से कुछ सीमा तक संगठित हो गया। पवित्र रोमन सम्राट के पद को समाप्त करके नेपोलियन ने जर्मन को मध्ययुग से आधुनिकता की सीमा पर पहुँचाया और इसी से जर्मन राष्ट्रवाद का बीजारोपण हुआ।''

फरवरी, 1848 ई. की फ्रांसीसी क्रांति एवं वियना में मेटरनिख के पतन की सूचना पाकर जर्मनी की विभिन्न रियासतों में विद्रोह हुए। प्रशा, बवेरिया, सैक्सनी, बादेन आदि सभी राज्यों में राष्ट्रीयता और लोकतंत्र के समर्थकों ने निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासकों के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ किया। प्रारम्भ में विद्रोहियों को सफलता मिली। अधिकांश जर्मन राज्यों में वैध राजसत्ता स्थापित हो गयी। वैधानिक शासन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मान्यता प्राप्त हुई। प्रशा के शासन फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ (1840–1858 ई.) ने उदार संविधान स्वीकार किया और यह घोषणा की– **''आज मैने जर्मनी के प्राचीन झण्डे को स्वीकार किया और मैं अपनी प्रजा को जर्मन साम्राज्य के प्राचीन झण्डे की रक्षा के लिए समर्पित करता हूँ। अब से प्रशा और जर्मनी के हित एक होंगे।''** इस घोषणा से जर्मनी के राष्ट्रवादियों को बल मिला किन्तु यह सब कुछ अल्पकालीन साबित हुआ और फ्रेडरिक विलियम पुनः निरंकुशता की नीति की ओर अग्रसर हो गया।

मार्च, 1845 ई. में सम्पूर्ण जर्मनी को एक संघ बनाने के उद्देश्य से जर्मनी के राष्ट्रवादियों ने एक राष्ट्रीय संसद आमंत्रित की, जिसका अधिवेशन फ्रेंकफर्ट में हुआ, इस संसद में जर्मनी के सभी राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र हुए और जर्मन संघ का संविधान तैयार करने लगे। यह उल्लेखनीय है कि प्रतिनिधियों में अधिकांश मध्यम वर्ग के थे, किन्तु व क्रांतिकारी नहीं थे। श्रमिक एवं किसानों को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था, इस संसद के प्रतिनिधि लगभग एक वर्ष तक संविधान को लेकर वाद–विवाद करते रहे, जो इस संसद की सबसे बड़ी दुर्बलता साबित हुई। कैटलवी

ने फ्रेंकफर्ट संसद के विषय में लिखा है, **"जब तक संविधान को अंतिम रूप दिया गया, तब तक प्रतिक्रियावादी पुनः प्रभावी हो गए।"** मार्च, 1849 ई. में संसद ने संघ का संविधान बना लिया और प्रशा के शासक को जर्मनी का सम्राट बनाने का निर्णय लिया, किंतु फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ ने नवीन जर्मन साम्राज्य का राजमुकुट अस्वीकार कर दिया। कायरता पूर्ण व्यवहार, अस्थिर नीति, अहंकार तथा रूढ़ियों के प्रति मोह के कारण फ्रेडरिक ने आज ताज ठुकरा दिया, इस घटना ने उदारवादियों एवं राष्ट्रवादियों की आशाओं पर तुषारापात कर दिया। उग्र विचारों के राष्ट्रवादियों ने तलवार का सहारा लेना श्रेयस्कर समझा। दक्षिण–पूर्वी जर्मनी में विद्रोह हुआ। बादेन की सेना भी आन्दोलनकारियों से मिल गई। यह विद्रोह राइन नदी तक फैल गया, परन्तु प्रशा की प्रशिक्षित सेना के सामने आन्दोलनकारी नहीं टिक सके। कई राष्ट्रवादी जर्मनी छोड़कर अमेरिका चले गये, इस प्रकार हम देखते हैं कि फ्रेडरिक विलियम ने अपनी अस्थिर बुद्धि के कारण जर्मन एकता की कब्र खोद दी। यद्यपि क्रांति अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर न सकी, फिर भी सर्वथा निष्फल नहीं रही, इसने जर्मनी में उदारवाद एवं राष्ट्रीयता की भावना को निःसन्देह सबल बनाया।

**(D) औद्योगिक विकास** – यूरोप में औद्योगिक क्रांति के विस्तार से जर्मनी का भी साक्षात्कार हुआ। जालवरीन की स्थापना और विस्तार के साथ जर्मनी में व्यापार और उद्योगों के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ, इस समय प्रशा के रूर क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में कोयला और लोहा मिल जाने के कारण औद्योगीकरण तीव्र गति से हुआ। कई स्थानों पर सूती कपड़े की मिलें स्थापित की गईं। रेलों का भी विस्तार किया गया। 1850 ई. तक जर्मनी ने प्रमुख नगरों को एक–दूसरे से रेल द्वारा जोड़ दिया गया था। जर्मनी का आर्थिक नेतृत्व प्रशा ही कर रहा था और 1860 ई. तक जर्मनी की गणना यूरोप के औद्योगिक राज्यों में की जाने लगी थी, इसके विपरीत आस्ट्रिया को अपनी रूढ़िवादी नीति के कारण बहुत पिछड़ा रहा। आस्ट्रिया–प्रशा युद्ध के प्रारम्भिक काल में आस्ट्रिया को जब आर्थिक घाटा और तीव्र आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था, तब प्रशा अपने बढ़ते हुए व्यापार, वाणिज्य और उद्योग के बलबूते पर उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था।

औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप समाज में उदित नए पूँजीपति वर्ग ने जर्मनी के राजनीतिक जीवन पर अपना प्रभाव जमा लिया, इस वर्ग की इच्छा थी कि जर्मनी के छोटे–छोटे राज्यों को समाप्त कर एक संयुक्त जर्मनी का निर्माण किया जाए, जिसमें उद्योग धन्धों पर कोई प्रतिबन्ध न रहे। पूँजीपति वर्ग का सहयोग मिल जाने से एकीकरण के आन्दोलन को ऐसा बल प्राप्त हुआ, जो पहले के आन्दोलन को प्राप्त नहीं हो सका था।

## विलियम प्रथम एवं उसके सैनिक सुधार

सम्राट फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ का 1858 ई. में मस्तिष्क विकृत हो जाने से अगले तीन वर्षों तक उसका भाई विलियम उसका संरक्षक बना रहा। फिर 1861 ई. में फ्रेडरिक की मृत्यु के पश्चात् 64 वर्षीय विलियम प्रशा का शासक बना। यद्यपि विलियम प्रथम का मस्तिष्क उतना विचारवान एवं तीक्ष्ण नहीं था, जितना कि उसके भाई का किन्तु वह दृढ़ निश्चयी था। उसके विचार सुलझे हुए थे। वह परिश्रमी, ईमानदार एवं व्यावहारिक था। **वान सिबेल** ने अपनी पुस्तक **'द फाउन्डिंग ऑफ जर्मन एम्पायर'** में लिखा है कि **'विलियम में ऐसी अनोखी प्रतिभा थी, जिससे वह समझ लेता था कि क्या प्राप्य है और क्या अप्राप्य।''** उसमें योग्य व्यक्तियों को परखने की क्षमता थी। उसको प्रशा पर गर्व था और वह प्रशा के अपमान को सहन नहीं कर सकता था। यद्यपि वह उदारवाद को बुरा समझता था किन्तु प्रशा के हित के लिए वह उदारवादियों के साथ सहयोग करने को तत्पर था। उसका दृढ़ विश्वास था कि प्रशा के सुदृढ़ राजतंत्र के माध्यम से ही जर्मनी का एकीकरण सम्भव है।

विलियम प्रथम महत्त्वाकांक्षी शासक होने के कारण प्रशा की सेना का पुनर्गठन चाहता था। उसने वान रून को युद्ध मंत्री और वान मोल्टके को प्रधान सेनापति नियुक्त किया। उन्हीं दोनों व्यक्तियों की सलाह से उसने सेना के पुनर्गठन और सुधार की योजना तैयार की। उसने 39 नये रेजीमेंट और 9 घुडसवार रेजीमेंट संगठित करने का आदेश दिया, लेकिन इतने व्यापक

NOTES

विस्तार के लिए धन की जरूरत थी, इस हेतु प्रशा को निम्न सदन की स्वीकृति आवश्यक थी, इस समय निम्न सदन में उदारवादियों का बहुमत था, जो वान रून के सैनिक सुधारों को प्रतिक्रियावादी समझते थे। संसद ने युद्ध मंत्री की योजना में कुछ संशोधन करने का प्रस्ताव किया, किन्तु रून किसी प्रकार का संशोधन स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ, इसलिए संसद ने बजट पास करने से इन्कार कर दिया। विलियम ने संसद को भंग कर दिया और उसका नया निर्वाचन करवाया। दुर्भाग्यवश इस बार भी संसद में उदारवादियों का बहुमत रहा। अब एक संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया। विलियम संकट में पड़ गया। वह सेना के सुधारों की योजनाएँ त्यागना नहीं चाहता था। अब तो एक ही रास्ता रह गया था कि वह पद त्याग कर इस समस्या से मुक्त हो जाये। ऐसे समय वान रून ने सम्राट को सलाह दी की बिस्मार्क को अपना चांसलर नियुक्त करे, जो उस समय फ्रांस में प्रशा का राजदूत था।

## 3.4 जर्मनी के एकीकरण की बाधाएँ

### वियेना कांग्रेस : मेटरनिख और जर्मनी

वियेना कांग्रेस ने 39 जर्मन राज्यों का एक संघ बनाया जिसका अध्यक्ष आस्ट्रिया को नियुक्त किया तथा शेष राज्यों को प्रशा के नेतृत्व में छोड़ दिया। मेटरनिख एक प्रतिक्रियावादी कूटनीतिज्ञ था जो जर्मनी के एकीकरण का विरोधी था तथा वहाँ राष्ट्रीय तथा उदारवादी भावनाओं के उदय को कुचल देना चाहता था। उसने जर्मनी को एक शक्तिहीन संघ के रूप में परिणत कर दिया। मेटरनिख की विचारधारा में हर आंदोलनकारी उदारवादी था और हर उदारवादी भावनायें बढ़ रही थीं। मेटरनिख इनके खतरे को समझता था। उसने 1819 में कार्ल्सवाद के कानून पारित कराए। 1820 में उसने डायर द्वारा विचारणीय विषयों पर प्रतिबंध लगाया। मेटरनिख हमेशा यह कोशिश करता रहा कि प्रशा सुधारों से दूर रहे। मेटरनिख प्रणाली ने जर्मनी के छोटे–छोटे राज्यों की एकनिष्ठता को और आन्तरिक अलगाव को प्रोत्साहन देकर जर्मनी के राष्ट्रवाद को विकसित होने से रोका।

जर्मनी का एकीकरण बिस्मार्क के उदय होने के साथ प्रारंभ हुआ तथा उसी के नेतृत्व में पूर्ण हुआ, इसके पूर्व जर्मनी के एकीकरण में अनेक बाधाएँ थीं जिनमें कुछ इस प्रकार हैं–

(i) जर्मनी के विभिन्न राज्यों की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक असमानताएँ,

(ii) पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव,

(iii) आस्ट्रिया का हस्तक्षेप,

(iv) सैन्य शक्ति की कमजोरी,

(v) बौद्धिक चेतना का अभाव,

(vi) विदेशी शक्तियों की जर्मनी के मामलों में रुचि, उदाहरणार्थ–फ्रांस दक्षिण जर्मनी के रोमन कैथोलिकों में रुचि रखता था, इंग्लैण्ड की रुचि हनोवर में थी क्योंकि हनोवर के इलेक्टर को 1714 ई में इंग्लैण्ड का शासक बना दिया गया था,

(vii) आस्ट्रिया तथा प्रशा की प्रतिस्पर्धा,

(viii) जन सामान्य में जागृति का अभाव था,

(ix) इन सभी बाधाओं के अतिरिक्त आस्ट्रिया की नीति भी यह रही कि जर्मनी में राष्ट्रीय एकता स्थापित न हो और हैप्सबर्ग राजवंश की प्रधानता बनी रहे।

## 3.5 बिस्मार्क का उदय और एकीकरण

फ्रांस की क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी में भी राष्ट्रीयता और उदारवाद की विचारधाराएँ फैल रही थीं। किन्तु मेटरनिख ने नवीन विचारधाराओं को कुचलने का निश्चय कर लिया था।

प्रशा भी इस काल में आस्ट्रिया की नीतियों का समर्थक बना रहा और अन्य छोटे राज्य भी मेटरनिख की इच्छानुसार शासन चलाते रहे। 1833 और 1847 के बीच कोई सुधारवादी आंदोलन नहीं हुआ।

NOTES

जालबरीन के माध्यम से प्रशा के नेतृत्व में जो आर्थिक सहयोग प्रारंभ हुआ, उससे न केवल उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई वरन प्रशा के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकता की भावना को भी बल मिला, इस प्रकार आर्थिक सहयोग ने प्रशा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली एवं संगठित राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

1859 में नेपोलियन तृतीय ने सार्डीनिया के साथ मिलकर आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध आरंभ कर दिया, इस युद्ध के कारण आस्ट्रिया और प्रशा के संबंध एक अत्यन्त कठिन परिस्थिति में पहुँच गए। आस्ट्रिया चाहता था कि जर्मन संघ का सदस्य होने के नाते प्रशा को उसकी सहायता करनी चाहिए, किन्तु प्रशा ने आस्ट्रिया एवं जर्मन संघ को बड़ा आघात पहुँचाया, इसके साथ ही सार्डीनिया की सफलता ने जर्मन के राष्ट्रवादियों को प्रोत्साहित किया और वे पुनः जर्मनी के एकीकरण के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करने लगे। 1859 में जर्मन नेशनल एसोसिएशन नामक एक नवीन राजनैतिक संस्था की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना था।

## जर्मनी के एकीकरण का सूत्रधार : बिस्मार्क

ओटोवान बिस्मार्क प्रशा के एक प्रतिष्ठित सामंत परिवार में जन्मा था। वह एक अत्यंत योग्य एवं कुशल व्यक्ति था किन्तु प्रजातंत्र में उसकी कतई आस्था नहीं थी। दूसरे शब्दों में वह उदारवादी विचारधारा का कट्टर विरोधी था। उसने उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य में कहा भी था, **"मैं युग की उस भावुकता से डरता हूँ, जिसमें प्रत्येक दीवाने विद्रोही को सच्चा देशभक्त समझा जाता है।"** जर्मनी के लिए लोकतंत्र को खतरनाक बतलाते हुए उसने कहा था, ''मेरा विचार है कि प्रशा के सम्मान के लिए अन्य सभी चीजों से अधिक आवश्यक लोकतंत्र से बचना है। लोकतंत्र के साथ सम्पर्क लज्जास्पद है।'' बिस्मार्क के विचारों का उल्लेख उसकी पुस्तक **'रिलेक्शन्स एण्ड रेमेनिसेन्सेज'** में इस प्रकार मिलता, "मैं हमेशा से हुकूमत के साथ सहानुभूति करता आया हूँ। बचपन में न्याय के विषय में मेरे विचार थे कि हरमोडियस, ऐरिस्टोजेटन और ब्रूटस अपराधी थे और टेल भी विद्रोही और हत्यारा था। तीस वर्षीय युद्ध से पहले जो कोई जर्मन राजकुमार सम्राट का विरोध करता था, तो मुझे क्रोध आया करता था लेकिन ग्रेट इलेक्टर के बाद से मेरे विचार साम्राज्य विरोधी बन गये।" वह संविधान को घृणा की दृष्टि से देखता था तथा उसे केवल रद्दी का टुकड़ा समझता था, इसलिये अब फ्रैंकफर्ट की संसद के निमंत्रण पर जर्मन सम्राट् बनने का प्रस्ताव प्रशा के राजा ने ठुकरा दिया था, तो उसे व्यक्तिगत तौर पर प्रसन्नता हुई थी।

बिस्मार्क ने 1847 ई. में राजनीति में प्रवेश किया। उस वर्ष सम्राट ने उसे संयुक्त प्रशियन डाइट का सदस्य निर्वाचित किया, इसी समय उसे राष्ट्रीय असेम्बली एवं संविधान सभा का सदस्य बनने का भी मौका मिला। 1851 ई. में ही सम्राट ने बिस्मार्क को फ्रेंकफर्ट की सभा में प्रशा का प्रतिनिधि नियुक्त किया तथा वहाँ वह अगले आठ वर्षों तक प्रशा का प्रतिनिधित्व करता रहा। इन आठ वर्षों में उसने कूटनीतिक शिक्षा ग्रहण की, इस दौरान उसके आस्ट्रिया सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन आया। पहले वह आस्ट्रिया से सहयोग कर क्रांति का दमन करने का समर्थक रहा था किन्तु अब उसे ज्ञात हुआ था कि आस्ट्रिया व प्रशा का सहयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि आस्ट्रिया, प्रशा को बराबरी का स्थान देने को तैयार नहीं था और जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतों को अपने पक्ष में रखकर जर्मन संघ पर अपना प्रभाव बनाए रखना चाहता था। बिस्मार्क यह समझ गया था कि छोटी-छोटी रियासतों का झुकाव आस्ट्रिया की तरफ अधिक है। अनुभव के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आस्ट्रिया को पराजित किए बिना, प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी को एक मजबूत आधार नहीं दिया जा सकता है। बिस्मार्क को सेंट पीटर्सबर्ग में 1859 ई. में राजदूत बनाकर भेज दिया गया। रूस में रहते हुए उसने कुशलता का परिचय दिया और जार अलेक्जेण्डर द्वितीय से व्यक्तिगत मित्रता स्थापित की। यह उसका प्रथम सफल कूटनीतिक

कार्य था, जो कालांतर में उसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। क्रीमिया युद्ध के समय प्रशा की निरपेक्षता, सेंट पीटर्सबर्ग में आस्था प्रकट करके रूसी सम्राट को संतुष्ट करना आदि कार्यों के फलस्वरूप बिस्मार्क के लिए रूसी मैत्री सुरक्षित रही, इसका उपयोग समय आने पर फ्रांस के विरुद्ध सुलभतापूर्वक किया गया। मार्च, 1862 ई. में बिस्मार्क को सेंट पीटर्सबर्ग से हटाकर पेरिस में फ्रांस के राजदूत के रूप में भेजा गया। फ्रांस में उसे नेपोलियन तृतीय एवं उसके मंत्रियों से मिलने एवं उनकी नीतियों को समझने का अवसर मिला। फ्रांस में वह अधिक समय तक नहीं रहा और सितम्बर, 1862 ई. में सम्राट ने उसे बर्लिन बुला लिया तथा प्रशा का चांसलर (प्रधानमंत्री) नियुक्त किया।

## चांसलर बनने के बाद बिस्मार्क के उद्देश्य एवं योजना

**राजतंत्र का समर्थन और लोकतंत्र का विरोध** – उसे जिन परिस्थितियों में यह पद सौंपने का निश्चय किया गया था, उस समय सम्राट एवं संसद में सैनिक बजट को लेकर ठनी हुई थी। अतः बिस्मार्क ने जब चांसलर पद की शपथ ली थी, तब सम्राट को सम्बोधित करते हुए उसने कहा था– **"मैं श्रीमान के साथ नष्ट हो जाऊँगा किन्तु संसद के इस संघर्ष में आपका साथ नहीं छोड़ूँगा।"** बिस्मार्क ने सम्राट के सैनिक सुधारों को लागू करने के लिए पहले प्रतिनिधि सभा से समझौता करने का प्रयत्न किया, किन्तु जब समझौता नहीं हो सका, तो उसने प्रतिनिधि सभा की अवहेलना करते हुए केवल उच्च सदन से बजट पास करा लिया और सैनिक सुधारों के लिए आवश्यक धनराशि जुटी ली। 1862 ई. से 1866 ई. तक इसी प्रकार केवल उच्च सदन द्वारा बजट पास किया जाता रहा। वास्तव में बिस्मार्क का यह कार्य अवैधानिक था किन्तु राज्य की आवश्यकता को सर्वोपरि मानकर उसने प्रचलित विधान की बिलकुल परवाह नहीं थी, इस प्रकार बिस्मार्क अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो गया और संसदीय व्यवस्था केवल नाममात्र की ही बनी रही।

**उदारवादी और बिस्मार्क की नीति** – उदारवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए बिस्मार्क ने नीति को 1862 ई. में इस प्रकार स्पष्ट किया, "जर्मनी का ध्यान प्रशा के उदारवाद की ओर नहीं है वरन् उसकी शक्ति पर लागू हुआ है। प्रशा को अनुकूल अवसर आने तक अपनी शक्ति को सुरक्षित रखना है। हम पहले भी कई बार इस प्रकार के अवसर खो चुके हैं। हमारे समय की महान समस्याएँ भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों द्वारा नहीं बल्कि 'रक्त और लौह' की नीति के द्वारा ही सुलझ सकती है। 1845–49 ई. में हमने यहाँ भूल की थी।" इसका अर्थ था कि प्रशा के भविष्य का निर्माण सेना करेगी न कि संसद। रक्त और लौह की नीति का अभिप्राय था–युद्ध, इस नीति के पीछे प्रशा की सामरिकता की नीति की परम्परा का प्रभाव विद्यमान रहा क्योंकि फ्रेडरिक महान के समय से प्रशा की समृद्धि का जो युग प्रारम्भ हुआ, उसका आधार प्रशा की सामरिक श्रेष्ठता ही थी। बिस्मार्क का यह दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी का एकीकरण कभी भी सत्ताधारी यूरोपीय राजमंडल स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि शक्तिशाली संयुक्त जर्मनी यूरोप के शक्ति संतुलन के लिए एक खतरा साबित होता, इसलिए बिस्मार्क का यह विश्वास था कि शक्तिहीन प्रशा और आगे चलकर शक्तिहीन जर्मनी, एक तो एकीकरण में ही असमर्थ रहेगा और दूसरा, यदि एकीकरण हो भी गया, तो निर्माण की दृष्टि से शक्ति के अभाव में सदा पिछड़ा रहेगा।

बिस्मार्क ने अपने सम्पूर्ण कार्यक्रम के दौरान इस बात का विशेष ध्यान रखा कि जर्मनी के एकीकरण के लिए प्रशा की अस्मिता नष्ट नहीं हो जाए। वह प्रशा का बलिदान करने को तैयार नहीं था, जैसा कि पीडमॉन्ट ने इटली के एकीकरण के लिए किया। वह प्रशा में ही जर्मनी को समाहित कर लेना चाहता था।

**बिस्मार्क का प्रमुख योगदान** – 1862 में जब बिस्मार्क को प्रशा की मंत्री परिषद का अध्यक्ष नियुक्त किया गया, तब राजा और संसद के बीच में बड़ा वैधानिक संकट उत्पन्न हो गया था, इसका एक ओर उद्देश्य था प्रशा को शक्तिशाली बनाकर जर्मन संघ से आस्ट्रिया को

बाहर निकालना एवं जर्मनी में उसके प्रभाव को समाप्त करके प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना था। बिस्मार्क का मुख्य उद्देश्य प्रशा को शक्तिशाली बनाकर जर्मन संघ से आस्ट्रिया को बाहर निकालना एवं जर्मनी में उसके प्रभाव को समाप्त कर प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना था, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि राज्य के समस्त साधनों पर उसका अधिकार हो। उसका यह अटूट विश्वास था कि राजतंत्र का एक मुखी मार्ग ही जर्मनी की समस्या का एकमात्र समाधान है। उसने राजतंत्र के केन्द्र–बिन्दु पर ही समग्र जर्मनी की राष्ट्रीयता को एक सूत्र में बाँधे रखने का प्रयत्न किया। बिस्मार्क स्वयं को केवल राजा के प्रति उत्तरदायी मानता था।

इस समय अन्तरराष्ट्रीय स्थिति प्रशा के अनुकूल थी। जर्मनी की राष्ट्रीयता के शत्रु, आस्ट्रिया और रूस, जिनमें पहले परस्पर मित्रता थी, उनमें क्रीमिया युद्ध के परिणामस्वरूप मनमुटाव हो गया था। बिस्मार्क ने इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा और रूस को अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न किया। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बिस्मार्क ने सर्वप्रथम पोलैण्ड के विद्रोह के समय रूस से मित्रता की। जनवरी, 1863 में पोलैण्ड ने रूस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उस समय इंग्लैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया ने पोलैण्ड के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की, परन्तु बिस्मार्क ने प्रशा के हित की दृष्टि से रूस की नीति का समर्थन कर रूस से मित्रता कर ली।

आस्ट्रिया का रुख पोल लोगों के पक्ष में होने के कारण रूस आस्ट्रिया से और भी अधिक अप्रसन्न हो गया। जहाँ तक फ्रांस का सवाल है, फ्रांस में नेपोलियन तृतीय का रुख राष्ट्रीयता के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। उसने फ्रांस के साथ व्यापारिक संधि करके उसकी भी मित्रता प्राप्त कर ली, इस प्रकार उसने ऐसी स्थिति तैयार कर ली, जिसमें आवश्यकता के समय आस्ट्रिया को कोई सम्भव सहायता प्राप्त न हो सके।

बिस्मार्क ने दूसरा कार्य यह किया कि आस्ट्रिया द्वारा जर्मन संघ के सुधार की योजना को विफल कर दिया जिससे आस्ट्रिया द्वारा जर्मनी का नेता बनने का प्रयत्न धूल में मिल गया। आस्ट्रिया ने 16 अगस्त, 1863 को फ्रेंकफर्ट में जर्मन संघ के सभी शासकों का सम्मेलन बुलाया था। बिस्मार्क ने विलियम प्रथम को इसमें भाग न लेने दिया। अतः जर्मन संघ सुधार योजना असफल हो गई।

## श्लेसविंग टालस्टीन की समस्या और डेनमार्क से युद्ध

श्लेसविंग और हालस्टीन की दोनों डचियों का प्रश्न 1848 से यूरोपीय राज्य के लिए जटिल प्रश्न बना हुआ था।

16 जनवरी, 1864 को आस्ट्रिया और प्रशा के बीच समझौता हुआ जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि वे जर्मन डायट के हस्तक्षेप के बिना डचियों की समस्या को हल करेंगे।

## समस्या की भूमिका

1848 में फ्रेडरिक सप्तम डेनमार्क का शासक बना। सेन डेनिश दल के प्रभाव में आकर डेनमार्क और दोनों डचियों के लिए एकीकृत संविधान प्रचलित कर दिया, इस कारण श्लेसविंग और हालस्टीन ने डेनमार्क के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और आगस्टबर्ग ने ड्यूक के नेतृत्व में एक अस्थाई सरकार स्थापित कर ली। जर्मनी की रियासतों ने डचियों का समर्थन किया तथा प्रशा ने उनकी सहायता के लिए अपनी सेना भेज दी, किन्तु ब्रिटेन व रूस, आस्ट्रिया ने डेनमार्क का नैतिक समर्थन किया जिससे प्रशा को युद्ध बन्द कर देना पड़ा।

**लंदन सम्मेलन 1852 ई.** – इस सम्मेलन में यूरोप के शासकों ने इन रियासतों पर डेनमार्क की सत्ता इस शर्त पर मानी थी कि वह इनका कभी पूरी तरह विलय नहीं करेगा। लंदन की संधि का अगले लगभग 10 वर्षों तक सभी ने पालन किया, इसके पश्चात डेनमार्क के शासक, ईडरशेन पार्टी के प्रभाव के कारण, 1855 में एक नया विधान जारी किया जो दोनों डचियों पर भी लागू किया, इसके अनुसार दोनों डचियों का राजस्व डेनमार्क के कोष में जमा

करने और वहाँ के विधान मण्डलों को डेनमार्क के शासक हालस्टीन को नयी वैधानिक व्यवस्था से अलग रखा। किन्तु 1863 में पोलैण्ड के विद्रोह से लाभ उठाकर फ्रेडरिक सप्तम ने मार्च, 1963 में पुनः एक नया संविधान लागू कर दिया जिसके अनुसार श्लेसविंग को डेनमार्क के राज्य का अंग बना लिया गया और हॉलस्टीन के शासन को भी कुछ बातों में डेनमार्क से सम्बद्ध कर दिया।



जब फ्रेडरिक की मृत्यु हो गई, तो लंदन संधि के अनुसार नवम् क्रिश्चियन सिंहासन पर बैठा। उसने भी फ्रेडरिक सप्तम् की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, किन्तु आगस्टनबर्ग के ड्यूक के पुत्र फ्रेडरिक ने लन्दन संधि के विरुद्ध इन डचियों पर अपना अधिकार पेश किया। वह विरोध का नेतृत्व करने लगा। जर्मन डाइट ने उसका समर्थन किया और संघीय सेना ने हॉल्सटाइन पर अधिकार कर लिया। यहीं से जर्मनी का इतिहास बिस्मार्क की अतुलनीय कूटनीति तथा अदम्य इच्छा शक्ति का इतिहास बन जाता है।

अब जर्मन राष्ट्र श्लेसविंग–हॉल्सटाइन को एक पृथक राजा के शासनाधीन जर्मन परिसंघ में शामिल करने का अभिलाषी हो गया, इसके विपरीत बिस्मार्क इन प्रदेशों को प्रशा में सम्मिलित करने के अतिरिक्त उन्हें परिसंघ के विनाश तथा जर्मनी से आस्ट्रिया के बहिष्कार का साधन बनाना चाहता था। जर्मन राष्ट्र एक बार चाहता था और बिस्मार्क उससे बिल्कुल भिन्न दूसरी बात। यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है कि बिस्मार्क ने बड़ी दृढ़ता और कुशलता के साथ जनता और यूरोपीय राज्यों के विरोध पर विजय प्राप्त करके राष्ट्र को जबरदस्ती उस लक्ष्य पर पहुँचा दिया, जिसे उसने स्वयं उसके लिए स्थिर किया था।

प्रशा के नाविक विकास के लिए ये डचियाँ बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती थीं क्योंकि इनकी भौगोलिक स्थिति सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। वह किसी भी प्रकार उनको प्रशा में शामिल करना चाहता था। एक बार उसने कहा भी था, **"मैंने प्रारम्भ से ही डचियों पर प्रशा द्वारा अधिकार करने का विचार किया था।"** किन्तु अभी वह बल प्रयोग कर इन्हें प्राप्त करने की स्थिति में नहीं था। यदि वह अकेला ही डेनमार्क पर आक्रमण करता, तो आस्ट्रिया अवश्य उसका विरोध करता, इसलिए उसने आस्ट्रिया को मिलाकर उसकी सहायता से अपना काम निकालना चाहा। 16 जनवरी, 1864 को आस्ट्रिया और प्रशा के बीच समझौता हुआ, जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि वे जर्मन डायट के हस्तक्षेप के बिना डचियों की समस्या को हल करेंगे।

किन्तु डचियों के भविष्य के विषय में किसी भी बात का निश्चय नहीं हुआ, केवल इसके कि ये दोनों राज्य पारस्परिक समझौते द्वारा डचियों के भविष्य का निर्णय करेंगे, इसी अनिश्चय की स्थिति का आगे चलकर बिस्मार्क ने लाभ उठाया। प्रशा की आस्ट्रिया के साथ वह मैत्री बिस्मार्क की पहली विजय थी।

**डेनमार्क से युद्ध** – फरवरी, 1864 ई. में आस्ट्रिया और प्रशा की संयुक्त सेनाओं ने डेनमार्क पर आक्रमण कर दिया। डेनमार्क को कहीं से सहायता प्राप्त नहीं हुई और वह पराजित हो गया। वियेना संधि के अनुसार डेनमार्क को, श्लेसविंग तथा हॉल्सटाइन के साथ ही लावेनबुर्ग की डची आस्ट्रिया तथा प्रशा के संयुक्त अधिकार में छोड़ देनी पड़ी और उनकी वे जो कुछ व्यवस्था करें, उसे स्वीकार करने का वचन देना पड़ा।

## गेस्टाइन समझौता

यह समझौता बिस्मार्क की एक महान कूटनीतिक विजय थी। बिस्मार्क ने डचियों का प्रश्न जर्मन परिसंघीय सभा से बिल्कुल हटा दिया और आगस्टनबर्ग के ड्यूक को भी अपने मार्ग से अलग कर दिया। आस्ट्रिया को हॉल्सटाइन अवश्य मिला, किन्तु वहाँ की जनता जर्मन थी तथा वह प्रशा की सीमा से सटा हुआ था और आस्ट्रिया के दक्षिण में दूरस्थ स्थित था। ऐसी स्थिति में वहाँ आस्ट्रिया के विरुद्ध असंतोष फैलाने एवं उपद्रव करवाने तथा इस प्रकार आस्ट्रिया को भड़काने की बिस्मार्क को अच्छी सुविधा थी, इस समझौते के पश्चात् बिस्मार्क ने कहा था, **"मुझे विश्वास नहीं था कि ऐसा भी कोई आस्ट्रियन राजनयिक होगा, जो इस समझौते**

**पर हस्ताक्षर कर सके।"** बिस्मार्क ने स्वयं कहा था कि इस समझौते के द्वारा हमने **"दरार को कागज से ढँक दिया है।"**

डेनमार्क को दोनों डचियों से बाहर करने तथा उन्हें आस्ट्रिया और प्रशा के मध्य परस्पर बाँट लेने के समझौते के साथ ही जर्मनी के एकीकरण का प्रथम चरण समाप्त होता है।

NOTES

## 3.6 लुईस फिलिप की आन्तरिक और विदेश नीति (LOUIS PHILLIPE & HIS INTERNAL & FOREIGN POLICY)

### बोध प्रश्न

1. जर्मनी के एकीकरण की बाधाएँ लिखिए?

.......................................................................................................

.......................................................................................................

.......................................................................................................

2. बिस्मार्क के उदय एवं एकीरकण का वर्णन कीजिए?

.......................................................................................................

.......................................................................................................

.......................................................................................................

### लुई फिलिप का प्रारंभिक जीवन (1773—1850)

लुई फिलिप जब फ्रांस के सिंहासन पर बैठा तो उसकी आयु सत्तावन वर्ष की थी। फ्रांस की राज्य क्रांति के समय उसकी आयु सोलह वर्ष की थी। उसने जैकोबिन दल की सदस्यता ग्रहण की थी, इसके बाद वह सेना में भर्ती हो गया तथा वमी और जेमाप्प के युद्ध में प्रसिद्धि प्राप्त की थी, परन्तु जब वह फ्रांस से भाग गया और इक्कीस वर्ष वह निर्वासित जीवन व्यतीत करता रहा। नेपोलियन के पतन के बाद वह वापस फ्रांस लौटा। अपनी जब्त सम्पत्ति का बडा भाग उसने वापस प्राप्त कर लिया। पुनः स्थापना के काल में उसने पेरिस के राजभवन में निवास किया, इस अवधि में उसने फ्रांस के मध्यवर्गीय धनी लोगों से अपनी घनिष्ठता स्थापित की धीरे—धीरे उसके आसपास राजसत्तावादी, उदारवादी तथा बुद्धिवादी इत्यादि सभी प्रकार के लोग एकत्र होने लगे, इस सम्पर्क का उसे राजनीतिक फायदा हुआ।

अगस्त, 1830 को लुई फिलिप को फ्रांस की प्रतिनिधि सभा ने **'फ्रेंच जनता का राजा'** चुना और लुई ने संविधान के अनुसार शासन चलाने की प्रतिज्ञा की। प्रतिनिधि सभा के 430 सदस्यों में से केवल 219 ने उसके पक्ष में मतदान किया था। लुई फिलिप से फ्रांस में वैधानिक राजतंत्र का युग प्रारंभ हुआ जो 18 वर्षो तक चलता रहा।

### चारित्रिक विशेषताएँ

उसने 1789 से 1830 की फ्रांस की क्रांति तक का ठीक से अध्ययन किया था, इस कारण से उसके चरित्र में सन्तुलन तथा समझदारी का गुण पैदा हो गया था। वह दैवी और निरंकुश राजतंत्र की अपेक्षा लोकतंत्रवादी विचारों को मानता था। उसका जीवन सादा और सरल दिखाई देता था। जन सामान्य से निःसंकोच मिलना, पैदल ही पेरिस की सडकों पर घूमना उसकी चरित्र की विशेषताऐं थी। उसके चरित्र की विशेषताएँ बताते हुए **अलेक्सिस द तोकविल** ने लिखा है कि– "उसमें वे सभी गुण और दोष थे जो मध्यवर्ग के लोगों में पाये जाते हैं। उसका जीवन नियमित, सरल एवं संयमित था। वह कानून का समर्थक तथा अति विरोधी था। उसमें कोई बहुत हानिकारक बुराइयाँ नहीं थीं। उसकी स्मरण शक्ति अपूर्व थी। वह बुद्धिमान, चतुर एवं नमनीय

प्रकृति का व्यक्ति था। धर्म के क्षेत्र में वह अठारहवीं शताब्दी के समान अश्रद्धालुओं और राजनैतिक क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के समान संशयवादी।''

## 3.7 लुई की आन्तरिक नीति

NOTES

लुई के सिंहासन पर चुने जाने के बाद 1814 के संशोधित विधान के अनुसार शासन चलाना प्रारंभ किया, इस विधान के अनुसार 'राज्य की सुरक्षा हेतु अध्यादेश जारी करने' तथा अध्यादेश द्वारा कानून के प्रस्ताव रखने का अधिकार दोनों सदनों को दिया गया। राजा को जो वार्षिक राशि दी जाती थी वह कम कर दी गई। फ्रांस के चेम्बर ऑफ कामर्स की आनुवांशिक सदस्यता समाप्त कर दी गयी तथा राजा को सम्पूर्ण जीवन के लिए सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। सरकारी सेंसरों को जो पुस्तकों तथा समाचार–पत्रों पर थे उन्हें हटा लिया गया। विधान मण्डल के सदस्यों के चुनाव सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन किया गया। अब सदस्यता की आयु 40 वर्ष से कम करके 30 वर्ष कर दी गई। अभी तक 300 फ्रेंक प्रत्यक्ष कर देने वाले ही मतदान के अधिकारी थे, परन्तु अब 200 फ्रेंक कर देने वाले भी मताधिकार का प्रयोग कर सकते थे।

लुई ने **'न्याय संगत मध्यम मार्गी नीति'** अपनाने का निर्णय किया। उसने प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी विचारधारा के बीच का रास्ता अपनाया, इसका अर्थ था वह न तो प्रतिक्रियावादी नीति अपनायेगा और न सुधारवादी एवं लोकतंत्रात्मक नीति अपनायेगा, इस सम्बन्ध में देवेन्द्रसिंह चौहान ने लिखा है कि– ''व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि पुरानी व्यवस्था लौटकर नहीं आयेगी, सामन्त वर्ग और पादरी वर्ग को उनके पुराने पदों पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न नहीं किया जायेगा और शासन 1814 के संशोधित विधान के अनुसार चलेगा। साथ ही वह यह भी मानता था कि जो भी सुधार किये जा चुके हैं उसके पश्चात् अधिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है, इसके अनुसार लोकतंत्र का मार्ग अर्थ अराजकता, अव्यवस्था और हिंसा का मार्ग था। अतः वह लोकतांत्रिक सिद्धांतों से दूर रहना चाहता था, इस प्रकार शास्त्र धनी मध्यम वर्ग के हाथों में रहा, जिसमें अधिकतर सम्पन्न साहूकार, बैंकर, व्यापारी एवं अन्य व्यवसायी लोग सम्मिलित थे।''

## 3.8 लुई की विदेश नीति

लुई की विदेश नीति शांतिपूर्ण थी। उसे विदेश–नीति के क्षेत्र में कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहली समस्या यूरोपीय राज्यों के विरोध का निराकरण करने की और उसकी मान्यता प्राप्त करने की थी, इसके लिए उसने विभिन्न राज्याध्यक्षों को पत्र लिखे तथा विशेष दूत भेजे और अपनी शांतिपूर्ण नीति को समझाने का प्रयास किया। दूसरी समस्या फ्रांस की जनता की अपेक्षा थी जो नेपोलियन के समान गौरवपूर्ण विदेश नीति अपनाने के पक्ष में थी। अपने शासन के प्रारंभ से ही वह यूरोपीय राज्यों को यह समझाने का प्रयत्न करने लगा कि उसकी विदेश नीति का उद्देश्य क्या है? शांति के साथ–साथ उसकी राष्ट्रीय विदेश नीति समझौतावादी भी थी। उसने युद्ध से बचने के लिए कई बार इसका प्रयोग किया।

### सहयोग की नीति

फ्रांस के लुई की ब्रिटेन के साथ मित्रतापूर्ण सहयोग उसकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण अंग था क्योंकि आस्ट्रिया और रूस को नवीन राजतंत्र पर विश्वास नहीं था।

**बेल्जियम की स्वतंत्रता** :– 1830 में बेल्जियम में क्रांति हुई। बेल्जियम की स्वतंत्रता के लिए उसने तैलीरॉ को ब्रिटेन भेजकर इस सम्बन्ध में ब्रिटेन और फ्रांस के सहयोग का प्रस्ताव भेजा ब्रिटेन ने स्वीकार कर लिया। लन्दन में पाँच बड़े राज्यों का सम्मेलन हुआ ।

समझौते में निर्णय किया गया कि प्रशा और आस्ट्रिया की सम्मिलित सेना डेनमार्क पर आक्रमण करके इस समस्या का अन्तिम रूप से समाधान करेगी। डेनमार्क पर आक्रमण करने का बहाना यह लिया गया कि उसने लन्दन की संधि को भंग किया है। अतः उन्होंने डेनमार्क

से मांग की कि 1863 के नवम्बर संविधान को 48 घण्टों के अन्दर रद्द कर दें। किन्तु नवम् क्रिश्चियन ने उनकी माँगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

फरवरी, 1864 में आस्ट्रिया और प्रशा में डेनमार्क के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, इससे पहले कि लन्दन में इस विषय पर कोई वार्तालाप हो, डेनमार्क पराजित हुआ। डेनमार्क को अकेले ही युद्ध करना पड़ा था। 30 अक्टूबर, 1864 को हुए एक संधि के द्वारा डेनमार्क के श्लेसविंग, हॉलस्टीन तथा लक्सेम्बर्ग की डचियों को प्रशा और आस्ट्रिया के संयुक्त अधिकार में निर्णय लिए छोड़ दिया और उनके द्वारा किये जाने वाले प्रबंध को स्वीकार करने पर सहमत हो गया।

### गेस्टाइन समझौता

आस्ट्रिया और प्रशा एक वर्ष से भी अधिक समय तक वार्तालाप द्वारा डचियों के विषय में जब कोई निर्णय न ले सके तो उन्होंने निश्चय किया कि इन डचियों पर संयुक्त रूप से दोनों देशों का अधिकार बना रहे, किन्तु प्रशासनिक दृष्टि से उसका विभाजन कर लिया जाए। यह निर्णय आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ और प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम ने गेस्टाइन नामक स्थान पर 14 अगस्त, 1865 को किया था, इस समझौते के अनुसार हॉलस्टीन पर प्रशा का अधिकार माना गया। कील के बन्दरगाह पर आस्ट्रिया और प्रशा का संयुक्त अधिकार रहा, किन्तु प्रशा को वहाँ की किलेबन्दी करने का भी अधिकार दिया गया, इसके अतिरिक्त प्रशा को समुद्र तक नहर के निर्माण का अधिकार मिला। लाबेनबर्ग को प्रशा ने खरीद लिया।

बिस्मार्क ने गेस्टाइन समझौते से अपने वास्तविक उद्देश्य की भी संभावना उत्पन्न कर ली, इस समझौते में संघर्ष की पर्याप्त सम्भावना थी। उसने समझौता हो जाने के बाद कहा था मुझे विश्वास नहीं था कि ऐसा भी कोई आस्ट्रियन राजनयिक होगा जो इस प्रकार के समझौते पर हस्ताक्षर कर सके।

## 3.9 आस्ट्रिया और प्रशा का युद्ध

गेस्टाइन समझौते के बाद आस्ट्रिया और प्रशा के संबंध बिगडने लगे और 10 माह बाद ही दोनों देशों के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। बिस्मार्क जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में आस्ट्रिया को अपना शत्रु मानता था अतः वह आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालकर प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना चाहता था, परन्तु आस्ट्रिया से युद्ध आरम्भ करने से पूर्व वह अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में आस्ट्रिया को मित्रहीन करना चाहता था। अतः बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति द्वारा आस्ट्रिया को मित्रहीन बनाने के लिए निम्नलिखित कार्य कियेः–

(i) बिस्मार्क ने सर्वप्रथम रूस को अपने पक्ष में करना चाहा।

(ii) इसके अतिरिक्त बिस्मार्क ने फ्रांस से मित्रता अथवा तटस्थता की स्थिति स्वीकार कराने की दृष्टि से 1865 में विआरिज नामक स्थान पर नेपोलियन तृतीय से विचार–विमर्श किया।

(iii) बिस्मार्क ने इटली के प्रमुख पीडमॅन्ट–सार्डीनिया के राजा विक्टर मेनुअल से मित्रता करने का प्रयत्न किया। इटली आस्ट्रिया का शत्रु देश था, इस कारण इस मैत्री सम्बन्ध से बिस्मार्क को बहुत लाभहोने की संभावनायें नजर आ रही थीं।

(iv) इस समय तक इंग्लैण्ड यूरोपीय समस्याओं में नहीं पडना चाहता था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महारानी विक्टोरिया को भी हेनोवर के राज्य से कोई लगाव नहीं था। अतः इंग्लैण्ड से बिस्मार्क स्वाभाविक तटस्थता की आशा रखता था।

बिस्मार्क ने पोलैण्ड में हुए विद्रोह को दबाने में रूस की मदद की थी, इसलिए वह आश्वस्त था कि रूस उसके विरुद्ध नहीं जायेगा। इंग्लैण्ड 'शानदार अलगाववाद' की नीति पर चल रहा था इसलिए उसे इंग्लैण्ड से भी यूरोपीय मामलों में हस्तक्षेप की आशा नहीं थी, किन्तु उसे नेपोलियन तृतीय के बारे में चिन्ता थी। उसने स्वयं नेपोलियन से मिलन का निश्चय किया। बियारिज में

दोनों की 1865 ई. में भेंट हुई। यद्यपि इसका कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं है किन्तु नेपोलियन ने बिस्मार्क को आस्ट्रिया के विरुद्ध होने वाले युद्ध में तटस्थ रहने का सम्भवतः आश्वासन दे दिया था। नेपोलियन को यह आशा अवश्य रही होगी कि तटस्थता का बिस्मार्क कोई न कोई मूल्य अवश्य अदा करेगा। फ्रांस को सम्भवतः बेल्जियम अथवा राइन के कुछ प्रदेश दिलाने की आशा बिस्मार्क ने दिलायी। दोनों में बिस्मार्क निश्चय ही होशियार और कुशल कूटनीतिज्ञ था इसलिए उसे नेपोलियन को भुलावे में रखने में कठिनाई नहीं हुई, इस समझौते के पश्चात् बिस्मार्क ने इटली के प्रमुख राज्य पीडमॉन्ट–सार्डीनिया से मित्रता करने का प्रयत्न किया। सार्डीनिया का आस्ट्रिया से क्षुब्ध होने का एक कारण यह भी था कि आस्ट्रिया ने इटली के प्रदेश वेनिशिया पर प्रभुत्व कर रख था। बिस्मार्क ने इसका लाभ उठाया और आस्ट्रिया के विरुद्ध सहयोग के लिए सार्डीनिया और प्रशा में अप्रैल, 1866 ई. में एक गुप्त समझौता हुआ, इसके अनुसार यह तय किया गया कि यदि प्रशा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दे, तो इटली भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर देगा, इस कार्य के बदले में विजयी होने पर प्रशा ने इटली को वेनिशिया दिलाने का वचन दिया, इस तरह बिस्मार्क की कूटनीति ने आस्ट्रिया को मित्रहीन बना दिया। तत्पश्चात् बिस्मार्क आस्ट्रिया पर आक्रमण का रास्ता ढूँढ़ने लगा। युद्ध का बहाना ढूँढ़ना कोई मुश्किल काम नहीं था। मोल्तके के नेतृत्व में प्रशा की सेना हर स्थिति के लिए तैयार थी। शासक विलियम तथा उसका परिवार यद्यपि युद्ध के लिए तैयार नहीं था, किन्तु बिस्मार्क ने उसे समझाया और अन्त में राजा ने युद्ध की स्वीकृति दे दी।

इधर हॉल्सटाइन की जनता आस्ट्रिया के शासक से नाखुश थी और उधर आस्ट्रिया कील में ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग के पक्ष में चल रहे आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था। आस्ट्रिया ने श्लेसविंग और हॉल्सटाइन के प्रश्न पर निर्णय करने के लिए जर्मनी की संघीय संसद को आमंत्रित किया। आस्ट्रिया के संकेत पर संसद ने निर्णय किया कि डेनमार्क से लिए गए तीनों प्रदेश आगस्टनबर्ग के ड्यूक को दे दिए जायें। बिस्मार्क ने इस निर्णय का विरोध किया। 9 अप्रैल, 1866 को, प्रशा के प्रतिनिधि ने जर्मन डायट में एक प्रस्ताव द्वारा जर्मन परिसंघ की व्यवस्था में सुधार की माँग की। 6 जून को प्रशा ने हालस्टीन पर आक्रमण कर दिया। आस्ट्रिया की सेना बिना संघर्ष के पीछे हट गयी। 11 जून को आस्ट्रिया ने संघीय डायट में प्रस्ताव रखा कि संघ प्रशा के विरुद्ध सेना भेजी है। बिस्मार्क ने संघीय डायट के इस निर्णय को अवैध ठहराते हुए जर्मन परिसंघ को समाप्त करने की घोषणा कर दी और साथ ही आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दी। 16 जून को प्रशा की सेनाओं ने सैक्सनी में प्रवेश किया। 20 जून, 1866 को इटली ने भी आस्ट्रिया का साथ दिया। हेनोवर, सेक्सनी और हेस–कैसल ने भी प्रशा के विरुद्ध अपनी सेनाएँ भेज दीं।

प्रशा ने प्रारम्भ में हेनोवर, हेस कैसल ओर ड्रेसडेन पर अधिकार कर लिया, इसके अतिरिक्त प्रशा की सेना की एक टुकड़ी राजकुमार फ्रेडरिक के नेतृत्व में साइलेशिया की ओर से आस्ट्रिया क्षेत्र में आगे बढ़ रही थी। दो अन्य टुकड़ियॉ सैक्सनी होती हुई, बोहेमिया की ओर बढ़ रही थीं। प्रशा यह चाहता था कि ये सभी सेनाएँ बोहेमिया में एक साथ मिल जायें और आस्ट्रिया पर आक्रमण करें।

आस्ट्रिया को केवल इटली के विरुद्ध सफलता मिली। इटली की सेनाएँ बुरी तरह पराजित हुई, परन्तु आस्ट्रिया की सेना को विभाजित रखकर इटली ने उसकी पराजय को आसान बना दिया था। प्रशा की सैनिक शक्ति के आगे आस्ट्रिया टिक नहीं पा रहा था। प्रशा के पास ऐसी राइफलें थीं, जो कई फायर कर सकती थीं, जबकि आस्ट्रिया की सेना में एक ही बार चलने वाली राइफलें थीं। युद्ध का निर्णायक संघर्ष सेडोवा या कोनिग्राज में 3 जुलाई, 1866 ई. को सम्पन्न हुआ, इस लड़ाई में आस्ट्रिया की सेना पूर्ण रूप से पराजित हो गई, इस युद्ध में आस्ट्रिया की सेना की हालत इतनी खराब हो गई कि प्रशा का सम्राट विलियम प्रथम तो आस्ट्रिया की राजधानी वियेना पर अधिकार करना चाहता था, परन्तु बिस्मार्क युद्ध रोकने के प्रश्न पर सम्राट को मनाने में सफल रहा।

आस्ट्रिया और प्रशा का यह युद्ध केवल सात सप्ताह तक चला, इसी कारण युद्ध को **"सात सप्ताह का युद्ध"** कहते हैं। मुख्य युद्ध 16 जून, 1866 को आरम्भ हुआ था और 3 जुलाई, 1866 को समाप्त हो गया।

## प्राग में सन्धि

**प्राग की संधि (23 अगस्त, 1866) :–** निकोल्सबर्ग की अस्थायी संधि के बाद 23 अगस्त, 1866 को प्राग की स्थायी संधि हुई। जिसके अनुसार :–

1. आस्ट्रिया ने जर्मन परिसंघ को समाप्त करने की स्वीकृति दे दी। आस्ट्रिया को 30 लाख पौण्ड युद्ध का हर्जाना भी देना पड़ा।
2. श्लेसविंग, हालस्टीन, हेनोबर, हेस कैसल, नासो, हेसडाम्सटेट का उत्तरी भाग और फ्रेंकफर्ट नगर प्रशा में सम्मिलित कर लिये गये।
3. आस्ट्रिया ने यह स्वीकार कर लिया कि मेन नदी के उत्तर में स्थित राज्यों का एक नया संघ उत्तरी जर्मन परिसंघ, प्रशा के नेतृत्व में बनाया जा सकता है, इस नये संघ में आस्ट्रिया का कोई स्थान नहीं था।
4. मेन नदी के दक्षिण में स्थित राज्यों वादेन, बुटेंमबर्ग और बेवेरिया की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की गई तथा उन्हें उनकी इच्छानुसार अलग संघ बनाने का अधिकार दिया गया।
5. वेनेशिया इटली को दे दिया गया।

## युद्ध के परिणाम

इस युद्ध में यूरोपीय इतिहास का एक नवीन अध्याय शुरू हुआ। प्रशा की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई। उसकी सीमाएँ दूर तक फैल गई। प्रशा को 27,000 वर्ग मील का भू–भाग प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण उत्तरी जर्मनी का संगठन करके प्रशा उसका अध्यक्ष बन बैठा, इस युद्ध के पश्चात् प्रशा को यूरोप का शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण राज्य और बिस्मार्क को यूरोप का प्रभावशाली राजनीतिज्ञ समझा जाने लगा। प्रशा के उदारवादी अपना उदारवाद भूल गये और बिस्मार्क के कट्टर समर्थक बन गये, इस युद्ध से आस्ट्रिया की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा और उसके साम्राज्य के संगठन पर भी प्रभाव पड़ा, इस युद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला की यूरोपीय राजनीति के रंगमंच पर फ्रांस एवं उसके शासक नेपोलियन तृतीय का प्रभाव कम हो गया।

## उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण

आस्ट्रिया प्रशा युद्ध से प्रशा की सीमा का अत्यधिक विस्तार हुआ। जिन जर्मन राज्यों ने युद्ध में आस्ट्रिया का साथ दिया था उन्हें प्रशा में मिला लिया गया, इसके परिणामस्वरूप प्रशा का राज्य राइन नदी से बाल्टिक सागर तक पहुँच गया, इस स्थिति में शेष जर्मन राज्य को संगठित करना कठिन कार्य नहीं था।

बिस्मार्क के सम्मुख जर्मन राज्यों को संगठित करने का प्रश्न अहम था। वह सभी जर्मन राज्यों को मिलाकर जर्मन संघ का निर्माण करना चाहता था, किन्तु इस समय बिस्मार्क के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था, क्योंकि दक्षिण जर्मनी के राज्यों की इच्छा के विरुद्ध इन्हें संघ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। अतः बिस्मार्क ने शेष 21 राज्यों को मिलाकर प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ का गठन किया। उत्तरी जर्मन संघ के निर्माण से उत्तरी जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया।

किन्तु जर्मनी का एकीकरण पूर्ण होने के लिए दक्षिणी जर्मनी के राज्यों, यथा-- बवेरिया, वुर्टमबर्ग, वादेन तथा हेस का इस नये संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था, इस नये जर्मन राज्य संघ के संविधान का भी निर्माण किया गया। संघ के लिए दो सदनों की संघीय संसद गठित की गयी, इसमें प्रथम लोकसभा या राइखस्टेग थी, जो वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होती थी और दूसरी संघीय परिषद् या बुन्देसराट थी, जिसमें संघ के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि

सम्मिलित होते थे। प्रशा का शासक वंशानुगत अध्यक्ष माना गया और यह भी निश्चित किया गया कि संघ का प्रथम चांसलर प्रशा का प्रधानमंत्री बिस्मार्क हो, इस प्रकार संघ की कार्यपालिका संघ के अध्यक्ष एवं चांसलर बिस्मार्क के नियंत्रण में थी, किन्तु संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों के आन्तरिक शासन के अधिकार को पूर्ववत् बनाए रख गया।



## 13.10 तृतीय चरणः फ्रेंको–प्रशियन युद्ध एवं फ्रैंकफर्ट की संधि

### फ्रेंको–प्रशियन युद्ध पृष्ठभूमि

बिस्मार्क की यह अवधारणा थी कि प्रशा और फ्रांस का युद्ध इतिहास में तर्क निहित है, इससे स्पष्ट होता है कि बिस्मार्क शुरू से ही फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की तैयारी का मानस बना चुका था, परन्तु यह भी कहा जाता है कि दोनों राष्ट्रों के बीच होने वाले युद्ध के वार में बिस्मार्क ने कोई सुविचारित योजना के तहत काम नहीं किया। बिस्मार्क ने उत्तरी जर्मनी को प्रशा के अनुरूप प्रशासन में ढालकर सैनिक तैयारी शुरू कर दी। अब बिस्मार्क के पास लगभग 10 लाख की एक आक्रामक सेना थी। एक ओर प्रशा की ताकत बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ बन जाने से फ्रांस में बड़ा रोष उत्पन्न हो रहा था। फ्रांस के राजनीतिज्ञों को ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रशा की विजय से न केवल फ्रांस की अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा का आघात पहुँचा वरन् उसकी सुरक्षा के लिए भी भय उत्पन्न हो गया। फ्रांस के कई राजनीतिज्ञ सेडोवा का प्रतिशोध लेने की माँग कर रहे थे। नेपोलियन तृतीय अपनी नष्ट होती हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करना चाहता था। कालान्तर में दोनों राष्ट्रों को 'युद्ध' अपनी–अपनी समस्याओं के समाधान का उपाय नजर आया।

### युद्ध के कारण

लक्जेमबर्ग का प्रश्न – नेपोलियन तृतीय ने अपने प्रभाव एवं प्रतिष्ठा मे वृद्धि के लिए 1867 ई. में हॉलैण्ड के शासक से लक्जेमबर्ग खरीदने के लिए बातचीत की। वह लक्जेमबर्ग को बेचने के लिए तैयार भी हो गया, किन्तु इसी समय लक्जेमबर्ग को हस्तान्तरण की योजना जर्मनी में प्रकट हो गयी, जिससे सर्वत्र फ्रांस का विरोध हुआ। जर्मनी के समाचार–पत्रों में भी इसका तीव्र विरोध किया गया। ऐसी स्थिति में बिस्मार्क ने बाध्य होकर फ्रांस को सूचित किया कि वह लक्जेमबर्ग के हस्तान्तरण की स्वीकृति नहीं दे सकता। हॉलैण्ड के शासक ने भी अब लक्जेमबर्ग हस्तान्तरित करने से इन्कार कर दिया। फ्रांस में अब इसकी तीव्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। नेपोलियन ने कहा कि 'बिस्मार्क ने मेरे साथ छल किया' स्थिति को बिगड़ती देख तटस्थ राष्ट्रों के सहयोग से लक्जेमबर्ग की समस्या पर विचार करने के लिए यूरोपीय राज्यों का सम्मेलन बुलाया गया। मई, 1867 ई. में लन्दन सम्मेलन में लक्जेमबर्ग को तटस्थ राज्य मान लिया गया, इस प्रकार नेपोलियन द्वारा लक्जेमबर्ग प्राप्त करने का प्रयत्न विफल हो गया।

**स्पेन की गद्दी का प्रश्न** – 1868 ई. में स्पेन साम्राज्ञी ईसाबला द्वितीय के विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया और उसे हटा दिया। स्पेन के सिंहासन के लिये योग्य उत्तराधिकारी की खोज आरम्भ हुई, जो लगभग दो वर्ष तक चलती रही। अन्त में प्रशा के शासक के सम्बन्धी राजकुमार लियोपोल्ड को स्पेन का सम्राट बनाने का निश्चय किया। प्रारम्भ में तो लियोपोल्ड ने इस आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया, किन्तु 19 जून, 1870 ई. को उसने अपनी स्वीकृति दे दी। लियोपाल्ड का नाम प्रस्तावित कराने में बिस्मार्क का हाथ बताया जाता है। लियोपोल्ड के शासक बनने से प्रशा के प्रभाव में वृद्धि होती, किन्तु जब पेरिस में यह सूचना पहुँची कि लियोपोल्ड ने स्पेन का शासक बनने की स्वीकृति दे दी है, तो फ्रांस में बड़ी उत्तेजना फैल गई। फ्रांस में उच्च राजनयिक सूत्रों में यह चर्चा थी कि लियोपोल्ड को स्पेन की गद्दी मिल जाने से प्रशा की शक्ति बढ जायेगी और फ्रांस की सुरक्षा का एक भयंकर खतरा उत्पन्न हो जायेगा। फ्रांस ने अपने राजदूत बेनेदिती को विरोध प्रकट करने को कहा। राजदूत ने प्रशा के सम्राट से एम्स नामक स्थान पर भेंट की,

लिए उम्मीदवार बनने की अनुमति नहीं देगा। फ्रांसीसी राजदूत ने एम्स में सम्राट से भेंट की और उपर्युक्त आधार पर वचन माँगा किन्तु सम्राट ने कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया, इस बातचीत का विवरण तार द्वारा बिस्मार्क के पास भेजा गया। तार पहुँचने के साथ ही बिस्मार्क के चेहरे पर उदासी छा गयी किन्तु शीघ्र ही उसे एक युक्ति सूझी कि यदि तार को संक्षिप्त रूप से प्रकाशित कर दिया जाये, तो फ्रांस और जर्मनी दोनों ओर उत्तेजना फैल जायेगी। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि तार का एक शब्द भी बदला नहीं गया, उसे केवल संक्षिप्त कर दिया गया, किन्तु तार की पूरी इबारत में जमीन आसमान का फर्क था।

एम्स के तार के संक्षिप्त रूप से प्रकाशन का वही प्रभाव हुआ, जिसकी बिस्मार्क को आशा थी। उस दिन 14 जुलाई थी और राष्ट्रीय पर्व था। फ्रेंच जाति पहले से ही उत्तेजित थी। कोई सरकार राष्ट्रीय माँग की कैसे अवहेलना कर सकती थी ? तीन बार मंत्रिपरिषद् की बैठकें हुई। फ्रेंच विदेश मंत्री ग्रेमाँ का युद्ध के पक्ष में दबाव था। अंत में युद्ध करना निश्चित हुआ। 15 जुलाई, 1870 ई. को युद्ध की घोषणा कर दी गयी।

फ्रांस ने बड़े जोश के साथ युद्ध आरम्भ किया था, किन्तु वह युद्ध के लिए तैयार नहीं था। सच तो यह है कि फ्रांस को यह युद्ध अपनी अन्तरराष्ट्रीय सुरक्षा और सम्मान की पुनः प्रतिष्ठा के लिए लड़ना पड़ा। फ्रांस की सेना के पास पर्याप्त रसद और कपड़े तक नहीं थे। दूसरी ओर प्रशा ने युद्ध की पूरी तैयारी कर रखी थी। युद्ध मंत्री वॉन ने और प्रधान सेनापति वॉन मोल्टके के प्रयासों से प्रशा की सेना बहुत प्रशिक्षित और दक्ष हो गई थी। बिस्मार्क ने 1866 ई. के युद्ध के बाद ही दक्षिणी राज्यों की प्रशा विरोधी और आस्ट्रिया समर्थक मनोवृत्ति को परिवर्तित करने की सुफल चेष्टा की थी। उसने नेपोलियन की लोभी मनोवृत्ति के बारे में उनको यह कहकर अवगत कर दिया था, कि नेपोलियन राइन प्रान्त पर अपना अधिकार करने को उत्सुक है।

बिस्मार्क ने अपनी कुशल कूटनीति द्वारा इटली को पहले ही वेनीशिया दिलवाकर फ्रांस से पृथक कर दिया था। अब बिस्मार्क ने इटली को आश्वासन दिया कि जब फ्रांस और प्रशा का युद्ध छिड़े, तो इटली रोम राज्य पर अधिकार कर ले। यह स्मरणीय है कि 1849 ई. के बाद से फ्रांसीसी सेनाएँ पोप के राज्य रोम की सुरक्षा कर रही थीं।

इस प्रकार बिस्मार्क ने कूटनीति का सहारा लेकर युद्ध को जीतने की पूर्व तैयारी कर ली थी। बिस्मार्क ने उपयुक्त परिस्थिति का अपनी बुद्धि, दूरदर्शिता और कौशल से शीघ्र लाभ उठाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का सफल प्रयास किया।

## युद्ध

जर्मनी की सेनाओं ने तीन ओर से फ्रांस पर आक्रमण किया। अगस्त के प्रारम्भ में बीसेनबर्ग में फ्रांसीसी पराजित हुए और प्रशा की सेना अल्सास तक पहुँच गई। 18 अगस्त के युद्ध में पुनः फ्रांसीसी सेना की हार हुई। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण युद्ध सेडान में 1 सितम्बर, 1870 ई. को हुआ, इसमें प्रशा के सेनापति वॉन मोल्टके ने फ्रांसीसी सेना को इतनी बुरी तरह परास्त किया कि नेपोलियन तृतीय को 83,000 सेना सहित आत्मसमर्पण करना पडा, इस प्रकार फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य का पतन हुआ और 4 सितम्बर, 1870 ई. को फ्रांस में गणतंत्र की स्थापना हो गई। नवम्बर, 1870 ई. में यह खबर मिलने पर कि प्रशा की सेना ने मट्ज नगर पर अधिकार कर लिया है।

नए गणतंत्र ने युद्ध जारी रखने का निश्चय किया किन्तु जर्मन सेनाएँ आगे बढती रहीं और पेरिस तक पहुँच गयीं। 18 जनवरी, 1871 ई. को वार्साय के विख्यात राजमहल में बिस्मार्क ने जर्मनी के सम्राट विलियम प्रथम का राज्याभिषेक किया। पेरिस के पतन के शीघ्र पश्चात फ्रांस प्रशा युद्ध समाप्त हो गया।

## फ्रेंकफर्ट की संधि

26 फरवरी को शांति संधि की आरम्भिक शर्तों पर हस्ताक्षर हुए और 10 मई को फ्रेंकफर्ट की संधि के रूप में दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने इसे स्वीकार कर लिया, इस संधि के अनुसार–

NOTES

1. फ्रांस को मटास तथा स्टासबर्ग सहित एल्लास और लारेन का भाग जर्मनी को देना पड़ा। केवल वेलफर्ट का किला फ्रांस के अधिकार में छोड़ दिया गया।
2. फ्रांस को युद्ध के हर्जाने के रूप में 20 करोड़ पौण्ड जर्मनी को देना स्वीकार करना पड़ा, इसके भुगतान के तीन वर्ष की अवधि निश्चित कर दी गई। क्षतिपूर्ति होने तक जर्मन सेना का फ्रांस में रहना भी निश्चित हुआ।

युद्ध की समाप्ति के कुछ समय पूर्व बिस्मार्क के दक्षिण जर्मनी के राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। अप्रैल 1871 में जर्मनी के नये विधान की घोषण हुई जिसके अनुसार दक्षिणी जर्मनी के समस्त राज्य, बबेरिया, बुटेम्बर्ग, बादेन तथा हेस का दक्षिणी भाग जर्मनी के संघीय साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया, इस प्रकार प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का राजनैतिक एकीकरण पूर्ण हुआ। बिस्मार्क को इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तीन युद्ध लड़ने पड़े।

जर्मनी के इस एकीकरण के लिए क्रांतिकारियों के अतिरिक्त, विचारकों, इतिहासकारों ने भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान दिया, इस प्रकार संगठित जर्मनी यूरोप का प्रतिष्ठित और शक्तिशाली राज्य बन गया और बिस्मार्क भी यूरोप का सबसे अधिक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ बन गया, इस 1870 से 1890 तक के काल को बिस्मार्क युग कहा गया है।

## युद्ध के परिणाम

युद्ध समाप्ति से कुछ पहले बिस्मार्क ने दक्षिण जर्मनी के राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित करने की स्वीकृति ले ली थी। अप्रैल, 1871 ई. में जर्मनी के नये विधान की घोषणा हुई, जिसके अनुसार दक्षिण जर्मनी के समस्त राज्य, जैसे बवेरिया, वुर्टमबर्ग, बादेन तथा हेस का दक्षिणी भाग जर्मनी संघीय साम्राज्य में शामिल कर लिये गये। अब एकीकृत जर्मनी यूरोप का प्रतिष्ठित और शक्तिशाली राज्य बन गया। प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण पूर्ण हुआ, इसी एकीकरण के लिए बिस्मार्क को तीन युद्ध करने पड़े थे और इसी के लिए 1848 ई. के क्रांतिकारियों, विचारकों, लेखकों, कवियों, दार्शनिकों और इतिहासकारों ने भगवान से प्रार्थना की थी और अपनी–अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य भी किया था। प्रशा की संधि के फलस्वरूप जर्मनी की एकता आधी से अधिक स्थापित हो चुकी थी, लेकिन अभी दक्षिण के चार जर्मन राज्य बवेरिया बाडन बूटेम्बर्ग और हेस्सेडार्मस्टाट जर्मन संघ से अलग थे। बिस्मार्क इन्हें भी अपने संघ में मिलाना चाहता था। वह जानता था कि उसके इस कार्य में फ्रांस बाधक बनेगा।

### बोध प्रश्न

1. लुई की आंतरिक नीति का वर्णन कीजिए?

.................................................................................................................................

.................................................................................................................................

.................................................................................................................................

2. लुई की विदेश नीति का वर्णन कीजिए?

.................................................................................................................................

.................................................................................................................................

## 3.11 ''बिस्मार्क आधुनिक जर्मनी का निर्माता''

1871 ई. में जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हुआ, इसके पश्चात जर्मनी को आधुनिक विश्व में एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभारने का श्रेय बिस्मार्क को है उसने 'राइखस्टेग' में भाषण देते हुए कहा था **''आरम्भ से ही मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य जर्मनी को एकता के**

**सूत्र में बाँधना और एकीकरण के पश्चात् उसे शक्तिशाली एवं समृद्ध बनाना तथा एकीकरण को ऐसा रूप देना रहा है कि उससे सम्बन्धित सभी लोगों की सद्भावना के साथ वह चिरस्थायी हो सके।''**

NOTES

बिस्मार्क की आन्तरिक नीति का मुख्य उद्देश्य साम्राज्य को सुसंगठित एवं शक्तिशाली बनाना था। साथ ही वह समान प्रशासकीय, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा विभिन्न राज्यों की विविधताओं एवं पृथकता को समाप्त करना चाहता था, इसीलिये उसने केन्द्रीय संस्थाओं का निर्माण आरंभ किया जिससे साम्राज्य के सभी भागों में एक ही प्रकार की व्यवस्था स्थापित हो गयी।

बिस्मार्क ने जर्मनी को एक शक्तिशाली और आधुनिक राष्ट्र बनाने के लिए कई तरह के प्रयास किये। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उसने जर्मनी का नया संविधान बनाया जो 16 अप्रैल, 1871 को स्वीकृत हो गया। उसमें अध्यक्ष के स्थान पर सम्राट और परिसंघ के स्थान पर साम्राज्य शब्द का प्रयोग किया गया। साम्राज्य में 25 राज्य एवं एल्सस लोरेन का राजकीय प्रदेश सम्मिलित था, इस संविधान में सम्राट को विस्तृत अधिकार प्रदान किये थे और उसके साथ ही चान्सलर को भी शासन तंत्र में प्रमुख स्थान दिया गया था। वह संसद के समक्ष अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं था। राइखस्टेग को कानून बनाने और बजट को स्वीकृत करने के अधिकार दिये गये थे।

किन्तु राइखस्टेग का कार्यकारिणी पर कोई नियंत्रण नहीं था, इस तरह बिस्मार्क ने सम्राट को सर्वोपरि बनाये रखने का प्रयत्न किया।

बिस्मार्क लोकतंत्रीय प्रणाली में विश्वास नहीं करता था, इसलिए उसने उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की माँग को कभी स्वीकार नहीं किया। उसकी गृह नीति का मुख्य उद्देश्य जर्मनी को शक्तिशाली बनाना था। उसका यह भी मानना था कि कुशल राजतंत्र के अधीन ही जर्मनी उन्नति कर सकता है और शक्तिशाली बन सकता है। साथ ही वह सैनिक–शक्ति को राज्य की शक्ति एवं प्रभाव का मुख्य आधार मानता था।

बिस्मार्क ने जर्मनी को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए कई तरह के सुधार कार्य किये। उसने 1871 से 1879 के बीच राष्ट्रीय उदारवादी दल के सहयोग से अपने सुधारों को कियान्वित किया। सर्वप्रथम उसने सम्पूर्ण देश में समान मुद्रा पद्धति प्रचलित की। अलग–अलग राज्यों की जो पृथक–पृथक मुद्रायें थीं उन्हें अमान्य घोषित किया गया तथा उनके स्थान पर 'मार्क' नामक एक राष्ट्रीय मुद्रा प्रचलित की। दूसरा कार्य जो उसने किया वह था बैंकों को राज्यों के नियंत्रण से मुक्त करना। साम्राज्य परिषद के नियंत्रण में रखना। 1873 में इम्पीरियल बैंक भी स्थापित किया गया और बैंकिंग के नियमों में संशोधन करके सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए एक समान बैंकिंग नियम लागू किये गये।

वह राष्ट्रीय विकास के लिए रेलों का राष्ट्रीयकरण करना चाहता था, परन्तु वह ऐसा नहीं कर सका, इसका कारण था उद्योगपतियों एवं जागीरदारों का विरोध परन्तु उसने सम्पूर्ण साम्राज्य की रेलों पर नियंत्रण रखने के लिए एक केन्द्रीय रेलवे बोर्ड स्थापित कर दिया, इसी तरह डाक–तार सेवाओं पर भी केन्द्रीय नियंत्रण किया गया।

जर्मनी के एकीकरण तक वहाँ अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग दीवानी और फौजदारी संहितायें प्रचलित थीं उसने सम्पूर्ण साम्राज्य में एक समान कानून एवं न्याय व्यवस्था स्थापित की। बवेरिया, वुर्टबर्ग आदि अपनी पृथक कानून पद्धति को बनाये रखना चाहते थे, किन्तु राष्ट्रवादी सम्पूर्ण साम्राज्य में एकीकृत कानून व्यवस्था चाहते थे। उदारवादी नेता एडवर्ड लास्कर के प्रयत्नों से बिस्मार्क ने राज्यों के प्रचलित दीवानी और फौजदारी के कानूनों का एकीकरण कर दिया। उसने एक व्यवहार संहिता भी बनवायी और 1877 में दण्ड संहिता भी तैयार करवायी।

NOTES

1872 में उसे कैथोलिकों के विरुद्ध संघर्ष या **'कूल्टूर'** के मान आरम्भ करना पड़ा, क्योंकि कैथोलिक लोग राजसत्ता को सर्वोच्च नहीं मानते थे, इस संघर्ष में उसको पराजित होना पड़ा और पोप से समझौता करना पड़ा, इसके पश्चात् उसने समाजवादियों को समाप्त करने का प्रयास किया, क्योंकि वह समाजवाद को राष्ट्र के लिए अहितकर मानता था। समाजवाद के प्रभाव को कम करने के लिए उसने विस्तृत सामाजिक सुधार किये।

1879 में **'संरक्षण की नीति'** आर्थिक क्षेत्र में लागू की, इसका उद्देश्य जमींदारों के हितों की सुरक्षा करना था। संरक्षण की नीति से उद्योगों को प्रोत्साहन मिला तथा देश खाद्यान्नों एवं अन्य उपयोगी वस्तुओं के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो गया बिस्मार्क यह भी जानता था कि एक शक्तिशाली राष्ट्र को सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होना चाहिये।

अपने कार्यकाल के अन्तिम समय में उसने उपनिवेश स्थापित करने में बड़ी सक्रियता दिखाई, इस तरह हम देखते हैं कि बिस्मार्क ने जर्मनी को चहुँमुखी विकास की ओर अग्रसर किया तथा उसे स्थिरता और सुदृढ़ता भी प्रदान की।

## 3.12 सारांश

नेपोलियन ने जर्मनी में 39 राज्यों का एक संघ बनाकर राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया। इस संघ को राइन संघ कहा गया नेपोलियन के इस कार्य से जर्मनी की जनता में एकता की भावना का संचार हुई इटली के एकीकरण के समान ही जर्मनी का एकीकरण भी उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास की प्रमुख घटना थी।

## 3.13 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) जर्मनी के एकीकरण के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिये।

(2) जर्मनी के एकीकरण में बिस्मार्क की भूमिका की समीक्षा कीजिये।

### लघु उत्तीय प्रश्न

(1) जर्मनी के एकीकरण के प्रारंभिक प्रयासों का वर्णन कीजिये।

(2) वास्तविक एकीकरण होने से पूर्व जर्मनी की स्थिति की विवेचना कीजिये।

(3) 'बिस्मार्क आधुनिक जर्मनी का निर्माता था', समीक्षा कीजिये।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

### विकल्प

1. फ्रेंकफर्ट की संधि हुई थी--

(अ) 10 मई (ब) 2 फरवरी (स) 2 मार्च (द) 12 दिसम्बर

2. जर्मनी का एकीकरण हुआ'

(अ) 1840 (ब) 1850 (स) 1861 (द) 1871

**उत्तर** 1. (ब), 2. (अ)

## 3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी-- डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

# अध्याय-4 पूर्वी समस्या
## (THE EASTERN QUESTION) (1815 - 1890)

NOTES

### इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 परिचय
4.2 पूर्वी समस्या
4.3 यूनान (ग्रीस) का स्वातन्त्र्य युद्ध
4.4 मेहमत अली और तुर्की
4.5 मुहम्मद अली और तुर्की के बीच संघर्ष
4.6 स्वेज नहर का निर्माण और यूरोपीय प्रतिद्वंद्विता
4.7 क्रीमिया का युद्ध
4.8 क्रीमिया युद्ध के कारण
4.9 क्रीमिया का युद्ध
4.10 क्रीमिया युद्ध के परिणाम
4.11 1871 से पूर्वी समस्या
4.12 कुस्तुन्तुनिया सम्मेलन
4.13 रूस तुर्की युद्ध
4.14 बर्लिन कांग्रेस (1878)
4.15 बर्लिन सम्मेलन की समीक्षा।
4.16 यंग तुर्क आंदोलन
4.17 बाल्कन युद्ध 1912—13
4.18 द्वितीय बाल्कन युद्ध
4.19 बाल्कन युद्धों के परिणाम
4.19 सारांश
4.20 अभ्यास प्रश्न
4.21 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इस योग्य हो सकेंगे कि-

1 क्रीमिया युद्ध एवं घटनाक्रम का मूल्यांकन कर सकेंगे।

2. स्वेजनहर का निर्माण एवं प्रतिद्वंद्विता से परिचित हो सकेंगे।

3. बाल्कन युद्ध एवं परिवारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

NOTES

## 4.1 परिचय

आधुनिक युग की विश्व–राजनीति के इतिहास में पूर्वीय समस्या (Eastern Question) महत्वपूर्ण है। 1871 से 1914 तक के काल में इस समस्या ने विश्व की राजनीति को बहुत प्रभावित किया, इसी समस्या के कारण प्रथम विश्वयुद्ध उत्पन्न हुआ। जिसे तुर्की के ''उत्तराधिकार का युद्ध'' (War of the Turkish Succession) भी कहा जाता है।

**''यूरोप में तुर्की के साम्राज्य के क्रमशः विघटन से उत्पन्न शून्यता को भरने की समस्या को निकट पूर्व या पूर्वी समस्या कहते हैं।''**

**डॉ. मिलर :– ''अठारहवीं शताब्दी के आरंभ से ही तुर्की सामाज्य में निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे थे। आस्ट्रिया और रूस तुर्की की इस पतनोन्मुख स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न करने लगे। आरंभ में रूस ने ही इस ओर पहल की थी।''**

**ओटोमन साम्राज्य–** तुर्की साम्राज्य (Ottoman Empire) की स्थापना इस्लामी साम्राज्य–विस्तार की कहानी का एक भाग है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में, जब इस्लामी साम्राज्य का पतन से बचा लिया। 1071 में पूर्वी रोमन साम्राज्य पर उसका भयंकर आक्रमण हुआ था। सारे यूरोप के लिए यह एक बहुत बड़े पैमाने पर चुनौती थी। पंद्रहवीं शताब्दी में पूर्वी रोमन साम्राज्य दुर्बल हो जाने पर 1453 में सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने उस पर आक्रमण कर उसकी राजधानी कान्सटेटिनोपल पर अधिकार जमा लिया और तुर्क साम्राज्य (Ottoman Empire) की स्थापना की। यूरोप में तुर्कों का प्रवेश यहीं से शुरू होता है।

तुर्क लोग बढ़ते रहे और अगले दो शताब्दियों के अंदर दक्षिण–पूर्व यूरोप का एक बहुत बड़ा भू–भाग उनके कब्जे में आ गया। सोलहवीं शताब्दी तक तुर्क सुल्तान की सेनाएँ बराबर वेनिस की रिपब्लिक तथा ऑस्ट्रियन साम्राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करके तुर्क साम्राज्य का विस्तार करती चली गयीं। 1683 में तुर्क सेनाओं ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर भी आक्रमण किया। लेकिन यह आक्रमण सफल नहीं हो सका। हप्सिबुर्ग राजाओं ने डटकर तुर्की का मुकाबला किया। फलस्वरूप तुर्क के लोग यूरोप में और आगे नहीं बढ़ सके। लेकिन इस समय तक बाल्कन प्रायद्वीप का अधिकांश भाग तुर्की साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था और साम्राज्य की सीमाएँ जर्मनी से जा मिली थीं। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्ष में तुर्क साम्राज्य की उत्तरी सीमा नीस्टर नदी के किनारे जा लगी। डैन्यूब नदी के उत्तर में स्थित माल्डेविया और बेलेशिया भी तुर्की साम्राज्य के अंग बना लिये गये। मान्टेनिग्रो तथा डाल्मेशिया नामक दो छोटे राज्यों के अतिरिक्त शेष समस्त बाल्कन प्रायद्वीप पर तुर्की का हरा झंडा लहराने लगा। ईजिप्टयन सागर के सभी द्वीपों पर भी तुर्की का अधिकार हो गया। उधर एशिया माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, मेसोपोटेमिया, आरमेनिया और अरब तथा अफ्रीकी महादेश में मिस्र और एल्जीयर्स विशाल तुर्की साम्राज्य के अंग बने हुए थे, इस प्रकार इस विशाल साम्राज्य में विभिन्न जातियों, प्रजातियों और सभ्यताओं के लोग बसे हुए थे। तुर्क लोग अपने विजित प्रदेशों की अन्य मतावलंबी जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते तथा उन पर भीषण अत्याचार करते रहते थे।

### बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्क लोग

तुर्क लोग एशियाई मुसलमान थे जिन्होंने चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में दक्षिण–पूर्वी यूरोप को विजय कर लिया था। सोलहवीं शताब्दी में इनका साम्राज्य पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और उत्तर–पूर्व में काला सागर के उत्तर के प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर में पवित्र रोमन साम्राज्य तक फैला हुआ था। यूरोप के इस भाग में, जो बाल्कन प्रायद्वीप कहलाता है, उसमें अनेक प्रजातियों के लोग रहते थे, जैसे – ग्रीक रूमानियन, अल्बेनियन तथा महान स्लाव प्रजाति के लोग जो

ईसाई थे और भाषा, रक्त आदि में तुर्की से भिन्न थे। तुर्क शासक उनका सब प्रकार से शोषण करते रहे। वे अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट थे और अत्याचार से मुक्ति पाने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

## रोग ग्रस्त तुर्क साम्राज्य



अठारहवीं शताब्दी में तुर्क साम्राज्य में निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे। उस पर उत्तर–पश्चिम की ओर से आस्ट्रिया और उत्तर की ओर से रूस भी काला सागर की ओर दबाव बढ़ाने लगा, इस समय रूस ने काला सागर के उत्तरी तट पर अपना अधिकार कर लिया। अठारहवीं शताब्दी में ये दोनों शक्तियाँ कभी अलग–अलग और कभी मिलकर तुर्की के विरुद्ध युद्ध करती रहीं और तुर्की की शक्ति धीरे–धीरे क्षीण होती रही। अठारहवीं शताब्दी से ही जब तुर्की की शक्ति क्षीण होने लगी तो वह रोगी समझा जाने लगा ओर यूरोप के सामने यह समस्या आयी कि उनकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य का क्या होगा। प्रायः दो शताब्दियों तक साधारणतया यही माना जाता रहा कि उसका स्थान यूरोप की महान शक्तियों में से कोई एक ले लेगी, इस प्रकार इस समय तक तुर्की की समस्या का संबंध बाल्कन प्रायद्वीप के विभिन्न लोगों से नहीं वरन् यूरोप के राज्यों से और मुख्यतया रूस से था।

## आस्ट्रिया और रूस के हित

यूरोप की महान शक्तियों में से जो तुर्की का स्थान ले सकती थीं, वे स्वभावतः उसकी पड़ोसी शक्तियाँ – आस्ट्रिया तथा रूस ही थीं। आरम्भ में इस ओर रूस का ध्यान ही अधिक रहा, आस्ट्रिया का मुख्य ध्यान दूसरी ओर था। महान पीटर से लेकर प्रथम एलेक्जेण्डर तक रूस निरन्तर दक्षिण की ओर बढ़ता रहा और यूरोपीय शक्तियाँ भी तुर्की की समस्या में उस ओर विशेष ध्यान दिये बिना केवल रूस के हित की प्रधानता मानती रहीं। कभी–कभी फ्रांस जिसके तुर्की से अच्छे सम्बन्ध थे और मिस्र से व्यापारिक हित भी थे, अवश्य विरोध करता रहा। यूरोपीय शक्तियों की इस तटस्थता से लाभ उठाकर रूस आगे बढ़ता रहा और 1774 तक काला सागर के किनारे तक उसने अपना अधिकार जमा लिया। उस वर्ष केनार्डजी की संधि के द्वारा उसने अजोव लेकर और अपने व्यापारिक जहाजों के निर्बाध आने–जाने का अधिकार प्राप्त कर केवल काला सागर अपना अधिकार ही मजबूत कर नहीं कर लिया वरन् कुस्तुन्तुनिया में अपना स्थायी दूतावास खोलने का तथा तुर्की के साम्राज्य में रहने वाली यूनानी चर्च के ईसाइयों के संरक्षण का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। बाल्कन प्रायद्वीप के निवासी अधिकतर स्लाव प्रजाति के थे। रूस का जार स्लाव होने के नाते एक प्रकार से स्लाव परिवार का प्रमुख था और इस कारण स्लाव लोगों को उससे सहानुभूति की आशा थी, इस संधि से जो अधिकार रूस को मिले, वे स्पष्ट नहीं थे, परन्तु इन दोनों बातों के कारण रूस को तुर्की में बडा महत्वपूर्ण स्थान हो गया। वह तुर्की की प्रजा के अधिकाश का संरक्षक बन गया और उसे बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी इच्छानुसार हस्तक्षेप करने की सुविधा प्राप्त हो गयी। 1783 में द्वितीय कैथरीन ने बाउग नदी के पूर्व का टार्टार्स प्रदेश छीन लिया और 1792 में जासी की संधि के द्वारा नीस्टर नदी तक अपनी सीमा का विस्तार कर लिया।

**टिलसिट की संधि** (1807) के अनुसार नेपोलियन ने जार को तुर्की के मॉल्डेविया और वालेशिया के प्रदेश दिलवाने का वचन दिया था। ये प्रदेश तो उसे नहीं मिले, परन्तु 1812 में बुखारेस्ट की संधि के अनुसार उसने तुर्की से बेसरेबिया का प्रदेश छीन लिया और इसके साथ ही सर्बिया के लोगों को अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्रता दिलवा दी।

## फ्रांस और इंग्लैण्ड

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक रूस दक्षिण की ओर निरन्तर बढ़ता रहा तथा तुर्की के साम्राज्य को क्षति पहुँचाकर उसे कमजोर करता रहा, परन्तु यूरोपीय राज्यों ने उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, फ्रांस अपने हितों की ओर से बेखबर नहीं था। मिस्र

NOTES

में उसके व्यापारिक केथरीन तथा आस्ट्रिया के सम्राट जोजेफ में तुर्की साम्राज्य के विभाजन के संबंध में बातचीत चल रही थी तो फ्रांस के लिए तुर्की की उपयोगिता की ओर फ्रेंच लोगों का ध्यान सबसे अधिक नेपोलियन ने आ.ष्ट किया और नेपोलियन के विचारों तथा कार्य–कलापों को देखकर अंग्रेजों का ध्यान भी उधर गया। अंग्रेज व्यापारी तो भूमध्यसागर के पूर्वीय भाग के व्यापार का महत्व बहुत पहले से समझते थे, परन्तु अंग्रेज राजनीतिज्ञों को तुर्की में होने वाली घटनाओं का इंग्लैण्ड के लिए राजनीतिक महत्व बहुत देर में समझ आया। कनिष्ठ पिट पहला अंग्रेज राजनीतिज्ञ था जिसने तुर्की की समस्या का इंग्लैण्ड के लिए महत्व समझा था। उसने पार्लियामेण्ट का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया तो अंग्रेज अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए चिन्तित अवश्य हुए, फिर भी उन्होंने तुर्की की समस्या के महत्व को नहीं समझा। तुर्की की निर्बलता रूस की दक्षिण की ओर प्रगति तथा फ्रांस की भूमध्यसागर संबंधी आकांक्षाएँ अंग्रेज राजनीतिज्ञों को उस समय तक भी एक स्थानीय समस्या (यूरोपीय नहीं) दिखायी देती थी। जब 1821 में ग्रीस के लोगों ने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह किया तब कहीं जाकर इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ जागे और तुर्की की समस्या की ओर ध्यान देने लगे।

## 4.2 पूर्वी समस्या

इस प्रकार धीरे–धीरे तुर्की की समस्या, जो आरंभ में केवल एक स्थानीय समस्या समझी जाती रही, एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या बन गयी। यह समस्या इतिहास में 'पूर्वीय समस्या' के नाम से प्रसिद्ध है। मुख्यतः यह तुर्की की समस्या थी। प्रश्न यह था कि बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की का जो क्षय हो रहा था और जिसका पतन निश्चित था, स्थान कौन लेगा? इस प्रश्न ने समय–समय पर भिन्न–भिन्न रूप धारण किये। आरंभ में तो इस प्रश्न का रूप एक और तो तुर्की तथा दूसरी ओर आस्ट्रिया एवं वेनिस का संघर्ष था। बाद में यह प्रश्न के बाद जब रूस की गतिविधि से यह प्रकट होने लगा कि वह तुर्की की उत्तरोत्तर आस्ट्रिया तथा फ्रांस अपने हितों से प्रेरित होकर उस ओर ध्यान देने लगे और यह समस्या अन्तरराष्ट्रीय बन गयी, इस प्रकार इस ओर तो अपनी–अपनी कमजोरी के कारण तुर्की को बाह्य आक्रमण का भय था, उधर दूसरी ओर, उसी कमजोरी के कारण, साम्राज्य में रहने वाली विभिन्न ईसाई जातियाँ भी, जो फ्रेंच क्रांति द्वारा प्रसारित स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं से होकर स्वतंत्र होने का स्वप्न देख रही थीं, अपने स्वप्न को सत्य करने का प्रयत्न करने लगीं और जो समस्या विभिन्न राज्यों के विरोधी हितों के संघर्ष के कारण जटिल हो रहीं थी और अधिक जटिल हो गयीं।

### बाल्कन राष्ट्र

हम ऊपर बता चुके हैं कि बाल्कन प्रायद्वीप में अनेक प्रजातियाँ रहती थीं जो सब प्रकार से तुर्क लोगों से भिन्न थीं। ये प्रजातियाँ ईसाई थीं और मुसलमान तुर्कों के अत्याचारी शासन एवं शोषण से दुखी थीं। जब तक तुर्क लोग शक्तिशाली रहे तब तक तो वे सब लोग दबे रहे, किन्तु जब सुल्तान की विलासिता, सेना की अनुशासनहीनता तथा शासन की भ्रष्टता एवं दुर्बलता के कारण साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी तो उनमें आशा का संचार हुआ, इसके साथ ही क्रांतिकारी विचारों से उन्हें प्रेरणा भी मिली और वे स्वतंत्र होने का स्वप्न देखने लगे। वियना–कांग्रेस में इन प्रजातियों का प्रश्न उठा था, परन्तु उस पर विचार नहीं किया गया जिससे उन लोगों को बड़ी निराशा हुई। किन्तु अब उनमें स्वतंत्रता की भावना जाग्रत हो चुकी थी और उन्होंने स्वयं ही अपने पैरों पर खड़े होकर प्रयत्न शुरू किया।

### सर्बिया का सफल विद्रोह

जिन दिनों यूरोप के सभी राज्य नेपोलियन का दमन करने के प्रयत्न कर रहे थे, उन्हीं दिनों सर्बिया के किसान लोग **कारा जॉर्ज** नामक एक बडे पराक्रमी देशभक्त कृषक नेता के नेतृत्व में तुर्की के विरुद्ध उठ खडे हुए। उन्हें रूस के जार से सहायता की आशा थी, परन्तु उनकी आशा पूरी नहीं हुई, फिर भी उन्होंने बडी वीरता से युद्ध किया और तुर्कों को सर्बिया

से बाहर निकाल दिया, परन्तु इसके बाद सर्ब लोग आपस में ही लड़ने लगे और उनका पक्ष कमजोर पड़ गया। रूस ने उनकी सहायता तो नहीं की थी, परन्तु 1812 में उसने बुखारेस्ट की संधि के अनुसार तुर्की को विवश करके सर्बिया के लोगों को आंतरिक स्वशासन के कुछ अधिकार दिला दिये। किन्तु अगले ही वर्ष सुल्तान ने फिर से सर्बिया पर अधिकार कर लिया और बड़ी निर्दयतापूर्वक शासन प्रारंभ किया, इस पर 1815 में सर्ब लोग फिर बिगड़ खड़े हुए, इस समय कारा जार्ज कारागार में था और विद्रोह का नेता मिलोश ओब्रीनोविच था जो कारा जॉर्ज का प्रतिद्वंद्वी था। वह युद्ध करता रहा और अन्त में उसे कुछ सफलता प्राप्त हुई। 1817 में बेलग्रेद में एक राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन हुआ जिसने तुर्की की अनिच्छापूर्ण स्वीकृति से ओब्रीनोविच को अपना राजा चुन लिया और राजा का पद उसके वंश में वंशानुगत कर दिया, सर्बिया को स्थानीय शासन के कुछ अधिकार मिले और उस सुल्तान की संप्रभुता कायम रही। 1826 में रूस ने तुर्की को दबाकर सर्बिया को अपने संरक्षण में लेकर उसे प्रायः पूर्ण आंतरिक स्वशासन प्रदान की, इस प्रकार रूस की सहायता से 1830 तक सर्बिया आंतरिक शासन में पूर्णरूप से स्वतंत्र हो गया, यद्यपि नाममात्र को उस सुल्तान की सम्प्रभुता बनी रही और उसने प्रति वर्ष सुल्तान को भेंट देना स्वीकार किया, इस प्रकार तुर्की साम्राज्य का विघटन आरंभ हुआ और उसमें से पहला राज्य उत्पन्न हुआ।

## 4.3 यूनान (ग्रीस) का स्वातन्त्र्य–युद्ध

### ग्रीस में राष्ट्रीयता की जागृति

इन्हीं दिनों ग्रीस में राष्ट्रीय आंदोलन बढ़ रहा था। ग्रीस के लोगों की दशा साम्राज्य के अन्य लोगों की अपेक्षा अच्छी थी। तुर्क लोगों ने दबाया भी था, परंतु कई बातों में उनके साथ अच्छा व्यवहार किया था। उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता थी, शासन प्रबन्ध में भी उनका हाथ था और वे ऊँचे–ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। भूमध्यसागर के व्यापार में भी वे काफी भाग लेते थे जिसके कारण वे समृद्ध भी काफी थे। अच्छे नाविक होने के कारण तुर्की के बेड़े में अधिकतर यूनानी मल्लाह ही थे। उन्हें केवल वार्षिक भेंट देनी पड़ती थी। वे सब यूनानी चर्च के अनुरागी थे और समान धार्मिक जीवन के कारण उनमें जातीय एकता की अनुभूति भी थी। उस समय यूनानी भाषा का संस्कार तथा पुनरुत्थान करने के लिए बौद्धिक आंदोलन चल रहा था जिससे राष्ट्रीय चेतना बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी परतंत्रता बहुत अखरती थी और उनमें तुर्कों के शासन से स्वतंत्र होकर प्राचीन यूनानी साम्राज्य का पुनरुद्धार करने की इच्छा जाग्रत हो रही थी। फ्रेंच क्रांति की भावनाओं ने इच्छा को और तीव्र कर दिया। उन दिनों इंग्लैण्ड तथा फ्रांस में अनेक व्यक्ति ऐसे थे जिनमें यूनानी सभ्यता के प्रति श्रद्धा थी। उनसे खुल्लम–खुल्ला प्रोत्साहन मिला। स्वतंत्रता की प्राप्ति के उद्देश्य से गुप्त समितियाँ बनने लगीं जिनमें मुख्य 'मित्र समाज' था और जिसका निर्माण 1814 में ओडेसा में चार व्यापारियों ने किया था। शीघ्र ही इस समाज में देश के अंदर तथा बाहर से प्रमुख यूनानी लोग सम्मिलित हो गये और कहा जाता है कि चार–पाँच वर्ष में ही उनके सदस्यों की संख्या दो लाख तक पहुँच गयी थी। उसका उद्देश्य यूनान से तुर्कों को निकालना तथा प्राचीन यूनानी साम्राज्य की पुनर्स्थापना करना था।

### स्वतन्त्रता–संग्राम का प्रारंभ

यूनानी नेताओं की योजना बाल्कन प्रायद्वीप की समस्त ईसाई प्रजातियों को तुर्कों के विरुद्ध एक साथ खड़ा करने की थी, परन्तु इस योजना में उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि तब तक अन्य प्रजातियों में राष्ट्रीय जागृति नहीं थी जितनी यूनानियों में थी, इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रजातियाँ अपने पुराने पारस्परिक वैमनस्य के कारण ग्रीस का नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार भी नहीं थीं, इस कारण यूनानियों ने अन्य प्रजातियों के सहयोग के बिना में स्वातन्त्र्य युद्ध चल रहा था, और स्पेन, पुर्तगाल तथा इटली में विद्रोह की आग सुलग रही थी। इन प्रयत्नों से प्रोत्साहित होकर उन्होंने 1821 में अपने स्वातंत्र्य–संग्राम का श्रीगणेश कर दिया।

**मोल्डेविया में** – स्वतंत्रता–संग्राम के आरंभ का सर्वप्रथम अवसर 1821 में मिला जब अल्बानिया में जनीना का सूबेदार अली पाशा विद्रोही हो गया, इससे प्रोत्साहित होकर माल्डेविया में रहने वाले यूनानियों ने हेप्सिलाण्टी के नेतृत्व में, रूस की सहायता की आशा से, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। किंतु विद्रोहियों के दुर्भाग्य से उस समय लाइबेख की कांग्रेस हो रही थी, जहाँ यूनानी आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति होते हुए भी एलेक्जेण्डर ने मेटरनिख के प्रभाव में आकर उसका साथ नहीं दिया और तुर्की ने उन्हें महीनों के अंदर ही परास्त कर दिया।

**ग्रीस में** – मोल्डेविया के विद्रोह के दमन के पूर्व ही अप्रैल में मोरिया तथा ईजियन सागर के द्वीपों में एक बड़े पैमाने पर विद्रोह आरंभ हो गया था। यह विद्रोह बड़ा भयंकर था। विद्रोहियों के पास कोई सुसंगठित सेना नहीं थी, परन्तु उनमें राष्ट्रीयता का जोश था और वे अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे। प्राचीन यूनानी सभ्यता में श्रद्धा रखने वाले असंख्य व्यक्ति पश्चिमी यूरोप से ग्रीस की सहायता करने आ पहुँचे। बाहर से स्वयं सेवक इतनी बड़ी संख्या में आये थे कि सुल्तान यह शिकायत करने लगा कि मुझे अपनी विद्रोही प्रजा का ही नहीं अपितु यूरोपीय संघ का भी मुकाबला करना पड़ रहा है। सुल्तान इस विद्रोह के लिए तैयार नहीं था। उसकी अधिकांश सेना अली पाशा से लड़ने में लगी हुई थी, अतः वह विद्रोहियों का ठीक तरह से मुकाबला नहीं कर सका और यूनानियों ने मुसलमानों की हत्या करना आरंभ कर दिया। उन्होंने मेसीडोनिया का कत्लेआम बोल दिया जिसका उत्तर तुर्कों ने थिसेली तथा मेसीडानिया में यूनानियों की हत्या से दिया। यूनानियों ने इस प्रकार स्वतंत्रता के पवित्र नाम पर निर्दोष लोगों की हत्या का कलंक लगाया और जो स्वतंत्रता का युद्ध था, वह विनाश का युद्ध बन गया।

## यूनानियों की पराजय

इस स्थिति में सुल्तान ने 1824 में मिस्र के अपने सूबेदार मुहम्मद अली से सहायता माँगी। मुहम्मद अली कहने को तो सुल्तान का सामन्त था, परन्तु वह स्वतंत्र था और सुल्तान से सहायता के बदले में मोरिया, सीरिया तथा दमिश्क की सूबेदारी देने का वचन प्राप्त करके ही उसने अपने पुत्र अब्राहीम पाशा को एक यूरोपीय ढंग पर शिक्षित एवं सुसज्जित सेना के साथ भेजा, जिसने बड़ी निर्दयता के साथ विद्रोह को दबा दिया। 1826 में मिर्सालांघी का पतन हो गया, 1807 में एथेन्स भी विद्रोहियों के हाथ से निकल गया और यूनानियों की पराजय निश्चित दिखायी देने लगी किंतु इसी समय यूरोपीय सत्ताओं ने हस्तक्षेप किया और पासा पलट गया।

## यूरोपीय सत्ताओं का हस्तक्षेप

ग्रीस के विद्रोह का प्रश्न यूरोपीय सत्ताओं के सामने लाइबेख की कांग्रेस में ही उपस्थित हो गया था। मेटरनिख की दृष्टि में यूनानी विद्रोही थे और सुल्तान को उनका दमन करने का अधिकार था, अतः वह हस्तक्षेप करने के विरुद्ध था। जार प्रथम एलेक्जेण्डर भी उससे सहमत हो गया। उधर इंग्लैण्ड हस्तक्षेप न करने की नीति का समर्थक था ही। केसलरी और उसके बाद कैनिंग दोनों ही अन्य राज्यों में उस समय तक हस्तक्षेप करने के विरोधी थे जब तक संधि द्वारा स्वीकृत दायित्वों का निर्वाह करने के लिए हस्तक्षेप आवश्यक न हो जाये, इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया दोनों ही समझते थे, कि यूनानियों की सफलता का अर्थ होगा तुर्की का विनाश और उनके विनाश से उत्पन्न होने वाली अन्तरराष्ट्रीय कठिनाइयों से दोनों ही डरते थे, अतः दोनों ने इस बात का प्रयत्न किया कि इस मामले से यूरोप की सत्तायें दूर रहें और कुछ अंश तक उन्हें इसमें सफलता भी प्राप्त हुई, परन्तु इस प्रश्न को बिल्कुल अलग रखना असंभव था। कुछ ही दिन बाद रूस का रुख बदलने लगा। रूस की परंपरागत नीति दक्षिण की ओर बढने की थी और आगे बढने के लिए यह बड़ा उपयुक्त अवसर था। सुल्तान ने हस्तक्षेप के लिए उसे एक बहाना भी दे दिया था। उसने कुस्तुन्तुनिया के पेट्रिआर्क को, जो ऑर्थोडॉक्स चर्च का अध्यक्ष था मरवा डाला था। जार स्वयं इसी चर्च का अनुयायी था और अपने आपको उसका संरक्षक समझता था। सुल्तान के इस अपराध से रूस में बड़ा रोष फैल रहा था, इसके अतिरिक्त सुल्तान ने पूर्व–संधियों का पालन भी नहीं किया था और उसने कुछ ऐसे यूनानी जहाज

भी पकड़ लिये थे जिन पर रूसी झण्डा फहरा रहा था। इन सब कारणों से रूस ने तुर्की से अपना कूटनीतिक संबंध तोड़ दिया और युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगा। आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड ने सुल्तान को यूनानियों के साथ नरमी का व्यवहार करने तथा रूस को कुछ रियायतें देने के लिए समझाया और किसी प्रकार रूस शांत बना रहा।



## नेवेरिनो की मुठभेड़

ठीक इसी समय दो घटनाएँ ऐसी हो गयीं जिनके कारण स्थिति बिलकुल बदल गयी। अब कैनिंग इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री बन गया था। पहले तो वह भी हस्तक्षेप न करने के पक्ष में था, परन्तु उसने शीघ्र ही (25 मार्च, 1823) यूनानियों को विद्रोही की जगह एक युद्धरत राष्ट्र मान लिया जिससे उनके जहाजों द्वारा जो हानि भूमध्यसागर में अंग्रेजों की हो, उसकी पूर्ति करायी जा सके, इस पर आस्ट्रिया तथा रूस को भी अपनी मनोवृत्ति बदलनी पड़ी और हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी किन्तु हस्तक्षेप किस प्रकार हो इस प्रश्न पर मतभेद रहा। इतने में जार एलेक्जेण्डर का देहान्त हो गया और उसकी जगह उसका भाई प्रथम निकोलस जार बना जो रूस की परम्परागत नीति के अनुसार अपनी ही ओर से हस्तक्षेप करने के पक्ष में था, इस पर कैनिंग ने उससे इंग्लैण्ड तथा रूस दोनों के सम्मिलित हस्तक्षेप का प्रस्ताव किया। 1826 में दोनों ने तुर्की के सुल्तान से ग्रीस को तुर्की के संप्रभुत्व के अन्तर्गत एक अधीन राज्य स्वीकार करने का प्रस्ताव किया, किन्तु सुल्तान ने प्रस्ताव ठुकरा दिया, इस पर इंग्लैण्ड तथा रूस ने 1827 में लन्दन की सन्धि करके ग्रीस को तुर्की के संप्रभुत्व के अन्तर्गत एक राज्य बनाने तथा तुर्की को इसके लिए विवश करने का निश्चय किया। फ्रांस भी इस सन्धि में शामिल हो गया। आस्ट्रिया तथा प्रशा को भी इस कार्यवाही में साथ लेने का प्रयत्न किया गया किन्तु मेटरनिख ने सहयोग करना तो दूर रहा, कैनिंग की नीति को विफल करने के अनेक प्रयत्न किए, इस पर तीनों राज्यों का एक सम्मिलित पत्र सुल्तान को भेजा गया और साथ ही अंग्रेज तथा फ्रेंच बेड़ों को भूमध्यसागर में सतर्क रहने का आदेश दिया गया। मुहम्मद अली के जहाजों ने इस सम्मिलित बेड़े पर नेवेरिनो के बन्दरगाह में गोली चलायी जिस पर युद्ध शुरू हो गया और तुर्की बेड़ा नष्ट कर दिया गया।

## एड्रियानोपल की संधि

(i) इसके अनुसार रूस ने डेन्यूब नदी के अंदर बड़े 'द्वीपों' के अतिरिक्त तुर्की के समस्त विजित छोड़ दिये।

(ii) परन्तु तुर्की को कॉकेशस प्रदेश में जॉर्जिया तथा अन्य प्रान्तों पर रूस का अधिकार स्वीकार करना पड़ा।

(iii) काला सागर तथा डेन्यूब नदी के समस्त तटस्थ देशों के जहाजों के आने–जाने की स्वतंत्रता स्वीकार करनी पडी।

(iv) मोल्डेविया तथा वालेशिया को रूस के संरक्षण में वस्तुतः स्वतंत्रता देनी पड़ी।

(v) तुर्की के अंदर रहने वाले रूसी व्यापारियों पर अपना न्यायाधिकार रूस के राजदूतों को सौंपना पडा।

(vi) ग्रीस के संबंध में लन्दन की संधि को स्वीकार करके वस्तुतः ग्रीस की स्वतंत्रता को स्वीकार करना पड़ा।

## ग्रीस की स्वतंत्रता

मार्च, 1928 में ग्रीस के प्रश्न पर विचार करने के लिए लंदन में बड़े राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें 22 मार्च की संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि ग्रीस स्वतंत्र राज्य होगा, परन्तु तुर्की को वार्षिक भेंट देगा, उसका राजा यूरोपीय सत्ताओं द्वारा चुना जायेगा और उसकी सीमा पश्चिम में आर्टी की खाडी से लेकर पूर्व में वोलो की खाडी तक निश्चित हो गयी।

NOTES

### महत्व

इसका महत्व इस बात में है कि इसने मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी व्यवस्था को घातक चोट पहुँचाई, इंग्लैण्ड और फ्रांस को उदारवाद के पक्ष में लाकर खड़ा कर दिया। तुर्की के साम्राज्य को क्षति पहुँचाने का वह ढंग बताया जिसका विरोधी तथा बाल्कन प्रजातियों ने अनुकरण किया, रूस की नीति को बदल कर उसे तुर्की का विरोधी तथा बाल्कन प्रजातियों का समर्थक बना दिया और अंत में संसार के सामने राष्ट्रीयता की भावना की शक्ति का प्रभावकारी प्रमाण प्रस्तुत किया। उसने तुर्की की दुर्बलता संसार को प्रकट कर दी और इसके साथ ही यह भी प्रकट कर दिया कि तुर्की की समस्या यूरोप की महान जटिल अंतरराष्ट्रीय समस्या थी कि जिससे कई राज्यों के हितों का संबंध था। तात्कालिक रूप में यूनान के राष्ट्रवादियों की सफलता ने अन्य देशों के क्रांतिकारियों को प्रेरणा प्रदान की। 1830 की यूरोपीय क्रांति एवं ग्रीक स्वातन्त्र्य संग्राम में सीधा संबंध था, इस प्रकार यूरोप में राष्ट्रीयता की विजय का प्रारंभ ग्रीस की स्वतंत्रता से हुआ।

यूनान के विद्रोह का प्रश्न यूरोपीय व्यवस्था के सामने लाइबेख कांग्रेस में रखा गया था। मेटरनिख का यह कहना था कि यूनान के मामले में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इंग्लैण्ड की दृष्टि में यूनानियों की सफलता का अर्थ था तुर्की साम्राज्य का विनाश और इस सम्भावना से उसे डर लगता था।

दूसरी ओर यूनानियों की पराजय से रूस में बेचैनी फैल रही थी। रूस तुर्की साम्राज्य का पतन चाहता था। दक्षिण पश्चिम की ओर बढ़ना उसकी मुख्य नीति थी, अतः यूनान का युद्ध उसे एक उपयुक्त अवसर मालूम पड़ रहा था, इसके अतिरिक्त रूस का जार ग्रीक चर्च का प्रधान था और यूनानी लोग ईसाई धर्म की इसी शाखा में विश्वास करते थे, इसी समय ग्रीक चर्च के प्रधान पुरोहित पेट्रिआर्क की तुर्की के सुल्तान की आज्ञा से अप्रैल, 1821 में हत्या कर दी गई। रूस ने तुर्की से राजनयिक संबंध तोड़ लिए तथा एक लाख सैनिक भेज दिए। आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड ने तुर्की के सुल्तान की यूनानियों के साथ अच्छा व्यवहार करने तथा रूस को सन्तुष्ट करने की सलाह दी।

यूनान की समस्या के समाधान के लिए रूस और इंग्लैण्ड के अन्य यूरोपीय राज्यों से सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रशा और आस्ट्रिया सहयोग के लिए तैयार नहीं हुए, किन्तु फ्रांस सहयोग देने को तैयार था, 6 जुलाई, 1827 को रूस, फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच लन्दन की संधि हुई जिसके अनुसार यूनान को तुर्की साम्राज्य के अधीन एक स्वशासित राज्य बनाने का निश्चय किया गया।

तुर्की के सुल्तान ने संयुक्त प्रपत्र में प्रस्तावित योजना को अस्वीकार कर दिया। अतः मित्र राष्ट्रों का सयुक्त जगी बेडा सक्रिया हो गया। दोनो पक्षो के बीच नवोसिनो का युद्ध लड़ा गया। 20 अक्टूबर, 1927 को मिस्र तथा तुर्की को अन्तिम रूप से पराजित कर दिया गया।

अन्ततः 14 सितम्बर, 1829 को विवश होकर तुर्की के सुल्तान को एड्रियानोपल की संधि करनी पड़ी।

यूनान की समस्या ने यह प्रमाणित कर दिया कि निकट पूर्व की समस्या यूरोप की एक महान एवं जटिल अन्तरराष्ट्रीय समस्या थी जिसमें ब्रिटेन, फ्रास, रूस और आस्ट्रिया के स्वार्थ उलझे हुए थे।

## 4.4 मेहमत अली और तुर्की

मेहमत अली अलबानिया का निवासी था। अपनी योग्यता के आधार पर वह तुर्की के सुल्तान के अधीन मिस्र का पाशा बन गया था। यद्यपि वह असभ्य और अशिक्षित था तो भी उसे पाश्चात्य सभ्यता के गुणों की परख थी। उसने फ्रांसीसी विशेषज्ञों को नियुक्त करके मिस्र को एक समृद्धिशाली

एवं शक्तिशाली राज्य बना दिया था। उसने यूनान के स्वतंत्रता के युद्ध के समय तुर्क के सुल्तान की सहायता भी की थी। उसे पुरस्कार के रूप में क्रीट का द्वीप दिया गया था, किन्तु मेहमत अली इस पुरस्कार को अपर्याप्त समझता था। वह सीरिया पर अधिकार करना चाहता था। मेहमत अली तुर्की के सुल्तान की कमजोरियों से भी परिचित था। अतः नवम्बर, 1831 में उसने अपने पुत्र इब्राहिम पाशा को फिलिस्तीन पर आक्रमण करने हेतु भेजा। इब्राहिम ने कुछ ही महीनों में अकरा तथा दमिश्क पर अधिकार कर लिया। साथ ही जाफा, गाजा पर भी अधिकार कर लिया।

इब्राहिम के आक्रमण से तुर्की का सुल्तान महमूद द्वितीय चिंतित हुआ और उसने हुसैन पाशा के नेतृत्व में एक सेना भेजी। इब्राहिम ने उसे पराजित कर दिया। सुल्तान ने उसके बाद रशीद पाशा के नेतृत्व में दूसरी सेना भेजी किन्तु उसको भी इब्राहिम ने परास्त कर दिया और एशिया माइनर में आगे बढ़ने लगा। उससे कुस्तन्तुनिया का मार्ग खुल गया।

ब्रिटेन और फ्रांस से सहायता न पाकर तुर्की को रूसी सहायता स्वीकार करनी पड़ी। रूस का जहाजी बेड़ा बासफोरस पहुँच गया और रूस की सेना ने एशिया माइनर के तट पर अपना पड़ाव डाल लिया। अब इंग्लैण्ड और फ्रांस भी चिंतित हुए और सुल्तान पर दबाव डालने लगे कि वह रूसी सेनाओं को वापस भेज दे, किन्तु रूस उस वक्त तक अपनी सेनाओं को हटाने के पक्ष में नहीं था जब तक कि इब्राहिम फारस के पहाड़ों से पीछे न चला जाए।

अतः इंग्लैण्ड और फ्रांस ने पुनः सुल्तान पर दबाव डाला कि वह मेहमत अली की माँगों को पूरा कर दे। अतः अप्रैल, 1833 में सुल्तान नेसीरिया, दमिश्क, अलेप्पो एवं अदम के बन्दरगाह पर मेहमत अली का अधिकार मान लिया।

रूस ने पीछे हटने से पूर्व 8 जुलाई, 1833 को तुर्की के साथ संधि की जो अंकियार स्केलेसी की संधि कही जाती है, इसके अनुसार तुर्की ने वचन दिया कि डार्डेनल्स के बन्दरगाह में युद्ध के समय रूस के युद्धपोतों को काले सागर की ओर से सुरक्षा प्रदान करेगा तथा रूस का जहाजी बेड़ा बिना किसी रोकटोक के डाड्रेनल्स के जलडमरूमध्य में आ--जा सकेगा तथा इस जल संयोजक में अन्य देशों के युद्धपोत प्रवेश नहीं कर सकेंगे।

किन्तु तुर्की का सुल्तान महमूद द्वितीय मेहमत अली से बदला लेने और सीरिया पर पुनः अधिकार स्थापित करने की सोच रहा था। उसने इंग्लैण्ड से सहायता प्राप्त होने की आशा से अप्रैल, 1893 में सेनापति हफीज पाशा के नेतृत्व में एक सेना सीरिया पर आक्रमण करने के लिए भेज दी किन्तु इब्राहिम ने तुर्की को पुनः परास्त कर दिया, इस समय फ्रांस का लुई फिलिप गुप्त रूप से सहायता कर रहा था। रूस भी इस समय मेहमत अली की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत था। अतः वह पामर्स्टन का साथ देने तथा अंकियार स्केलेसी संधि से प्राप्त लाभ को त्यागने को तैयार हो गया।

अतः पामर्स्टन ने पूर्वी समस्या के समाधान हेतु 15 जुलाई, 1840 में लंदन में रूस आस्ट्रिया और प्रशा के साथ उप संधि की जिसके अनुसार मेहमत अली को मिस्र का वंशानुगत पाशा और अंकारा में जीवन पर्यन्त पाशा मानने का निर्णय लिया।

अगस्त, 1840 में इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया का जहाजी बेड़ा बेरूत पहुँचा और इब्राहिम को सीरिया खाली करने को कहा। उसके आनाकानी करने पर बेरूत पर आक्रमण किया गया। अन्ततः मेहमत अली को मित्र राष्ट्रों के प्रस्ताव मानने पड़े।

जुलाई, 1841 में लन्दन में एक अन्य संधि की गई, इसके अनुसार मेहमत अली को तुर्की के अधीन मिस्र का पाशा माना गया।

## 4.5 मुहम्मद अली और तुर्की के बीच संघर्ष

अरब के प्रदेशों पर अधिकार -- सीरिया के युद्ध में सफलता प्राप्त होने के कारण मुहम्मद अली की शक्ति बहुत बढ गई। सीरिया और अन्य नये प्रदेशों का शासन करने के लिए उसने

अपने पुत्र इब्राहीम को उनका सूबेदार नियत किया। मुहम्मद अली और इब्राहीम की योजना थी, कि अरब के सब प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले लिया जाए। इब्न सऊद के बंशजों द्वारा शासित अरब के प्रदेश पहले पहले ही ईजिप्ट की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। किंतु ईरान की खाडी के तट पर स्थित और अरब प्रायद्वीप कें दक्षिण–पूर्वी कोनें में विद्यमान कतिपय प्रदेश ऐसे थे, जो अभी तक ईजिप्ट की अधीनता में नहीं आये थे। नेपोलियन के समय के युद्वों से लाभ उठाकर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी इन प्रदेशों में अनेक विशेष अधिकार प्राप्त कर चुकी थी।

**यूरोपीय हस्तक्षेप और संघर्ष –** ब्रिटेन ने यह देखा कि मुहम्मद अली अरब के इन प्रदेशों को भी अपने आधिपत्य में ले लेने के लिये तत्पर है, तो पामर्स्टन ने यह घोषणा की कि यदि ईजिप्ट की सेनाओं ने ईरान की खाड़ी या दक्षिण–पूर्वी अरब की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, तो ब्रिटेन इसे कदापि सहन नहीं करेगा।

तुर्की का सुल्तान भी इस बात से बहुत दुखी था कि सीरिया, पैलेस्टाइन और सीनीसिया के प्रदेश अब मुहम्मद अली के अधिकार में आ गये थे। अपनी सैन्य शक्ति को नये ढंग से संगठित करने के लिये इसी कारण उसने एक प्रशियन अफसर की नियुक्ति की, जिसका नाम फॉन मॉल्टके था। 1839 ई. में तुर्क सुल्तान ने ईजिप्ट के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, और असकी सेनाएँ सीरिया की और अग्रसर होने लगीं। पर मुहम्मद अली की सेना को परास्त कर सकना सुगम नहीं था।

फ्रांस इस समय ईजिप्ट के साथ था और फ्रेंच सेनापति मुहम्मद अली की सेनाओं का संचालन कर रहे थे तुर्क सेनाओं की बुरी तरह से पराजय हुई, और सुल्तान का जहाजी बेडा अलेक्जेण्ड्रिया में कैद कर लिया गया। यह स्थिति ब्रिटेन के लिये बहुत चिन्ताजनक थी। उसने अनुभव किया, कि तुर्क सुल्तान की शक्ति को कायम रखना अपने पूर्वी साम्राज्य के लिये परमावश्यक है। भारत जैसे पूर्वी देशों तक पहुँचने के लिए पश्चिमी एशिया के मार्ग का भी सुगमता के साथ प्रयोग किया जा सकता था, इस मार्ग पर यदि फ्रांस का प्रभाव स्थापित हो जायगा और इस क्षेत्र में यदि मुहम्मद अली जैसे व्यक्तियों की शक्ति बढ़ जायगी, तो यह बात ब्रिटेन के लिए बहुत खतरे की होगी, इस परिस्थिति में यह आवश्यक है, कि सीरिया आदि के प्रदेशों पर मुहम्मद अली का शासन न रहे और उसके शासन क्षेत्र को केवल ईजिप्ट तक ही सीमित कर दिया जाय। रूस भी मुहम्मद अली के इस उत्कर्ष को सहन करने के लिए तैयार नहीं था। क्योंकि 1833 के समझौते के अनुसार उसने भी तुर्की सुल्तान की संरक्षा का वचन दिया था, इस स्थिति में ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री पामर्स्टन, रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया को इस बात के लिये तैयार करने में सफल हो गया, कि ब्रिटेन के साथ मिल कर मुहम्मद अली को यह अल्टीमेटम दें कि यदि उसने सीरिया, पैलेस्टाइन और सीलीसिया पर से अपने कब्जे का परित्याग न कर दिया, तो ये सब राज्य एक साथ मिलकर उस पर आक्रमण कर देंगे जिसके कारण उसे ईजिप्ट से भी हाथ धोना पडेगा। फ्रांस की सरकार इससे बहुत उद्विग्न हुई क्योंकि मुहम्मद अली को निमित्त बना फ्रांस पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने में तत्पर था। उसने युद्ध की भी धमकी दी, पर फ्रांस इस समय इस स्थिति में नहीं था कि यूरोप के इन प्रमुख राज्यों के विरुद्ध अकेला लडाई कर सकता। विवश होकर मुहम्मद अली को सीरिया आदि प्रदेशों का परित्याग कर देना पडा।

1840 में जो नई सन्धि हुई, उसके अनुसार न केवल मुहम्मद अली ने सीरिया आदि का परित्याग कर दिया, अपितु डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों के क्षेत्र में जो विशेष अधिकार रूस ने 1833 के समझौते के द्वारा प्राप्त किये थे, उन्हें भी उसे छाड देना पडा। 1841 की यह सन्धि लन्दन में हुई थी, और यह ब्रिटेन के लिए बहुत लाभदायक थी। जैसा कि **फ्रेंच द्रिओल्** ने लिखा है–''**इस के द्वारा सब लाभ ब्रिटेन को प्राप्त हुए, इसके कारण मुहम्मद अली और फ्रांस दक्षिण की और धकेल दिये गये, और रूस उत्तर की और। इराक से होकर जो मार्ग भारत की ओर जाता है, वह ब्रिटेन के कब्जे में रहा, इस मार्ग के क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाना अब उसके लिए सम्भव हो गया।**''

1840 की सन्धि के अनुसार तुर्की के सुल्तान की स्थिति बहुत कुछ संभल गई थी। फ्रांस इससे बहुत असंतुष्ट हुआ। अब वह इस बात के लिए प्रयत्नशील हुआ कि 1840 की सन्धि क्रियान्वित न होने पाए। उसने मुहम्मद अली को फिर तुर्की के विरुद्ध उकसाया। फ्रांस में नई सेनाएँ संगठित की गई। ब्रिटेन भी इस दशा में शान्त नहीं बैठा था। वह ईजिप्ट के विरुद्ध तुर्की की सहायता करने के लिए उद्यत था। ऐसा प्रतीत होता था, कि एक बार फिर मध्य पूर्व में युद्ध का शुरू होना अवश्यम्भावी है।

## फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच समझौता

इस स्थिति में फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच समझौता हुआ जिसे अन्तरीप सम्बन्धी समझौता कहा जाता है, इस समझौते में इंग्लैण्ड और फ्रांस के अतिरिक्त आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस भी सम्मिलित हुए –

(i) इसके अनुसार तुर्की सुल्तान ने यह स्वीकार किया, कि मुहम्मद अली न केवल ईजिप्ट का वंशक्रमानुसार रूप से स्वामी रहेगा,

(ii) साथ ही सीरिया के जिन प्रदेशों पर इस समय उसका प्रभुत्त्व विद्यमान है, उन पर भी उसका तथा उसके वंशजों का स्वामित्त्व कायम रहेगा।

(iii) साथ ही, यह भी स्वीकृत किया गया कि बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों को तुर्की के अतिरिक्त किसी अन्य देश के जंगी जहाज प्रयुक्त नहीं कर सकेंगे।

## सीरिया में फ्रेंच प्रभाव की वृद्धि और यूरोपीय प्रतिद्वंद्विता

1831 से 1840 तक नौ साल तक सीरिया इब्राहीम पाशा के शासन में रहा इस प्रदेश में ईसाई लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। पर उनकी सामाजिक स्थिति बहुत हीन थी। तुर्की सुल्तान के शासन में डमास्कस जैसे नगर में कोई ईसाई न घोड़े पर सवार हो सकता था और न लाल श्वेत या हरी पगड़ी पहन कर बाजार में आ सकता था ईसाइयों के लिये यह भी सम्भव नहीं था कि वे कोई ऊँचा सरकारी पद प्राप्त कर सकें। इब्राहीम पाशा ने इस स्थिति में सुधार किया। ईसाइयो की सामाजिक दुर्दशा को दूर किया गया और उनके पादरियों को धर्म के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्रदान की गई। फ्रेंच संस्कृति का भी इस काल में सीरिया में प्रसार हुआ। अनेक शिक्षणालय वहाँ स्थापित किये गये, जिनमे नये ज्ञान विज्ञान के साथ फ्रेंच भाषा की भी शिक्षा दी जाती थी। ईजिप्ट के समान सीरिया भी फ्रेंच लोगों के प्रभाव में आने लगा और फ्रांस के राजनीतिज्ञ यह स्वप्न देखने लगे, कि शीघ्र ही मध्य पूर्व का यह प्रदेश का भी उनके सांस्कृतिक प्रभाव में आ जायेगा। 1840 की सन्धि के कारण फ्रांस की स्थिति में कुछ अन्तर आया था, पर स्ट्रेट्स कन्वेशन द्वारा जब सीरिया के कतिपय प्रदेशों पर ईजिप्ट का अधिकार स्वीकार कर लिया, तो फ्रेंच लोगों न वहाँ अपने प्रभाव को स्थापित करने की प्रक्रिया को जारी रखा।

### बोध प्रश्न

1 पूर्वी समस्या में आप क्या समझते हो?

..........................................................................................................

..........................................................................................................

..........................................................................................................

2 एड्रियानोयल की संधि का वर्णन कीजिए?

..........................................................................................................

..........................................................................................................

..........................................................................................................

## 4.6 स्वेज नहर का निर्माण और यूरोपीय प्रतिद्वंद्विता

फ्रांस ने यह योजना बनाई कि स्वेज के स्थल–डमरू–मध्य के बीच से एक नहर निकाल कर भूमध्य सागर और लाल सागर को मिला दिया जाय, इसके कारण यूरोप और एशिया के बीच में एक सीधा सामुद्रिक मार्ग कायम हो जाता था और जल–मार्ग द्वारा यूरोप से एशिया आने–जाने के लिए अफ्रीका का चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं रहती। इंग्लैण्ड ने इस योजना का विरोध किया, क्योंकि इस नहर के कारण अन्तरराष्ट्रीय विद्वेष बहुत बढ़ जायेगा। जिस प्रकार डार्डेनलस और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों के दोनों ओर के प्रदेशों पर कब्जा करने के लिये विविध राज्यों में प्रतिद्वन्द्विता रहती है, वैसे ही इस स्वेज के प्रदेश के लिए भी रहने लगेगी।

सईद के पाशा बनने के बाद द लैस्सप ईजिप्ट आया और उसने स्वेज नहर की योजना को सईद के सम्मुख प्रस्तुत किया। वह सईद का मित्र था अतः वह अपने मित्र की बात को नहीं टाल सका और उसने इस योजना को स्वीकृति दे दी।

### रूस का तुर्की पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयत्न

**रूस की नीति–** तीव्र गति से तुर्की–साम्राज्य का पतन इस नये युग की मुख्य विशेषता थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में तुर्की एक जर्जर और मृतप्राय साम्राज्य हो चुका था। उसको यूरोप का मरीज कहा जाता था। तुर्की के रोग से सबसे अधिक लाभ रूस उठाना चाहता था। तुर्की में रूस का विशिष्ट स्वार्थ था। रूस को केवल डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमल मध्यों में ही दिलचस्पी नहीं थी। रूस का सम्राट अपने को वैजनटाइन साम्राज्य का उत्तराधिकारी मानता था। बाल्कन–प्रायद्वीप के अधिकांश लोग स्लाव नस्ल के थे। रूसी लोग भी इसी नस्ल के थे और उनके बीच बंधुत्व की भावना मौजूद थी, इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र के निवासी ग्रीक–चर्च के ईसाई थे और रूस का सम्राट ग्रीक चर्च का प्रधान था। इन सब बातों को लेकर रूस चाहता था कि किसी तरह तुर्की साम्राज्य का पतन हो जाय और वह स्वयं उसकी जगह ले ले। वैसी हालत में बाल्कन प्रायद्वीप के ग्रीक–चर्च के स्लाव ईसाई उसके अनुयायी हो जायेंगे और उन्हें वह जैसे चाहेगा नचायेगा। लेकिन रूस के शासकों की महत्वाकाक्षा यहीं तक सीमित नहीं थे। वे तुर्की साम्राज्य के खंडहर पर एक विशाल रूसी साम्राज्य का महल उठाना चाहते थे। जब भी मौका मिलता वे यूरोप के महान राष्ट्रों के सामने यह प्रस्ताव रखते कि तुर्की का पतन हो रहा है और वह मौका आ गया कि उसको स्पेन या पोलैंड की तरह आपस में बाँट लिया जाये। लेकिन इन सब बातों में रूस की एक ही चाल थी। रूस किसी तरह भूमध्यसागर तक पहुँच जाना चाहता था।

भूमध्यसागर में रूस का प्रवेश ब्रिटेन के लिए बड़ा खतरा था। ब्रिटेन का साम्राज्य समूचे संसार में फैला हुआ था और भारत उस साम्राज्य का सबसे बडा चमकता हुआ सितारा था। ब्रिटेन किसी भी हालत में इस बात को सहने के लिए तैयार नहीं था कि किसी प्रकार से उसके भारतीय साम्राज्य पर काई खतरा पहुँचे, काकेशश और मध्य एशिया में जिस शीघ्रता से रूस का प्रभाव बढ रहा था, उसको दखते हुए ब्रिटिश सरकार चुपचाप नहीं बैठ सकती थी। ब्रिटिश सरकार तुर्की साम्राज्य में रूस का प्रभाव बढने देना नहीं चाहती थी। रूस ने जब भी डार्डेनल्स और बोस्फोरस पर अधिकार जमाने का प्रयास किया, ब्रिटेन ने उसका विरोध किया। कैनिंग के समय से ही निकटपूर्व में किसी चेष्टाओं को विफल करना ब्रिटिश नीति का मूल आधार हो गया था। रूस ब्रिटेन को अपने पक्ष में करना चाहता था। रूसी सम्राट ने विचार किया कि तुर्की साम्राज्य को नष्ट करके यदि उसका एक हिस्सा ब्रिटेन को प्रदान कर दिया जाय तो संभवतः काम चल जायगा। ब्रिटेन चाहता था कि स्वज नहर पर उसका कब्जा रह। रूस अपने लाभ के बदले में मिस्र और स्वज म ब्रिटन का छूट द दन क लिए तयार था। अपन लिए वह ब्रिटेन स यह मनवाना चाहता था कि कान्स्टेन्टिनोपल पर उसका अधिकार हो जाए। उसके बाद तुर्की–साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पश्चात बाल्कन–प्रायद्वीप में जो ईसाई राज्य कायम होंगे वे अनिवार्य रूप से

रूस के प्रभाव क्षेत्र में आ जायेगे। रूस समझता था कि इस सौदे में ब्रिटेन का लाभ–ही–लाभ है। उसको पूर्ण विश्वास था कि वह इसके लिए तैयार हो जायेगा।

रूस ने ब्रिटेन के साथ समझौता करने के अनेक प्रयत्न किये पर ब्रिटेन यह भलीभाँति समझता था, कि एशिया में अपने साम्राज्य का प्रसार करने में अब रूस ही उसका प्रतिस्पर्धी है।

NOTES

## 4.7 क्रीमिया का युद्ध (THE CRIMEAN WAR)

यूरोप के इतिहास में पूर्वी समस्या के बार–बार उभरने का कारण यह था कि यूरोपीय महाशक्तियाँ एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखती थीं। जार निकोलस के हिसाब से तुर्की एक बीमार आदमी था, उसका राज्य पतनोन्मुख था और उसके विचार से उसके मरने से पूर्व ही बँटवारे के विषय में विचार कर लेना अच्छा होगा।

वह स्वयं कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करना चाहता था तथा इंग्लैण्ड को मिस्र और क्रीट दिलाना चहता था, किन्तु लार्ड पामर्स्टन इस विचार को नहीं मानता था। वह इस बीमार आदमी का इलाज करना चाहता था।

## 4.8 क्रीमिया युद्ध के कारण

**1. जेरूसलम की समस्या :–** तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत पेलेस्टाइन में स्थित जेरूसलम के पवित्र स्थानों में शताब्दियों से ग्रीक संन्यासी और कैथोलिक संन्यासी रहते आ रहे थे। उसने कैथोलिकों को प्रसन्न करने तथा उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए तुर्की के साम्राज्य के अन्तर्गत पैलेस्टाइन में स्थित जेरूसलम तथा बेथलेहम के ईसाई तीर्थस्थानों को पुनः लेटिन साधुओं के अधिकार में लाने के लिए तुर्की के सुल्तान को लिखा। 1535 की एक सन्धि के अनुसार तुर्की के सुल्तान ने फ्रेंच व्यापारियों को अपने साम्राज्य के कई विशेषाधिकार दिये थे। जो फ्रेंच लोग वहाँ बसते थे, उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी थी, पवित्र ईसाई तीर्थस्थानों के साज–सम्हाल तथा उनके संरक्षण का अधिकार भी फ्रेंच कैथोलिक पादरियों को सौंपा गया था और तुर्की के साम्राज्य में होते हुए भी इन सब पर फ्रांस का संरक्षण स्वीकार किया गया था। बाद में इस संधि की 1581, 1587, 1607 तथा 1740 में पुष्टि की गयी थी और इस प्रकार तुर्की के साम्राज्य में फ्रांस की एक विशिष्ट स्थिति थी। रोमन कैथोलिक साधुओं के अतिरिक्त ग्रीक चर्च के साधु भी टर्की के साम्राज्य में रहते थे जो उसी प्रकार रूस के जार के संरक्षण में रहते आये, परन्तु क्रांति के समय से फ्रांस को इस मामले में कोई रुचि नहीं रही, लेटिन साधु भी अपने कर्तव्य–पालन में ढील करने लगे और धीरे–धीरे ईसाई तीर्थस्थानों पर ग्रीक चर्च के साधुओं का अधिकार हो गया। 1850 में लुई नेपोलियन ने तुर्की के सुल्तान को लेटिन साधुओं को उनके प्राचीन अधिकार लौटा देने के लिए लिखा, इसमें उसे कई लाभ दिखायी देते थे। उसने सोचा कि इस कार्य से प्राचीन धर्म–युद्धों के समय की परम्पराएँ पुनः जागृत होंगी और ग्रीक चर्च के साधुओं से होने वाले संघर्ष के कारण उनके संरक्षक रूस के जार से युद्ध छिड़ गया तो मास्को की पराजय तथा 1840 के लुई फिलिप के समय के राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने का बड़ा सुन्दर मौका हाथ लगेगा। 1850 ई. में लुई नेपोलियन ने फ्रांस के राष्ट्रपति के रूप में तुर्की के सुल्तान को कैथोलिक संन्यासियों के पुराने अधिकार लौटाने को कहा। आस्ट्रिया, स्पेन, पुर्तगाल आदि कैथोलिक राज्यों ने भी इस माँग का समर्थन किया। दूसरी ओर जार निकोलस ने यूनानी पादरियों के अधिकारों को यथावत बनाए रखने के लिए तुर्की सुल्तान को पत्र लिखा। सुल्तान ने नेपोलियन की माँग स्वीकार कर ली। उसने दोनों को सन्तुष्ट रखने के प्रयास में रूस को नाराज कर दिया।

**2. रूस द्वारा ईसाई प्रजा पर संरक्षण की माँग :–** जार ने ग्रीक साधुओं का समर्थन किया और उनके अधिकार उन्हें वापस देने के लिए सुल्तान को लिखा। सुल्तान की स्थिति बड़ी कठिन हो गयी, परन्तु उसने एक चाल खेली। उसने एक पत्र तो फ्रेंच राजदूत को लेटिन साधुओं

को दिये हुए अधिकारों की पुष्टि करते हुए लिखा और जेरूसलम के प्रमुख ग्रीक साधु को भी एक फर्मान प्रदान किया। दोनों लेखों की भाषा भिन्न थी। फ्रांस तो संतुष्ट हो गया, परन्तु निकोलस को इससे संतोष नहीं हुआ। उसने मार्च, 1853 ई. में जार ने अपने पुत्र मेनिशिकाफ को तुर्की भेजा और यह माँग की कि तुर्की साम्राज्य की सम्पूर्ण ईसाई प्रजा पर रूसी संरक्षण स्वीकार किया जाए। तीर्थस्थानों के सम्बंध में पूर्णतया सन्तोषप्रद व्यवस्था की ही माँग नहीं की, बल्कि केनार्डजी की सन्धि के आधार पर तुर्की के समस्त साम्राज्य में जितने ग्रीक चर्च के अनुयायी थे, उन पर जार के संरक्षण की माँग की।

तुर्की इंग्लैण्ड के समर्थन के आधार पर मेनिशिकाफ की माँगों को पूर्ण रूप से स्वीकारने में आनाकानी करता रहा, इससे दोनों देशों के मध्य युद्ध का वातावरण उत्पन्न हो गया।

**3. इंग्लैण्ड की अस्पष्ट नीति और जार निकोलस की नीति–** इंग्लैंड एक ओर तो तुर्की साम्राज्य का विघटन रोकना चाहता था और दूसरी ओर रूस के प्रभाव को दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ने से रोकना चाहता था।

इस समय जार निकोलस ने तुर्की के साम्राज्य को बनाये रखने की नीति को त्याग कर उसे समाप्त करने की नीति अपना ली थी। उसने इस कार्य में इंग्लैण्ड सहयोग की अपेक्षा की थी, इसीलिए वह 1844 में वह इंग्लैण्ड गया था और उसने लॉर्ड एबर्डीन से तुर्की के साम्राज्य के अंग–भंग का प्रस्ताव किया था जिसमें इंग्लैण्ड का भाग ईजिप्ट रखा गया था। जनवरी, 1853 में उसने सेंट पीटर्सबर्ग में स्थित अंग्रेजी राजदूत हेमिल्टन सेमूर से भी इसी योजना पर बातचीत की, परन्तु इंग्लैण्ड को यह योजना स्वीकार नहीं थी। वह तुर्की के साम्राज्य को बनाये रखना चाहता था। वह निकोलस की ईसाइयों के संरक्षण की माँग का भी समर्थन नहीं कर सकता था, क्योंकि उसे भय था कि निकोलस इस स्थिति से आगे बढ़कर यूरोपीय तुर्की पर अधिकार कर लेगा जिससे पूर्वी भूमध्य सागर में ब्रिटिश व्यापार को तथा भारत को जाने वाले मार्ग को भयंकर खतरा उत्पन्न हो जायेगा।

मेन्शिकॉफ ने बड़ी उद्यतता के साथ अपनी माँग पेश की, इस समय कॉन्स्टेन्टीनोपल में इग्लैण्ड का राजदूत स्ट्रेटफोर्ड रेडक्लिफ था जिसका सुल्तान पर बड़ा प्रभाव था। वह स्वयं रूस से बहुत नाराज था। उसकी सलाह से सुल्तान ने तीर्थस्थानों के सम्बंध में तो रूस को रियायतें दे दीं, परंतु दूसरी माँग को ठुकरा दिया, इस पर क्रुद्ध होकर और इस निर्णय का विरोध करके मेन्शिकॉफ और उसके साथ ही रूसी दूतावास के लोग कान्स्टेन्टीनोपल छोड़कर चले गये।

**4. फ्रांस का दबाव** :– पवित्र धार्मिक स्थलों की सुरक्षा का दबाव।

**5. तात्कालिक कारण** :– रूस द्वारा माल्डेविया तथा बालेशिया पर अधिकार 1853 में जब पुनः रूस की माँग को ठुकरा दिया गया तब जुलाई, 53 में रूसी सेनाओं ने प्रूच नदी को पार करके मोल्डेविया और वालेशिया पर अधिकार कर लिया।

**6. वियेना नोट** :– आस्ट्रिया के विदेश मंत्री काउन्ट बुओल ने युद्ध को रोकने के उद्देश्य से इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया और प्रशा के प्रतिनिधियों को जुलाई, 1853 में वियेना में आमंत्रित किया। चारों राज्यों के प्रतिनिधियों ने एक नोट तैयार किया इसमें रूस और तुर्की के ईसाई मत के संरक्षण से संबंधित कुचुक केनाईजी एवं एड्रियानोपल की संधियों की भाषा एवं अर्थों को स्वीकार करने का अनुरोध किया। तुर्की ने चार शब्द **''महान तुर्की के राज्य द्वारा''** जोड़कर इसे स्वीकार किया। रूस ने इस संशोधन को अस्वीकार कर दिया।

## 4.9 क्रीमिया का युद्ध (1853–57)

तुर्की ने 5 अक्टूबर, को रूस को चेतावनी दी कि वह 15 दिन में मोल्डेविया और बालेशिया को खाली कर दे। जब रूस ने इस पर ध्यान नहीं दिया तो तुर्की ने 23 अक्टूबर, 1853 को रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

## तुर्की के साम्राज्य में रूसी सेनाओं को प्रवेश

रूस की सेना जुलाई, 1853 में प्रुथ नदी को पार कर तुर्की के साम्राज्य में घुस पड़ी और उन्होंने मोल्डेविया तथा वालेशिया प्रान्तों पर अधिकार कर लिया, इससे स्थिति काफी गम्भीर हो गयी। जार ने यूरोपीय राज्यों को सूचना दी कि इन प्रान्तों पर अधिकार करने का अर्थ युद्ध नहीं वरन् अपनी न्याययुक्त माँगों की पूर्ति के लिए गारण्टी प्राप्त करना था।

## इंग्लैण्ड और फ्रांस का रूख

इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा आस्ट्रिया इस स्थिति को बड़े ध्यानपूर्वक देख रहे थे। रूसी सेनाओं द्वारा प्रुथ नदी पार किये जाने की सूचना के साथ ही इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का सम्मिलित बेड़ा बेसिका की खाड़ी को रवाना किया जा चुका था और इंग्लैण्ड का विदेश–मंत्री पामर्स्टन तो यह प्रकट करने के लिए कि इंग्लैण्ड रूस की इन हरकतों को सहन करने को बिलकुल तैयार नहीं था, इस सम्मिलित बेड़े को काला सागर तक में भेजने को तैयार था। नेपोलियन को, जैसा हम देख चुके हैं, युद्ध से कई लाभ स्पष्ट दिखायी दे रहे थे और इसी दृष्टि से उसने अपना बेड़ा इंग्लैण्ड के बेड़े के साथ तुर्की को 'नैतिक' समर्थन प्रदान करने के लिए पूर्व की ओर रवाना कर दिया था। आस्ट्रिया को भी इस मामले में दिलचस्पी थी क्योंकि यह संघर्ष उसके बिलकुल निकट हो रहा था और ऐसे ही प्रदेश में हो रहा था जिस पर उसकी आँखें लगी हुई थीं।

## युद्ध रोकने के प्रयत्न

नेपोलियन तो युद्ध चाहता था, परन्तु इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री एबर्डीन युद्ध से झिझकता था और आस्ट्रिया भी युद्ध को रोकना चाहता था। अतः इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया तथा प्रशा के प्रतिनिधियों का जुलाई, 1853 में वियना में एक सम्मेलन हुआ और सर्वसम्मति से एक पत्र रूस तथा तुर्की दोनों को भेजा गया जिसके द्वारा दोनों से 'ईसाई मत के संरक्षण से सम्बंधित' केनार्डजी तथा एड्रियानोपल की सन्धियों की भाषा एवं उनके भावों को स्वीकार कर लिया, परन्तु वास्तव में पत्र की भाषा संदिग्ध थी। अंग्रेज राजदूत स्ट्रेटफोर्ड के प्रोत्साहन पर सुल्तान अड़ गया। अब युद्ध अवश्यम्भावी दिखायी देने लगा, इस परिस्थिति को उत्पन्न करने की जिम्मेदारी स्ट्रेटफोर्ड की थी।

## रूस के विरुद्ध युद्ध का प्रारम्भ (1853)

सुल्तान को इंग्लैण्ड तथा फ्रांस की सहायता की पूर्ण आशा थी और उनकी सहायता से वह रूस को समाप्त कर देने की आशा करता था। उसने रूस को मोल्डेविया तथा वालेशिया खाली कर देने को कहा और युद्ध छेड़ दिया। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का सम्मिलित बेड़ा तुर्की को नैतिक सहायता देने के लिए डार्डेनेलीज के जल–संयोजक में घुस गया और जब वह कॉन्स्टेन्टीनोपल के निकट था, उसी समय रूसी बेडे ने साइनोप के निकट तुर्की के बेड़े पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया। **'साइनोप के हत्याकाण्ड'** के बाद रूस के विरुद्ध, युद्ध छेडने की माँग जोरदार हो गयी, परन्तु एबर्डीन अब भी झिझक रहा था। नेपोलियन तुर्की की सहायता करना चाहता था, परन्तु वह इंग्लैण्ड के सहयोग के बिना आगे नहीं बढ़ना चाहता था। जनवरी, 1854 के प्रारंभ में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का सम्मिलित बेडा काला सागर में प्रवेश कर गया, इस समय नेपोलियन ने भी युद्ध रोकने की दृष्टि से निकोलस को स्वयं को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा जिसमें उसने यह प्रस्ताव किया कि रूसी सेना तुर्की के प्रदेशों से हट जाए, इसके बाद सन्धि के लिए बातचीत आरम्भ हो, परन्तु निकोलस ने बड़ी हेकडी से उत्तर दिया कि रूस यह प्रमाणित कर देगा कि वह 1854 में भी वैसा ही है जैसा 1812 में था, इसके बाद मार्च, 1854 में फ्रांस तथा इंग्लैण्ड ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। आस्ट्रिया और प्रशा तटस्थ रहे। निकोलस को आशा थी कि पुराने उपकारों के बदले में आस्ट्रिया उसका साथ अवश्य देगा।

## आस्ट्रिया का रुख

रूसी सेनाओं ने 23 मार्च को वालेशिया से बढ़कर डेन्यूब नदी को पार किया और सिलिस्ट्रिया का घेरा डाला, परन्तु तुर्की की सेनाओं ने बड़ी दृढ़ता से उनका विरोध किया और सेनाएँ तुर्की

की सेनाओं की सहायता करने के लिए वार्ना में उतरीं और आगे बढ़ने लगीं, इसके एक सप्ताह के अन्दर ही आस्ट्रिया ने रूस से मोल्डेविया तथा वालेशिया से अपनी सेना को हटाने की माँग की। निकोलस को ऐसी स्थिति में दबना पड़ा। रूसी सेनाओं ने सिलिस्ट्रिया से हटकर डेन्यूब नदी को पार किया और धीरे–धीरे दोनों प्रदेश खाली कर दिये।



मोल्डेविया और वालेशिया से रूसी सेनाओं के हट जाने के बाद युद्ध बन्द हो जाना चाहिए था क्योंकि युद्ध का कारण रूस द्वारा इन प्रदेशों पर अधिकार कर लेना ही था, परन्तु मित्रराष्ट्र इतने से ही संतुष्ट न होकर उसे नीचा दिखाना चाहते थे। अतः उन्होंने रूस के सामने चार प्रस्ताव रखे और उन्हें स्वीकार करने का उसे आदेश दिया–

(1) मोल्डेविया तथा वालेशिया के प्रदेशों पर रूस का संरक्षण समाप्त कर दिया जाय,

(2) डेन्यूब नदी में सब राष्ट्रों के जहाज निर्बन्ध आ जा सकें,

(3) तुर्की को यूरोपीय राज्य–समाज में सम्मिलित किया जाय; और

(4) रूस तुर्की के ग्रीक चर्च की अनुयायी प्रजा पर अपने संरक्षण का अधिकार त्याग दे।

इनकी स्वीकृति में रूस ने देरी की और इसी बीच इंग्लैण्ड और फ्रांस ने सितम्बर में ही अपनी सेनाएँ वार्ना से क्रीमिया प्रायद्वीप को सिबेस्टोपोल पर अधिकार करने के लिए लॉर्ड रेगनल तथा सेंट अर्नोद के नेतृत्व में रवाना कर दीं।

**क्रीमिया पर आक्रमण–** उसकी सेनाएँ 14 सितम्बर को यूपेटोरिया में उतरीं। 20 सितम्बर की आल्मा की लड़ाई में रूसी सेना हारी और सिबेस्टोपोल के गढ़ का रास्ता आक्रामकों के लिए खुल गया। यदि सेनाएँ दृढ़ता के साथ रूसी सेना का पीछा करतीं तो गढ़ उनके हाथों में आ जाता, परंतु ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने देर की और अंत में गढ़ का घेरा डाला, इस देरी का रूसी जनरल टोडलबेन ने लाभ उठाया और गढ़ की पूरी तैयारी कर ली। इतने ही में जाड़ा बढ़ गया और अंग्रेजी तथा फ्रेंच सेनाओं को सर्दी के साथ–साथ रसद, औषधि आदि के प्रबंध में बड़ी परेशानी होने लगी। रूसियों ने दो बार घेरा तोड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु दोनों बार 25 अक्टूबर को बेलाक्लावा की लड़ाई में और 5 नवम्बर को इंकरमैन की लड़ाई में बुरी तरह से हारे। अंग्रेजी और फ्रेंच सेना की भी भारी हानि हुई। टोडलबेन शत्रुओं के आक्रमणों का मुकाबला करता रहा और गढ़ की रक्षा करता रहा। 14 नवम्बर को समुद्र में एक भारी तूफान उठा जिससे बेलाक्लावा के बंदरगाह में अंग्रेजों के कई सामान ढोने वाले जहाज नष्ट हो गये। जाड़े भर अंग्रेजी और फ्रेंच सेनाएँ भयंकर कष्ट उठाती रहीं, रसद का पहुँचना बंद हो गया और बीमारी फैलने लगी। घायलों एवं बीमारों की देखभाल का कोई प्रबंध नहीं था; अस्पतालों में घायलों तथा बीमारों की भीड़ लगी हुई थी। उनके लिए न कपड़ों की, न दवा की, न बिस्तर की और न ठीक–ठीक खाने–पीने की ही व्यवस्था थी, इसी दशा में हैजा फैल गया और असंख्य लोग बेमौत मरने लगे, परंतु धीरे–धीरे स्थिति सुधरने लगी। इंग्लैण्ड से लोरेंस नाइटिंगेल अपने स्वयं सेवकों सहित वहाँ पहुँची और उसने बीमारों एवं घायलों की सेवा का प्रबंध किया। लॉर्ड एबर्डीन के स्थान पर पामर्स्टन प्रधानमंत्री बना और उसने ठीक–ठीक व्यवस्था की। जनवरी, 1855 में सार्डीनिया के राजा विक्टर इमेन्युएल द्वितीय ने भी रूस से भी युद्ध छेड़कर 18000 सैनिक अंग्रेजी और फ्रेंच सेनाओं की सहायता के लिए भेजे।

## निकोलस की मृत्यु

मार्च, 1855 में जार प्रथम निकोलस की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर द्वितीय एलेक्जेण्डर जार बना। वह शांतिप्रिय था और शीघ्र ही सन्धि कर लता, परन्तु फ्रेंच और अंग्रेजी सेनाएँ सिबेस्टोपोल पर अधिकार करने पर तुली हुई थीं। बसंत आने पर युद्ध की सरगर्मी फिर से शुरू हो गयी। सिबेस्टोपोल पर अधिकार करने के लिए अंग्रेजी सेना ने रीडन और फ्रेंच सेना ने मेलकॉफ पर आक्रमण किया परन्तु रूसियों ने दोनों आक्रमणों को विफल कर दिया। अगस्त में रूसियों ने आक्रमण किया, परन्तु सार्डीनिया की सेना ने उन्हें मार भगाया, इसी बीच में अंग्रेजी

और फ्रेंच दोनों सेनाओं के कमाण्डर बदल गये। सितम्बर में फिर आक्रमण हुआ। फ्रेंच सेनाओं ने मेलकॉफ पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने भी रीडन तो ले लिया पर वे पीछे हटा दिये गये, किन्तु अब सिवेस्टोपोल की रक्षा असम्भव हो गयी। रूसियों ने अपनी बारूद में आग लगा दी और गढ़ छोड़ दिया।

## युद्ध का अंत

नेपोलियन फ्रेंच सफलता से संतुष्ट होकर अब संधि करने के लिए उत्सुक था। उधर रूस ने एशिया में तुर्की से कार्स नामक प्रदेश छीन लिया था जिससे उसे अपमानजनक सन्धि करने को विवश किये जाने का भय न रहा, इसी समय आस्ट्रिया ने दोनों पक्षों को मान्य सन्धि कराने का प्रस्ताव किया। दोनों पक्षों ने प्रस्ताव स्वीकार किया और युद्ध बंद हो गया।

## पेरिस की संधि

वास्तव में सिबास्टोपोल की जीत ही क्रीमियन युद्ध को समाप्त करने वाली घटना थी। परिणामस्वरूप 1856 में यूरोपीय राष्ट्रों की एक कांफ्रेंस पेरिस में बुलाई गई और दोनों पक्षों में निम्नलिखित शर्तों के अनुसार संधि हो गई:–

1. रूस और टर्की ने युद्धकाल में जीते हुए इलाके एक दूसरे को वापस कर दिये।
2. टर्की और यूरोप के कांग्रेस सिस्टम में मिला लिया गया और सभी देशों ने टर्की की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।
3. टर्की के सुल्तान के आधीन ईसाइयों की उन्नति और भलाई संबंधी सुधार करने का वचन दिया, किन्तु उनके आन्तरिक मामलों में यूरोप के किसी राष्ट्र को अकेले या दूसरे से मिलकर हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहा।
4. काला सागर और डार्डनलीज की खाडी को आजाद और निष्पक्ष क्षेत्र मान लिया गया। न रूस और न टर्की को वहाँ फौजी अड्डे बनाने का अधिकार दिया गया और न ही यूरोप के किसी जंगी जहाजों को वहां रुकने की आज्ञा दी गई।
5. डेन्यूब नदी में सभी देशों को जहाज चलाने की आज्ञा दी गई। उस पर अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन का प्रभाव या अधिकार मान लिया गया। रूस को डेन्यूब नदी के तटों से पीछे हट जाना पड़ा और बेसरबिया का इलाका मोल्डेविया के हवाले करना पड़ा।
6. मोल्डेविया, वालेशिया और सर्बिया को टर्की के सुल्तान के नेतृत्व में स्वतंत्र देश माना गया। उसकी स्वतंत्रता की स्थापना और स्थिरता की जिम्मेदारी यूरोप के सभी देशों को सौंप दी गई।
7. रूस को टर्की में स्थित ईसाइयों की सुरक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया गया।

## युद्ध में भाग लेने वाले विभिन्न राज्यों के उद्देश्य

इस युद्ध में भाग लेने वाले राष्ट्रों के अलग–अलग लक्ष्य थे जिनकी पूर्ति के लिए वे लड़ रहे थे। निकोलस तुर्की पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता था। इंग्लैण्ड तुर्की की रक्षा करना चाहता था क्योंकि उसे रूस के आधिपत्य से पूर्वी भूमध्यसागर में अपने हितों को तथा भारतवर्ष के मार्गों को भयंकर खतरा नजर आता था। नेपोलियन फ्रांस में अपनी स्थिति को सुदृढ बनाना चाहता था और कैथोलिक साधुओं के लिए लडकर फ्रांस की बहुसंख्यक कैथोलिक जनता का समर्थन प्राप्त करना तथा रूस को हराकर मास्को की पराजय का बदला लेकर फ्रांस के अन्तरराष्ट्रीय गौरव को बढाना चाहता था। सार्डीनिया को युद्ध में शामिल करने वाला उसका योग्य प्रधानमंत्री कैवूर था जो इस युद्ध में सार्डीनिया को शामिल करके इटली के स्वातंत्र्य युद्ध में किसी शक्ति का समर्थन प्राप्त करना चाहता था। बाल्कन प्रायद्वीप की ओर उसकी ऑखें लगी थीं और वह उस प्रदेश में रूस के आधिपत्य को अपने लिए अनिष्टकारी समझता था। मोल्डेविया तथा वालेशिया पर रूस का अधिकार तात्कालिक दृष्टि से भी उसके लिए हानिकारक था क्योंकि उसके द्वारा

डेन्यूब नदी के यातायात को खतरा पहुँचता था और आस्ट्रिया का अधिकांश व्यापार डेन्यूब नदी द्वारा ही होता था। उसकी मनोवृत्ति रूस के प्रति सदा शत्रुतापूर्ण बनी रही और उसने दो बार धमकाया भी।



## 4.10 क्रीमिया युद्ध के परिणाम

क्रीमिया युद्ध यूरोप के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है, इसके प्रमुख परिणाम निम्न हैं:–

1. रूस पराजित हो गया तथा टर्की साम्राज्य में प्राप्त अनेक विशेषाधिकारों से उसे हाथ धोना पड़ा।
2. इंग्लैण्ड में एबरडीन के मंत्रिमण्डल का पतन हो गया तथा पामर्स्टन प्रधानमंत्री बना।
3. ब्रिटेन के युद्ध में भाग लेने के उद्देश्य की भी कुछ अंशों में पूर्ति हो गई, अर्थात् कुछ समय तक बाल्कान प्रदेश में रूस की प्रगति रुक गई।
4. जार का शासन बदनाम हो गया क्योंकि अधिकारियों ने उसका साथ नहीं दिया। जनता ने भी उसका साथ नहीं दिया। फलतः निकोलस के उत्तराधिकारी अलेक्जेंडर द्वितीय को शासन में अनेक सुधार करने पड़े।
5. नेपोलियन तृतीय को व्यक्तिगत ढंग से फायदा हुआ। उससे फ्रांस के सब दल सन्तुष्ट हो गये।
6. क्रीमिया युद्ध में भाग लेकर कैवूर ने इंग्लैण्ड और फ्रांस को अपना मित्र बनाया इससे इटली के एकीकरण में मदद मिली।
7. रूस और आस्ट्रिया शत्रु हो गये।
8. मेटरनिख युग की समाप्ति हो गई।
9. अन्तरराष्ट्रीयता का विकास हुआ, चूँकि पेरिस की संधि में कुछ अन्तरराष्ट्रीय नियमों का प्रतिपादन भी था।

### युद्ध का महत्त्व एवं प्रभाव

उसमें अपार धन–जन की हानि हुई, परन्तु यह कहना अतिश्योक्ति होगी कि यह युद्ध बिलकुल ही निरुद्देश्य एवं निष्फल हुआ। रूस की दक्षिण की ओर प्रगति कम से कम अस्थायी रूप से रुक गयी और तुर्की के साम्राज्य को नया जीवन प्राप्त हो गया, इसके साथ ही यूरोपीय सत्ताओं ने रूस की पूर्वी समस्याओं को स्वयं अकेले ही सुलझाने के अधिकार को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया।

पेरिस का शांति–सम्मेलन पूर्वी समस्या को सुलझाने के लिए हुआ था किन्तु उसने उसे और भी कठिन बना दिया। तुर्की को स्वतंत्रता और उसके साम्राज्य को अंतरराष्ट्रीय गारण्टी मिल गयी जिसका अर्थ था कि उस अशांत प्रदेश में यूरोपीय सत्ताओं की सम्मति के बिना कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था।

मित्रराष्ट्रों का अनुमान था कि तुर्की का सुल्तान सुधार की नीति का अवलम्बन करके अपनी ईसाई प्रजा को संतुष्ट करेगा और तुर्की अन्य सभ्य राज्यों की कोटि में आ जायेगा, परन्तु सुल्तान ने अपने वचन का पालन नहीं किया और उसकी ईसाई प्रजा की स्थिति और भी खराब हो गयी।

काला सागर को तटस्थ बनाना रूस को अपमानित करना ही नहीं, उसे अत्यंत निर्बल कर देना था और यह निश्चित था कि रूस इस स्थिति में चुप बैठा नहीं रह सकेगा तथा आगे चलकर मौका देखकर इस अपमान को धोने का प्रयास करेगा। 14 वर्ष बाद उसे यह अवसर मिला और बिस्मार्क से समझौता करके उसने उसकी तटस्थता भंग कर दी और अपने लड़ाई के जहाज उसमें रखना शुरू कर दिया। 1878 में उसने बेसरेबिया को भी फिर से अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

रूस की दक्षिण की ओर प्रगति तो रुक गयी, परन्तु इस दिशा में रोके जाने पर उसने मध्य–एशिया में बढ़ना आरम्भ किया और वह वर्षों तक इंग्लैण्ड के लिए उधर परेशानी का एक कारण बना रहा। निकोलस यूरोप से तुर्की को निकालकर बाल्कन प्रायद्वीप को कई ईसाई राज्यों में विभक्त करना चाहता था।



ग्रीस को स्वतंत्र होने में मुख्य सहायता रूस से प्राप्त हुई थी, परन्तु स्वतंत्र होने के बाद ग्रीस का जो रवैया रहा, उससे जार को यह आशा नहीं हो सकती थी कि जिन लोगों को वह स्वतंत्र होने में सहायता करेगा वे सब सदा उसके प्रति कृतज्ञ बने रहेंगे। यदि उसकी योजना सफल हो जाती तो एक निर्बल टर्की के साम्राज्य के स्थान पर कई सशक्त एवं परस्पर लड़ते हुए ईसाई राज्य स्थापित हो जाते। इंग्लैण्ड और फ्रांस तुर्की के साम्राज्य को बनाये रखना चाहते थे, परन्तु बाद में उन्होंने इस सम्बंध में अपनी भूल महसूस की और प्रथम महायुद्ध के पहले तक वह साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया।

इस प्रकार वास्तव में जिन उद्देश्यों को सामने रखकर यह युद्ध लड़ा गया था, उनकी दृष्टि से यह युद्ध बिलकुल व्यर्थ सिद्ध हुआ। इंग्लैण्ड को इससे कोई लाभ नहीं हुआ, उल्टे उसका राष्ट्रीय ऋण बढ़ गया। फ्रांस को भी इस युद्ध से कोई लाभ नहीं हुआ। नेपोलियन की नीति व्यक्तिगत थी, राष्ट्रीय नहीं। जो कुछ लाभ हुआ, वह नेपोलियन का व्यक्तिगत लाभ था। 1853 में उसकी स्थिति यूरोप में सुनिश्चित नहीं थी, परन्तु 1856 में उसने यूरोप की सबसे महान शक्ति रूस को पराजित करके महान नेपोलियन की मास्को की पराजय का बदला ले लिया था और फ्रांस को यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बनाकर गौरव बढ़ा लिया था। शांति सम्मेलन भी उसी के नेतृत्व में पेरिस में हुआ था और कई वर्षों बाद फ्रांस का सम्राट फिर से यूरोप का भाग्य–निर्णायक बन रहा था।

**इटली पर युद्ध का प्रभाव**– तुर्की को छोड़कर इस युद्ध से सबसे अधिक लाभ इटली को पहुँचा। कैवूर ने युद्ध में सम्मिलित होने के पूर्व जो आशाएँ बाँधी थीं, वे पूरी हुईं। एक सैनिक ताकत के रूप में सार्डीनिया की प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित हो गयी। पेरिस के शांति–सम्मेलन में वह आस्ट्रिया का प्रबल विरोधी होते हुए भी, केवल सार्डीनिया का ही नहीं वरन् इटली के प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुआ और उसने सम्मेलन के सामने इटली की दुर्दशा का चित्रण किया। उसे इंग्लैण्ड की सहानुभूति तथा नेपोलियन का सक्रिय समर्थन प्राप्त हुआ, इस प्रकार क्रीमिया के युद्ध में भाग लेने से सार्डीनिया को यूरोपीय राज्य समाज में स्थान प्राप्त हो गया और उसे इटली की स्वतंत्रता का समर्थक बनने का अधिकार एवं अवसर प्राप्त हो गया। पेरिस की कांग्रेस में कैवूर का नेपोलियन से समझौता हो गया, जिसकी दो वर्ष बाद प्लॉम्बियर्स की सन्धि में पुष्टि हुई और 1859 के युद्ध में उसका फल मिल गया, इस प्रकार इटली के स्वातंत्र्य संग्राम को आवश्यक सहायता प्राप्त हो गयी, और अंत में इटली की एकता तथा स्वतंत्रता सम्भव हो सकी।

**जर्मनी पर प्रभाव**– अप्रत्यक्ष रूप से इस युद्ध ने जर्मनी की एकता के प्रयत्न को भी सहायता पहुँचाई। प्रशा इस युद्ध में तटस्थ रहा, परन्तु उसकी स्थिति रूस के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रही। सत्तारूढ़ होने पर प्रधानमंत्री बिस्मार्क ने इस स्थिति को अच्छी तरह समझकर उसका उपयोग आस्ट्रिया के बहिष्कार तथा प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की अपनी योजना के लिए–जिसमें उसे रूस की सहायता की आवश्यकता थी–किया। रूस और प्रशा के सम्बंध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होते गये और जब 1866 में प्रशा ने आस्ट्रिया से युद्ध छेड़ा तो रूस तटस्थ रहा। आस्ट्रिया अकेला पड गया और प्रशा ने उसे सफलता से परास्त कर दिया। 1866 में समस्त उत्तरी जर्मनी का एकीकरण हो गया और 1870 में जब बिस्मार्क ने अंतिम कदम उठाया, उसमें रूस ने तटस्थ रहकर और आस्ट्रिया पर आक्रमण का डर बैठाकर सहायता की, इस प्रकार जर्मनी का एकीकरण सम्भव हो सका। यदि क्रीमिया का युद्ध न होता तो अगली दो शताब्दियों में संयुक्त इटली तथा संयुक्त जर्मनी की सृष्टि न हो पाती।

**रूस का प्रभाव** – रूस पर भी इस युद्ध का प्रभाव पड़ा। 1812 के बाद से रूस की जो सैनिक प्रतिष्ठा बनी हुई थी वह नष्ट हो गयी। निकोलस का शासन अत्यंत प्रतिक्रियावादी

तो था ही इस युद्ध ने उसकी अयोग्यता तथा भ्रष्टता को भी प्रमाणित कर दिया। द्वितीय एलेक्जेण्डर के समय में सुधारों की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होने लगी। द्वितीय एलेक्जेण्डर के समय में सुधार का कार्य आरम्भ हुआ और रूस के इतिहास में एक नये युग का प्रवेश हुआ।

**फ्रांस का प्रभाव–** जहाँ तक फ्रांस का सम्बंध है, क्रीमिया के युद्ध में भाग लेकर नेपोलियन ने मास्को की पराजय का बदला लिया, फ्रांस का राष्ट्रीय गौरव बढ़ाया और अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। मोल्डेविया और वालेशिया को रूस के संरक्षण से निकाल कर भविष्य में रूमानिया को स्वतंत्र होने में सहायता देकर उसने यूरोप में उदारवादियों एवं राष्ट्रीयतावादियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और वे अपनी सफलता के लिए उसकी सहायता की आशा करने लगे।

## 4.11 1871 से पूर्वी समस्या (EASTERN QUESTION FROM 1871)

पेरिस की संधि के बाद कुछ समय तक पूर्वी समस्या को लेकर कोई खास गतिविधि दिखाई नहीं देती परंतु बाल्कन प्रदेश में एक अखिल स्लाव आंदोलन प्रारम्भ हुआ और इसके साथ ही पूर्वी समस्या में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ, इसे पूर्वी समस्या का दूसरा चरण कहते हैं, इस समय में नए बने दो राज्यों – बोलिशिया और मोल्डेविया को लेकर यह समस्या एक बार पुनः चर्चा का विषय बन गई। इन्हें यह आश्वासन दिया गया था कि उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाएगी, परंतु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड और तुर्की के सुल्तान ने इसका विरोध किया। लेकिन फ्रांस और रूस उनसे किए वादों को निभाना चाहते थे, इसको लेकर यूरोपीय शक्तियों में काफी समय तक वाद–विवाद चलता रहा। अन्त में यह निर्णय लिया गया कि दोनों राज्य अपना स्वतंत्र संविधान बनाएँ, परंतु दोनों राज्यों ने यूरोपीय राज्यों के इस निर्णय को नहीं माना और अपना एक ही राजा कर्नल अलेक्जेंडर कूजा चुन लिया। आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड के विरोध के बावजूद अन्ततः रूमानिया नामक नए राष्ट्र का जन्म हुआ और उसे मान्यता मिल गई। पूर्वी समस्या में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी।

पेरिस संधि में तुर्की के सुल्तान ने यह वादा किया था कि वह उसकी ईसाई प्रजा को पूर्ण सहयोग और शांति से रहने देगा परंतु वास्तविक रूप में ऐसा नहीं हो रहा था। बाल्कन क्षेत्र की ईसाई प्रजा तुर्की के सुल्तान की स्वच्छाचारिता का विरोध करने लगी, इस तरह बाल्कन क्षेत्र में **'अखिल स्लाव'** आंदोलन ने जन्म लिया जो कि अपनी स्वतंत्रता के लिए था, इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था समस्त यूरोप की स्लाव जाति को एकता के सूत्र में बाँधना, इस आंदोलन को रूस से सहायता और प्रोत्साहन मिल रहा था। एक 'अखिल स्लाव समिति' की स्थापना की गई, इसका मुख्यालय मास्को में था, इसके माध्यम से बाल्कन क्षेत्र में रूस अपनी स्थिति मजबूत करता जा रहा था।

बाल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया और रूस का एक ही लक्ष्य था कि तुर्की साम्राज्य कमजोर होता जाए और वे अपना प्रभाव क्षेत्र बाल्कन प्रदेश में बढ़ाते जाएँ, इसी कारण दोनों के हित इस क्षेत्र में टकराते थे। यहाँ रूस तो अखिल स्लाव आंदोलन को प्रोत्साहन दे रहा था और आस्ट्रिया इसका विरोधी था, इस स्थिति में बाल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया और रूस के बीच युद्ध की स्थिति बनने लगी थी। इन सारी परिस्थितियों में 1871 से पूर्वी समस्या का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है।

### बोध प्रश्न

1. क्रीमिया युद्ध का वर्णन कीजिए?

...............................................................................................................

...............................................................................................................

...............................................................................................................

2: क्रीमिया युद्ध के परिणाम लिखिए?

............................................................................................................................................

............................................................................................................................................

............................................................................................................................................

NOTES

## 4.12 कुस्तुन्तुनिया सम्मेलन

बाल्कन समस्या पर विचार करने के लिए 23 सितम्बर, 1876 को कुस्तुन्तुनिया में बड़ी शक्तियों का एक सम्मेलन आरम्भ हुआ। सम्मेलन का पहला दिन ही दुर्भाग्यपूर्ण रहा क्योंकि टर्की के सुल्तान द्वारा स्वीकृत एक नए संविधान की घोषणा करते हुए तर्क दिया कि अब यह आवश्यक नहीं है कि सम्मेलन में कोई सुधार योजना प्रस्तुत करें। दूसरे शब्दों में टर्की ने यूरोपीय राज्यों द्वारा प्रस्तावित सुधारों को ठुकरा दिया।

रूस ने माँग की कि टर्की को यूरोपीय राज्यों का प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाए, लेकिन इंग्लैण्ड टर्की के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने के पक्ष में नहीं था। यूरोपीय राजदूतों ने तुर्की सुल्तान से माँग की कि सर्बिया, रूमानिया और मान्टिनीग्रो को स्वतंत्रता दी जाए तथा बुल्गारिया, बोस्निया और हर्जेगोविना को तुर्की साम्राज्य के अधीन अर्ध स्वतंत्र राज्य माना जाए। पर तुर्की के सुल्तान ने यूरोपीय राजदूतों की दोनों ही माँगों को अस्वीकार कर दिया, इस तरह यह सम्मेलन असफल हो गया और 20 जनवरी, 1877 को समाप्त हो गया।

इस सम्मेलन की असफलता से रूस को विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में उसे तुर्की से युद्ध करना ही पड़ेगा। पर तुर्की से उलझने से पूर्व यह आवश्यक था कि रूस आस्ट्रिया को तटस्थ रहने के लिए तैयार कर ले, इस कारण दोनों के बीच संधि वार्ता प्रारम्भ हुई और दोनों के बीच 15 जनवरी, 1877 को बुडापेस्ट की संधि पर हस्ताक्षर हो गए, इस संधि द्वारा आस्ट्रिया ने यह वचन दिया कि वह रूस तुर्की युद्ध में तटस्थ रहेगा।

## 4.13 रूस तुर्की युद्ध (1877—1878)

तुर्की के रुख से क्षुब्ध होकर 24 अप्रैल, 1877 को रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह युद्ध जनवरी, 1878 के अन्त तक चलता रहा। शीघ्र ही रूमानिया और मांटीनीग्रो भी तुर्की के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़े। आक्रमणकारी सेनाएँ तेजी से विजय प्राप्त करती गईं, इस सैनिक अभियान की मुख्य घटना थी — प्लेवना का घेरा। तुर्क सेनापति उस्मान पाशा ने पाँच माह तक किले की रक्षा, अन्त में 18 दिसम्बर, 1877 को प्लेवना का पतन हो गया। 20 जनवरी, 1878 तक रूसी फौजें एड्रियानोपोल तक पहुँच गईं जहाँ से तुर्की की राजधानी केवल 160 मील दूर रह गई। तुर्की शक्तिशाली रूस के आगे टिक न सका और 31 जनवरी, 1878 को उस रूस की शर्ते स्वीकार कर उसने युद्ध विराम की घोषणा कर दी। दूसरी तरफ इंग्लैण्ड ने चेतावनी दी कि रूस और तुर्की के बीच यदि ऐसी संधि हुई जो 1856 और 1871 की संधि द्वारा स्थापित व्यवस्था को भंग करती हो तो यूरोपीय शक्तियों की सहमति के बिना उसे मान्यता नहीं दी जाएगी। रूसी फौजें कुस्तुन्तुनिया के निकट सान—स्टीफेनो तक पहुँच चुकी थीं, किन्तु उसने तुर्की की युद्धविराम की प्रार्थना को मान लिया। दोनों के बीच 3 मार्च, 1878 को संधि हुई जो सान—स्टीफेनो की संधि के नाम से विख्यात है, इस संधि की प्रमुख शर्ते इस प्रकार थीं—

### सान स्टीफेनो की संधि

(i) तुर्की ने सर्बिया, मांटीनीग्रो और रूमानिया की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार कर ली।

(ii) बुल्गारिया को स्वशासन का अधिकार प्रदान किया गया तथा उसका विस्तार किया गया, इसका क्षेत्र डेन्यूब नदी से ऐजियन सागर तक तथा काला सागर से अल्बानिया तक विस्तृत हो गया।

(iii) बोस्निया, हर्जेगोविना और आर्मीनिया में शासन सुधार करने की माँग स्वीकार की गई। तुर्की ने रूस को क्षतिपूर्ति के तौर पर भारी रकम, आर्मीनिया के कुछ प्रदेश देना स्वीकार किया।

(iv) तुर्की डेन्यूब के तट पर स्थित अपने किलों को तोड़ देने के लिए राजी हो गया।

NOTES

**सान–स्टीफेनो की संधि के परिणाम और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया** – इस संधि के निम्न परिणाम हुए –

(i) इस संधि के द्वारा बाल्कन क्षेत्र में तुर्की का प्रभाव बहुत कम हो गया और रूस का प्रभाव बढ़ गया। इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया रूसी प्रभाव से खुश नहीं हुए। इन दोनों का मानना था कि पूर्वी समस्या का संबंध केवल रूस और तुर्की से ही न होकर यूरोप के सभी देशों से है अतः संधि पर यूरोप के सभी राज्यों के सम्मेलन में पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

(ii) यूनान और सर्बिया ने बुल्गारिया संबंधी फैसले का विरोध किया। उनका कहना था कि मैसोडेनिया पर हमारा हक है और संधि में इस हक की उपेक्षा की गई।

(iii) इंग्लैण्ड का ख्याल था कि नया राष्ट्र बुल्गारिया रूस का प्रान्त होगा और अन्त में यह कुस्तुन्तुनिया को प्राप्त करने का रास्ता तैयार करेगा।

(iv) रूमानिया भी असन्तुष्ट था, क्योंकि रूस से सहयोग करने का उसे कोई लाभ नहीं हुआ था।

(v) इसी तरह अल्बानिया की जनता असन्तुष्ट थी क्योंकि उसे तुर्की शासन के अन्तर्गत छोड़ दिया गया था।

इसके विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप बर्लिन कांग्रेस का आयोजन किया गया।

## 4.14 बर्लिन कांग्रेस (1878) (CONGRESS OF BERLIN)

पूर्वी समस्या के संदर्भ में सान–स्टीफेनो की संधि के विरुद्ध यूरोपीय राज्यों की असहमति के कारण बर्लिन कांग्रेस का आयोजन किया गया। यह सम्मेलन 13 जून को प्रारम्भ हुआ और 13 जुलाई, 1878 को समाप्त हुआ, इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, इटली, तुर्की, रूस और फ्रांस के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इंग्लैण्ड से प्रधानमंत्री डिजरेली और वहाँ के विदेश मंत्री सेलसबरी ने भाग लिया; रूस से विदेश मंत्री गार्शकाव ब्रिटेन से रूसी राजदूत शूवलाव ने; फ्रास से विदेश मंत्री वाडिंगटन ने; आस्ट्रिया से विदेश मंत्री एंद्रासी तथा जर्मनी से आस्ट्रिया के राजदूत काउटड कार्लोयी ने; तथा इटली से विदेश मंत्री काउट कोर्टी ने इस सम्मेलन में भाग लिया, इस सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का अध्यक्ष बिस्मार्क को चुना गया क्योंकि वह **'ईमानदार दलाल'** के रूप में कार्य करने का वचन दे चुका था।

इस सम्मेलन में बिस्मार्क और प्रधानमंत्री डिजरेली की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी, इस संबंध में प्रोफेसर चौहान लिखते हैं – "सम्मेलन में, प्रधानमंत्री डिजरेली और बिस्मार्क ने सबसे महत्वपूर्ण भाग लिया। बुल्गारिया के विभाजन के संबंध में रूस और ब्रिटेन के बीच मतभेदों के कारण सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया, किन्तु बिस्मार्क ने बड़ी चतुराई से दोनों पक्षों का समाधान कर दिया। अन्य मामलों के संबंध में भी कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हुई किन्तु उनको भी अन्त में सुलझा लिया गया। कुछ समय पश्चात् यूनान और रूमानिया के प्रतिनिधियों को भी सम्मेलन में भाग लेने का अवसर दिया गया। सेन–स्टीफेनो की संधि की विभिन्न शर्तों पर विचार विनिमय करने के बाद सम्मेलन ने कुछ निर्णय लिए, जिन्हें बर्लिन की संधि के रूप में स्वीकार किया गया, इस संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद 13 जुलाई को सम्मेलन समाप्त हो गया।"

इस सम्मेलन को अपने निर्णय करने में कोई विशेष समय नहीं लगा, क्योंकि इसके प्रारम्भ होने के पूर्व ही कुछ बड़े राष्ट्रों में आपस में सहमति हो चुकी थी, इस संधि के अनुसार निम्न समझौते किए गए –

(i) इस संधि का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय बुल्गारिया के संबंध में किए गया, इसको तीन भागों में विभाजित कर दिया गया, इसका पहला भाग बुलगेरिया का था। जिसे तुर्की राज्य के अधीन स्वतंत्र राज्य मान लिया गया और इसका क्षेत्र डेन्यूब नदी और बाल्कन पर्वतों के बीच तक सीमित कर दिया गया, इसका दूसरा राज्य रोमेलिया था जिसे तुर्की के अधीन कर दिया गया था, इसके लिए तुर्की ने यह वचन दिया कि वह यूरोपीय राज्यों द्वारा स्वीकृत ईसाई गवर्नर नियुक्त करेगा, इसका तीसरा राज्य था मेसीडोनिया जो कि तुर्की को हस्तान्तरित कर दिया गया।

(ii) बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश नाम मात्र के लिए, तुर्की को दे दिए गए। इनका प्रशासन अनिश्चितकाल के लिए आस्ट्रिया को दे दिए गया, इस प्रकार व्यवहार में ये दोनों प्रदेश आस्ट्रिया को मिल गए। आस्ट्रिया को यह भी अधिकार मिला कि वह सर्बिया और मांटीनीग्रो के बीच नोबि बाजार तथा संजक नामक दुर्गों में सैनिक रख सकेगा।

(iii) दोबुजा का प्रदेश रूस से लेकर रूमानिया को दे दिया गया और बेसरबिया का प्रदेश रूमानिया से लेकर रूस को दे दिया गया।

(iv) सर्बिया को स्वतंत्र राज्य मान लिया गया, इसी तरह मान्टीनीग्रो को भी स्वतंत्रता मिल गई।

(v) इंग्लैण्ड को साइप्रस पर आधिपत्य और हुकूमत करने का अधिकार दे दिया गया।

(vi) बाटुम, अर्डहान और कार्स पर रूस का अधिकार स्वीकृत कर लिया गया।

## 4.15 बर्लिन सम्मेलन की समीक्षा

बर्लिन सम्मेलन अपने लक्ष्यों में पूर्णतः सफल नहीं हो सका, इसका मुख्य लक्ष्य था बुल्गारिया के टुकडे करना और वहाँ रूस के प्रभाव को कम करना, इसके अलावा मृतप्रायः तुर्की राज्य को जीवित बनाए रखने की कोशिश करना। तत्कालीन व्यवस्था में यूरोप एक युद्ध से बच गया, परंतु इसी व्यवस्था के कारण भविष्य में बाल्कन युद्ध हुए तथा प्रथम विश्व युद्ध हुआ. इस सम्मेलन की सबसे विचित्र बात थी कि जर्मनी ने कुछ भी नहीं माँगा फिर भी वास्तविक रूप से सबसे अधिक लाभ उसी को हुआ, क्योंकि बिस्मार्क को अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा मिली और जर्मनी को अन्तरराष्ट्रीय मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला।

इस सम्मेलन से लौटकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने कहा था कि **"मैं बर्लिन से सम्मान जनक शांति का प्रस्ताव लेकर लौटा हूँ।"** इस सम्मेलन की उपलब्धियों के रूप में कहा जा सकता है कि रूस से युद्ध टल गया था और बातचीत से रास्ता निकल आया था, इसके साथ ही मृतप्रायः तुर्की राज्य में पुनः प्राण डाल दिए गए थे, इस सम्मेलन की सफलताओं के संबंध में **प्रो. देवेन्द्र सिंह चौहान** लिखते हैं – "बर्लिन कांग्रेस के निर्णायकों ने पूर्वी समस्या का संतोषजनक समाधान करने तथा यूरोपीय राज्यों के बीच एक बड़े युद्ध को रोकने का दावा किया था। प्रो. ए.जे.पी. टेलर के मतानुसार उनके दोनों दावे तथ्यहीन थे। वे लिखते हैं 'युद्ध की सम्भावना तो कांग्रेस से पहले ही उस समय समाप्त हो गई थी जब रूसी सेनाएँ कान्सटेन्टीनोपल पर अधिकार करने में हिचकिचा गयी थीं। दूसरी ओर कांग्रेस, आटोमन साम्राज्य को एक स्वतंत्र और शक्तिशाली सत्ता के रूप में पुनः स्थापित करने में असफल रही। वास्तव में, व्यावहारिक दृष्टि से सम्मेलन के निर्णयों का बहुत कम प्रभाव पड़ा। यथार्थ में बर्लिन की संधि समकालीन लेखकों और राजनीतिज्ञों से लेकर आधुनिक काल के इतिहासकारों तक की आलोचना का विषय रही।"

इस सम्मेलन में मूल समस्या थी बुल्गारिया की समस्या को हल करना, परंतु इसमें जो निर्णय किया गया वह उस समस्या को और अधिक उलझाने वाला सिद्ध हुआ. क्योंकि इन निर्णयों

NOTES

में राष्ट्रीयता के सिद्धांत की पूर्ण उपेक्षा की गई और इसके कारण इस क्षेत्र की समस्या और अधिक उलझ गई, इसके संबंध में डॉ. दीनानाथ वर्मा लिखते हैं – "राष्ट्रीयता के सिद्धांत की पूर्ण उपेक्षा बर्लिन–समझौते की दूसरी विशेषता थी। बुल्गारिया के नवीन राज्य का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के प्रश्न को दृष्टि से ओझल कर दिया गया था, इस तरह भी इस सिद्धांत की उपेक्षा की गयी। शक्ति सन्तुलन का सिद्धांत यूरोप के राजनीतिज्ञों के सामने इस तरह नाचता था कि वे इस बात को एकदम भूल गए कि बाल्कन प्रायद्वीप की एकमात्र समस्या राष्ट्रीयता ही है।"

इस तरह हम देखते हैं कि बर्लिन कांग्रेस के सभी निर्णयों से कुछ देश असन्तुष्ट रहे और अन्ततः यह असन्तोष युद्ध के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

## 4.16 यंग तुर्क आन्दोलन (YOUNG TURK MOVEMENT)

पूर्वी समस्या के अन्तर्गत 1908 में एक नया आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसे युवा तुर्क आंदोलन कहा जाता है। वास्तव में यह आंदोलन पश्चिमी सभ्यता की प्रेरणा से तथा यूनान के स्वतंत्रता आंदोलन की सफलता से प्रेरणा ग्रहण करके प्रारम्भ हुआ था, इसके मुख्य लक्ष्य थे – तुर्की में संसदीय संविधान, बौद्धिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता की घोषणा और प्रेस की स्वतंत्रता प्राप्त करना थे। तुर्की के कुछ युवा लोग अपने देश में पश्चिमी ढंग से सुधार लाना चाहते थे। एक बार तुर्की के नौसेना अध्यक्ष खलील पाशा ने कहा था **"मुझे विश्वास है कि हम शीघ्र ही यूरोपीय ढंग से सुधार नहीं करते तो हमें एशिया में वापस जाने के लिए तैयार रहना चाहिए।"** ये शब्द युवा तुर्क क्रांति की मूल प्रेरणा स्रोत थे।

### कारण, उद्देश्य और स्वरूप

युवा तुर्क आन्दोलन के उदय में मूल कारण यह था कि टर्की साम्राज्य को नया जीवन प्रदान करके पाश्चात्य ढंग पर उसका पुनर्गठन किया जाए। युवक तुर्कों ने, जो पश्चिमी और विशेषकर फ्रेंच विचारधारा से प्रभावित थे, 1880 में जिनेवा में **'एकता और प्रगति'** की समिति स्थापित की। कुछ ही समय के बाद पेरिस और तत्पश्चात् सैलीनिका इसका प्रमुख केन्द्र बन गया। युवा तुर्क दल के स्वरूप और उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए **सी.डी. हेजन** ने लिखा है–

"युवा तुर्क का यह दल क्रान्तिकारी और संवैधानिक दल था जिस पर पाश्चात्य यूरोपीय राजनीति के सिद्धांतों का प्रभुत्व था, इस दल में वे लोग सम्मिलित थे जिनको सुल्तान अब्दुल हमीद के निरंकुश शासन ने टर्की से बाहर निकाल दिया था और जो विदेशों में मुख्यतया पेरिस में रहते थे, इसमें वे लोग भी सम्मिलित थे जिन्होंने अपने विचारों को गुप्त रखा था और जो अभी तुर्की में रहते हुए निष्कासन से बच सके थे, इसके सदस्य निरंकुश भ्रष्टाचार तथा अकार्यकुशल शासन को समाप्त करना और उसके स्थान में आधुनिक उदार व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जो कि विविध एवं समग्र सुधारों के द्वारा तुर्की को प्रगतिशील राष्ट्रों में स्थान दिला सके। मौन रूप से अपना षड्यंत्र रचकर तथा उल्लेखनीय चतुराई से उन्होंने तुर्की सेना को जो कि अब तक सुल्तान की शक्ति की ठोस संरक्षक रही थी, इस षड्यंत्र में सम्मिलित कर लिया।"

तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद के अत्याचार और अनुदार शासन के विरोध में युवा तुर्कों ने अनेक गुप्त संस्थाएँ कायम कीं। उन्होंने अपने कार्यक्रम का प्रचार किया कि वे तुर्की में संसदीय संविधान लागू करना चाहते हैं और बौद्धिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांत की स्थापना के पक्ष में थे। उन्होंने शिक्षा प्रसार और व्यापारिक विकास तथा मध्यकालीन कुरीतियों के उन्मूलन की आवाज उठायी। तुर्की की तृतीय सेना का उन्हें सहयोग मिल गया और जुलाई 1908 में युवा तुर्क नियाजी बे ने सेना में विद्रोह का बिगुल बजा दिया। विद्रोह ने जोर पकड़ा और जुलाई 1908 को एकता एवं प्रगति समिति ने सेलोनिकर में घोषणा कर दी कि तुर्की में 1876 का संविधान जारी किया जाता है जिसे कि सुल्तान ने गद्दी पर बैठते ही लागू किया था, पर दो वर्ष बाद

ही समाप्त कर दिया था, पुनः लागू कर दिया गया। प्रेस पर से प्रतिबंध समाप्त कर दिए गए और साम्राज्य की प्रजा को व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानाधिकार देने की घोषणा की गई, इस रक्तहीन सैनिक क्रांति का साम्राज्य भर में अपूर्व उत्साह के साथ स्वागत हुआ।

NOTES

## युवा तुर्क आन्दोलन के कारण

**(1) अब्दुल हमीद का निरंकुश शासन**– युवा तुर्क आन्दोलन का मुख्य कारण था अब्दुल हमीद के निरंकुश शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया। दीनानाथ वर्मा के अनुसार – ''युवा तुर्क आन्दोलन अब्दुल हमीद के निरंकुश शासन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ। हम कह चुके हैं कि 1887 से 1908 ई. तक के काल में तुर्की साम्राज्य पर अब्दुल हमीद ने अपना निरंकुश शासन कायम रखा, इस अवधि में सुल्तान के शासन के खिलाफ कहीं भी विरोध का स्वर सुनाई नहीं पड़ा। 1895 में सुल्तान के शासन के खिलाफ एक विद्रोह अवश्य हुआ था, लेकिन वह तुरंत दबा दिया गया और तुर्की पर सुल्तान का पूर्व निरंकुश शासन कायम रहा, लेकिन तुर्की के इतिहास में अब्दुल हमीद के इस निरंकुश शासन का भी महत्व है। अत्याचार निरंकुशता और भ्रष्टाचार के वातावरण में एक लाभ अवश्य हुआ, इसके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने तुर्की में उदारवादी आन्दोलन की उत्पत्ति में सहायता पहुँचाई। सच तो यह है कि अब्दुल हमीद के निरंकुश होने के कारण तुर्की में राष्ट्रीयता का प्रबल बेग आया और विभिन्न प्रकार के सुधार कार्य सम्पादित किए गए, इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि युवा तुर्क आन्दोलन का प्रधान कारण अब्दुल हमीद का निरंकुश शासन था।''

अब्दुल हमीद ने सत्ता में आते ही उदारवादियों पर कड़े प्रतिबंध लगाए, संसद को भंग कर दिया और मंत्रियों के अधिकारों को छीन लिया। उसके शासन में उदारवादियों पर सबसे अधिक कठोरता बरती गई। उन्हें देश से निकाल दिया गया और बहुत से उदारवादी डर के कारण देश छोड़कर चले गए। उदारवादी नेता को सुल्तान की हत्या के आरोप में फाँसी की सजा सुनाई गई। सुल्तान ने यूरोप से आने वाले साहित्य पर प्रतिबंध लगा दिया तथा लेखकों और कवियों पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। इन्हीं उदारवादियों ने देश के बाहर क्रांति का संगठन किया।

**(2) राष्ट्रीय भावनाओं का विकास** – युवा तुर्क आन्दोलन के कारणों में तत्कालीन समस्त यूरोप व्यापी राष्ट्रीय भावना भी एक महत्वपूर्ण कारण था, इस समय का तुर्की का युवा वर्ग पश्चिमी राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत–प्रोत था। तुर्की का युवा वर्ग जानता था कि तुर्की की उन्नति तभी हो सकती है जबकि वह समय के साथ चले और यूरोप के अन्य देशों की तरह राष्ट्रीय और उदारवादी शासन पद्धति लागू करे। तुर्की में राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन पश्चिमी अनुकरण तथा भावनाओं को अपनाने के कारण ही हुआ था, इस तरह युवा तुर्क आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण कारण राष्ट्रीय भावनाओं का विकास भी था।

**(3) अन्तरराष्ट्रीय नीति और संधियाँ** – युवा तुर्क आन्दोलन का एक कारण था तुर्की की अन्तरराष्ट्रीय स्थिति और यूरोप के अन्य देशों की उसके प्रति नीतियाँ। रूस तुर्की युद्ध के बाद हुई सान–स्टीफेनो की संधि और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ बर्लिन सम्मेलन तथा उसके द्वारा की गई तुर्की की व्यवस्था ने तुर्की के कई राज्यों विशेषकर बाल्कन प्रदेशों में जबरदस्त प्रतिक्रिया और असन्तोष की भावनाओं को जन्म दिया।

## युवा तुर्क आन्दोलन के उद्देश्य

युवा तुर्क आन्दोलन के मुख्य लक्ष्य या उद्देश्य इस प्रकार थे–

(i) तुर्की की एकता और प्रगति – इस आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य था तुर्की की प्रगति और एकता स्थापित करना।

(ii) तुर्की को निरंकुश शासन से मुक्ति दिलाना।

(iii) तुर्की में राष्ट्रीय और लोकतंत्रात्मक व्यवस्था लागू करना।

(iv) तुर्की को आधुनिक और पश्चिमी ढंग से निर्मित करना।

(v) तुर्की को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विकसित करना।

NOTES

## युवा तुर्क आन्दोलन की असफलता के कारण

नए सुल्तान के नेतृत्व में हिलमी पाशा मन्त्रिमण्डल ने सुधार कार्य आरम्भ किए, लेकिन सुधारों के बारे में युवा तुर्कों में मतभेद पैदा हो गए और अन्त में युवा तुर्क आन्दोलन अपने उद्देश्य में असफल हो गया। उसकी असफलता के कुछ कारण इस प्रकार थे –

(i) उग्र तुर्क नेता अधिक तुर्कीकरण की नीति पर चलने लगे, फलस्वरूप ईसाइयों तथा अन्य गैर तुर्की जातियों में युवा तुर्क सरकार के खिलाफ असंतोष बढ़ने लगा तथा प्रदेशों में विद्रोह होने लगे।

(ii) युवा तुर्क आन्दोलन न्याय का झंडा लेकर चला था, लेकिन अन्याय और शोषण का प्रतीक बन गया।

(iii) वह सुधारों का नारा लेकर चला था मगर क्रांति के बाद कोई भी सुधार योजना लागू नहीं की जा सकी।

(iv) तुर्की साम्राज्य विभिन्न जातियों, भाषाओं, धर्मों तथा संस्कृतियों का समूह था। अतः यह आवश्यक था इस विस्तृत साम्राज्य में केन्द्रीयकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाते हुए शिथिल संघ शासन की स्थापना की जाती, परंतु युवा तुर्कों ने ऐसा नहीं किया।

(v) युवा तुर्कों की उग्र राष्ट्रीयता और दमन नीति से क्षुब्ध और परेशान होकर भारी संख्या में यूनानी, बल्गारियन आदि देश छोड़कर विदेशों में भाग गए। फलस्वरूप न केवल तुर्की साम्राज्य बड़ी संख्या में योग्य नागरिकों की सेवाओं से वंचित हो गया बल्कि विदेशों में तुर्की के विरुद्ध प्रचार कार्यों ने भी जोर पकड़ा।

(vi) युवा तुर्क सरकार अपने कार्यों से यूरोपीय राज्यों की सहानुभूति अर्जित नहीं कर सकी।

इस क्रांति ने गलत राह पर पड़कर पूर्वी समस्या से संबंधित समस्याओं को पुनः उभार दिया और फलस्वरूप विस्फोटक घटनाओं का ऐसा सिलसिला चला जिसके कारण कुछ ही वर्षों बाद पहले तो बाल्कन युद्ध हुए और फिर प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

**युवा तुर्क आन्दोलन के प्रभाव** – यह आन्दोलन रक्तहीन क्रांति के रूप में फलित हुआ, प्रारम्भिक दौर में तेजी से सफल होकर शासन सत्ता अपने हाथों में ग्रहण कर सका, लेकिन अन्ततोगत्वा विभिन्न कारणों से असफल हो गया, इसके बावजूद इसके कुछ महत्वपूर्ण प्रभाव हुए, जो इस प्रकार हैं –

(i) इस क्रांति के द्वारा तुर्की का सदियों पुराना परम्परागत एकतन्त्रीय शासन समाप्त कर दिया गया और लोकतांत्रिक शासन पद्धति का आरम्भ किया गया। यह श्रेय इस आन्दोलन को ही जाता है कि 1908 में सर्वप्रथम तुर्की में संसदीय शासन की स्थापना हुई।

(ii) इस आन्दोलन में तुर्की ने अन्तर्जातीय सहयोग की सम्भावनाओं को प्रबल बना दिया। जब सुल्तान अब्दुल हमीद ने आन्दोलन के सिद्धांतों को स्वीकार करके संसदीय शासन व्यवस्था अपनाई तो तुर्क और गैर तुर्क सभी जातियों ने उत्साह और सहयोग का प्रदर्शन किया।

(iii) इस आन्दोलन ने जनता की शक्ति को सिद्ध कर दिखाया। यह स्पष्ट हो गया कि निरंकुश सुल्तान भी केवल परम्परा या पैतृक उत्तराधिकारी के बल पर शासन नहीं कर सकता

था। उसकी राजसत्ता सही मायनों में जनमत पर अवलम्बित है यदि जनमत बदल जाए तो निरंकुश शासन को कभी भी समाप्त किया जा सकता है। तुर्की के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व प्रयोग था जिसने भावी लोकतंत्रात्मक शासन का आधार तैयार कर दिया।

(iv) इस क्रांति के फलस्वरूप सेना में भी सुधारवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ, इस आन्दोलन के द्वारा सेना में इस प्रकार के विचारों का प्रसार किया कि निरंकुश सुल्तान के प्रति अन्ध भक्ति रखना उचित नहीं है और सेना भी जनवादी सुधार आन्दोलनों के साथ सहयोग कर सकती है।

(v) इस आन्दोलन ने संकीर्ण और गलत मनोवृत्ति का शिकार अनेक कुप्रभाव भी उत्पन्न किए जैसे – उग्र राष्ट्रीयता की भावनाओं में बहकर गैर तुर्कों की संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न किया जिससे तुर्की में अन्तरजातीय सहयोग के स्थान पर अन्तरजातीय फूट और वैमनस्य ने बल पकड़ा।

(vi) युवा तुर्क क्रांति ने उग्र राष्ट्रवादी और हिंसक रूप अपना कर बाल्कन युद्धों की आधार भूमि तैयार की तथा गैर तुर्कों में संगठन के बीज बो दिए, इसके परिणामस्वरूप आगे चलकर मांटिनीग्रो, बल्गारिया, सर्बिया और यूनान ने स्वतंत्रता की माँग उठायी।

(vii) इसके अलावा युवा तुर्क आन्दोलन ने अप्रत्यक्ष रूप से सर्बिया और आस्ट्रिया के बीच घोर शत्रुता उत्पन्न कर दी और फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध के लिए एक बड़ा कारण उत्पन्न हो गया।

(viii) इससे यूरोपीय राज्यों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि युवा तुर्कों के नेतृत्व में तुर्की पुनः शक्तिशाली हो जाएगा और उस स्थिति में वे तुर्की के भूभागों पर अधिकार नहीं रख सकेंगे जिन पर अभी उनका अधिकार है।

इससे स्पष्ट है कि युवा तुर्क आंदोलन ने कुछ दृष्टियों से रचनात्मक प्रभाव उत्पन्न किए तो अनेक दृष्टियों से विनाशक और प्रतिकूल प्रभाव भी उत्पन्न किए।

## 4.17 बाल्कन युद्ध 1912–13 (BALKAN WAR)

### बाल्कन युद्धों के कारण

(i) युवा तुर्क क्रांति की तुर्कीकरण की नीतियाँ।

(ii) तुर्की के अत्याचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया।

(iii) तुर्की साम्राज्य की कमजोरी और निर्बलता।

(iv) तुर्की में गैर तुर्कों की एकता और संगठन।

(v) बाल्कन क्षेत्र में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास ।

**युद्ध के पूर्व बाल्कन राज्यों की स्थिति** – बाल्कन युद्ध के पूर्व बाल्कन राज्यों में आपसी मतभेद थे, परंतु तुर्की राज्य ने तुर्कीकरण की नीति के कारण मेसीडोनिया में ईसाइयों की हत्या की जाने लगी। मेसीडोनिया में हो रहे अत्याचारों के कारण बल्गारिया और बाल्कन प्रदेशों में एकता की भावना जाग उठी। 1911 में बाल्कन राज्यों ने अपने आपसी मतभेदों को भुलाकर मेसीडोनिया में हो रहे अपने भाइयों पर अत्याचारों को समाप्त करने के लिए संगठित होने का निश्चय किया, इसी बीच तुर्की और इटली के बीच युद्ध हुआ जिससे तुर्की की शक्ति और कमजोर हुई। इधर रूस पहले से ही बाल्कन राज्यों का संघ बनाने के लिए सक्रिय था। अब उसने यह प्रयत्न और तेज कर दिया, परंतु जब तक सर्बिया और बल्गारिया के बीच संधि न हो तब तक यह संघ नही बन सकता था। कुछ लोगों के प्रयासों से सर्बिया और बल्गारिया के बीच समझौता हुआ। 13 मार्च 1912 को सर्बिया और बल्गारिया के बीच संधि हो गई, इसके

बाद बाल्कन संघ का निर्माण आसान हो गया, इस संधि के लगभग दो माह बाद यूनान और बल्गारिया के बीच भी एक संधि हो गई, इसके अतिरिक्त मांटीनीग्रो ने मौखिक रूप से बाल्कन संघ को सहयोग करने का वचन दिया, इस प्रकार अगस्त, 1912 तक बल्गारिया, सर्बिया, यूनान और मांटीनीग्रो का एक बाल्कन संघ बन गया।



## प्रथम बाल्कन युद्ध
## (THE FIRST BALKAN WAR)

तुर्की के विरुद्ध व्याप्त असंतोष का सबसे पहले लाभ उठाया इटली ने। उसने 1911 में तुर्की से ट्रिपोली छीन लिया, इसके बाद तुर्की का विघटन प्रारम्भ हो गया। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर बाल्कन राज्यों ने भी तुर्की के विरुद्ध जोरदार युद्ध छेड़ने का निश्चय कर लिया, इस युद्ध के प्रारम्भ होने की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए प्रो. चौहान लिखते हैं –

"बाल्कन संघ के स्थापित हो जाने के बाद बाल्कन राज्यों और तुर्की के बीच युद्ध अनिवार्य हो गया था, यद्यपि रूस के विदेश मंत्री साजानोव को यह आशा थी कि वह बाल्कन राज्यों को युद्ध में प्रविष्ट होने से रोक सकेगा, किन्तु मेसीडोनिया में तुर्की के बढ़ते हुए अत्याचारों और निरपराध व्यक्तियों की हत्याओं की सूचना पाकर बल्गारिया एवं अन्य बाल्कन राज्यों में उत्तेजना बढ़ती जा रही थी। उसी समय अलबेनिया में भी विद्रोह हो गया। तुर्की की सेनाएँ अल्बानिया के विद्रोहियों के सामने पराजित हो गईं। अल्बानियनों ने उस पर अधिकार कर लिया। अल्बानिया के विद्रोहियों की सफलता और बल्गरों की हत्या के समाचार पाकर बल्गारिया, सर्बिया, मान्टीनीग्रो और यूनान तुर्की के विरुद्ध आक्रमण करने को व्यग्र हो उठे और सितम्बर में उनकी सेनाएँ युद्ध के लिए सुसज्जित होने लगी।"

यूरोप के कुछ राज्यों ने तुर्की के सामने यह प्रस्ताव रखने की सोची कि वह सुधार लागू करे, परंतु उनके प्रस्ताव रखने के पहले ही मान्टीनीग्रो के शासक निकोलस ने आठ अक्टूबर, 1912 को तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, इसके तुरन्त बाद 14 अक्टूबर को बल्गारिया, सर्बिया और यूनान ने भी तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, इस तरह तुर्की ने भी 18 अक्टूबर को बल्गारिया और सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके युद्ध की शुरुआत कर दी। 22 अक्टूबर को बल्गारिया ने थ्रेस में किर्क किलिस के युद्ध में तुर्की को पूर्णतः पराजित कर दिया, इसी क्रम में सर्बिया ने भी कुमानोवा में सफलता अर्जित की। यूनान ने नवम्बर में सेलोनिका को अपने अधिकार गें ले लिया। इधर बल्गारिया की सेनाएँ कान्सटेन्टीनोपल और एड्रियानोपल के पास तक जा पहुँचीं, इस समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब तुर्की साम्राज्य पूरी तरह विघटित और पराजित हो जाएगा। तुर्की ने बड़े राज्यों से हस्तक्षेप की अपील की। तीन दिसम्बर को यूरोपीयन राज्यों के सुझाव मानकर बल्गारिया, सर्बिया और मान्टीनीग्रो तुर्की से युद्ध विराम के लिए तैयार हो गए, परंतु 29 जनवरी, 1813 को बाल्कन राज्यों ने युद्ध विराम समाप्त कर दिया और एक बार पुनः तुर्की के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ हो गया। 26 मार्च को एड्रियानोपल का पतन हो गया, इसके बाद तुर्की ने पुनः संधि की वार्ता प्रारम्भ की। अप्रैल में तुर्की और बल्गारिया ने युद्ध विराम स्वीकार कर लिया और लन्दन में संधि वार्ता प्रारम्भ हुई।

### लन्दन की संधि

30 मई, 1913 को लन्दन की संधि हुई, इस संधि के अनुसार–

(i) कुस्तुन्तुनिया और उसके चारों ओर से कुछ क्षेत्रों पर तुर्की का आधिपत्य कायम रखकर अन्य क्षेत्र तुर्की की अधीनता से मुक्त कर दिए।

(ii) क्रीट को यूनान के साथ मिला दिया गया।

(iii) सर्बिया के दक्षिण पश्चिम में अल्बानिया राज्य का निर्माण किया गया।

- लन्दन की यह संधि स्थायी सिद्ध नहीं हुई, इसके मुख्यतः दो कारण थे –

(a) अल्बानिया राज्य का निर्माण किया जाना सर्बिया को अच्छा नहीं लगा, इस राज्य के निर्माण से उसकी एड्रियाटिक सागर तक पहुँचने की आशा समाप्त हो गई। अल्बानिया के निर्माण में आस्ट्रिया का मुख्य हाथ था, अतः सर्बिया और आस्ट्रिया की शत्रुता और भी गहरी हो गई।

(b) लन्दन की संधि द्वारा यह तय नहीं हुआ कि तुर्की की अधीनता से मुक्त प्रदेशों में से किस विजेता को क्या मिले ? परिणामस्वरूप लूट के माल के बँटवारे के प्रश्न पर विजेता बल्कान राज्य आपस में लड़ पड़े।

## 4.18 द्वितीय बाल्कन युद्ध (SECOND BALKAN WAR)

द्वितीय बाल्कन युद्ध का मुख्य कारण था विजयी क्षेत्र में बँटवारे का प्रश्न। बाल्कन राज्य जिस एकता के आधार पर प्रथम युद्ध लड़े थे वह एकता समाप्त हो गई, इस क्षेत्र में अधिक समय तक शांति नहीं रह सकी, इस युद्ध का तात्कालिक कारण बना–मेसीडोनिया का प्रश्न। सर्बिया का ऐड्रियाटिक सागर तक पहुँचने मार्ग बन्द हो गया तो उसने क्षति पूर्ति के लिए मेसीडोनिया में अधिक क्षेत्र प्राप्त करना चाहा। दूसरी तरफ बल्गारिया भी मेसीडोनिया के अधिक से अधिक भाग पर अपना अधिकार करना चाहता था। यूनान भी अपना कुछ हिस्सा चाहता था, क्योंकि इस प्रदेश में यूनानी लोग रहते थे, इस तरह मेसीडोनिया को परस्पर बाँट लेने के प्रश्न पर विरोध बढ़ता गया। बल्गारिया और सर्बिया किसी भी प्रकार एक दूसरे से सहमत नहीं हुए। आस्ट्रिया इस ताक में था कि बाल्कन संघ के सदस्यों का संघर्ष इतना गहरा हो कि उनकी एकता का भय न रह सके। अतः वह अपनी कूटनीति से उनमें फूट डालने लगा। अन्त में बल्गारिया ने जून, 1913 में सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यहाँ से द्वितीय बाल्कन युद्ध प्रारम्भ हो गया।

**प्रो. चौहान** लिखते हैं – "29–30 जून को बल्गारिया के शासक फर्डीनेण्ड ने प्रधान मंत्री दानेव की सलाह के बिना मेसीडोनिया में सर्बिया के सेनाओं पर आकस्मिक हमला कर दिया और एक दूसरी सेना सेलोनिका में यूनान के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए भेज दी। बल्गारिया के इस आक्रमण से द्वितीय बाल्कन युद्ध प्रारम्भ हो गया। यूनान और सर्बिया की सम्मिलित सेनाओं के विरुद्ध बल्गारिया की सेनाएँ कई स्थानों पर पराजित हुईं और उन्हें पीछे हटना पड़ा। 9 जुलाई को रूमानिया भी बल्गारिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया। रूमानिया के सम्मिलित हो जाने से सर्बिया और यूनान को बल मिला और बल्गारिया की स्थिति गंभीर हो गई, क्योंकि उसमें तीनों राज्यों की सम्मिलित शक्ति का सामना करने की क्षमता नहीं थी, इसके तीन दिन बाद तुर्की ने भी बल्गारिया से अपनी हार का बदला लेने तथा कुछ भू–भाग प्राप्त करने के उद्देश्य से बल्गारिया के विरुद्ध आक्रमण कर दिया 20 जुलाई को तुर्की ने एड्रियानोपल पर अधिकार कर लिया और तिरनोवा की ओर आगे बढ़ने लगा। सर्बिया और यूनान सेनाएँ सभी स्थानों पर विजयी हुई और बल्गारिया पूर्ण रूप से पराजित हो गया। जुलाई के आरम्भ में सर्बिया की सफलता को देखकर आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करने का विचार किया, किन्तु जर्मनी और इटली ने उसे रोक दिया। बल्गारिया ने बड़े राज्यों से सहायता की अपील की, किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला।"

लगभग एक माह तक युद्ध चलता रहा और अन्त में बल्गारिया को संधि करने के लिए विवश होना पड़ा।

**बुखारेस्ट की संधि** – इसके अनुसार –

(1) इस संधि के अनुसार सर्बिया, यूनान और रूमानिया को काफी प्रदेश मिले, इसमें रूमानिया को डोब्रुजा का बहुत बड़ा हिस्सा और सिलिस्ट्रिया का दुर्ग मिल गया। सर्बिया को आचरीडा

कोसोवो और मेसीडोनिया और नोवीबाजार के संजक का पूर्वी भाग मिला। इनके अलावा यूनान को एपिरस, दक्षिणी मेसीडोनिया, सेलोनिका, कावला तथा मेस्टा नदी का समुद्र तट प्राप्त हुआ।

(ii) तुर्की को एड्रियानोपल सहित एक बड़ा भाग मिला।

(iii) इसमें सबसे अधिक खोया बल्गारिया ने।

**बोध प्रश्न**

1. बर्लिन कांग्रेस का वर्णन कीजिए?

..........................................................................................................

..........................................................................................................

..........................................................................................................

2. प्रथम बाल्कन युद्ध का वर्णन कीजिए?

..........................................................................................................

..........................................................................................................

..........................................................................................................

## 1.19 बाल्कन युद्धों के परिणाम

बाल्कन युद्धों के परिणामस्वरूप निम्नलिखित प्रादेशिक परिवर्तन हुए –

(i) दोनों बाल्कन युद्धों में भारी जन–धन हानि हुई। लगभग 25 करोड़ पाउन्ड व्यय हुए और चार लाख आदमी मारे गए या घायल हुए जिनमें दो लाख के लगभग तो अकेले बल्गारिया के थे। तुर्की को लगभग एक लाख सैनिकों से हाथ धोना पड़ा।

(ii) इन युद्धों के फलस्वरूप बल्गारिया को **"वृहत् बल्गारिया"** निर्माण की महत्वाकांक्षा से हाथ धोना पड़ा।

(iii) यद्यपि यूनान, सर्बिया, मांटीनीग्रो, रूमानिया आदि बाल्कन राज्यों ने कुछ न कुछ प्रदेश प्राप्त किए, किन्तु उनकी सन्तुष्टि नहीं हुई। बुखारेस्ट की संधि ने असंतोष के अनेक बीज बो दिए। उदाहरणार्थ, यूनान अल्बानिया का प्रदेश चाहता था जो उसे नहीं मिला। यूनान ने इम्बोज और टेडोनीज द्वीपों की माँग की पर ये द्वीप तुर्की को मिले। सर्बिया समुद्र तट चाहता था, पर आस्ट्रिया और जर्मनी के विरोध के कारण उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई। मांटीनीग्रो को स्कूटरी नहीं मिला और इस तरह समुद्र तट की ओर अपना विस्तार करने की उसकी अभिलाषा पूरी नहीं हो सकी। रूमानिया को भी अपने लाभों से सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि उसे ट्रांससिलवानिया, बेरसबिया और बुकोविना नहीं मिले, इस तरह बुखारेस्ट की संधि अपने पीछे विस्फोट की अनेक चिंगारियाँ छोड़ गई।

बाल्कन युद्धों ने प्रादेशिक परिवर्तनों के अलावा अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रभाव उत्पन्न किए इनमें मुख्य ये थे –

(i) चूँकि आस्ट्रिया और जर्मनी के विरोध के कारण सर्बिया को समुद्र तट प्राप्त नहीं हो सका अतः बुखारेस्ट की संधि के बाद वह इन दोनों देशों को अपना घोर शत्रु समझने लगा। आस्ट्रिया और जर्मनी भी सर्बिया को अपना शत्रु समझते थे, क्योंकि सर्बिया स्लाव आन्दोलन का नेता था और यह आन्दोलन आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए खतरा था। आस्ट्रिया को भय था कि उसके साम्राज्य में रहने वाली स्लाव जाति में विद्रोह के अंकुर न फूटें, इस तरह सर्बिया और आस्ट्रिया में शत्रुता बढ़ गयी जो कालान्तर में प्रथम विश्व युद्ध का कारण बनी।

NOTES

(ii) सैलोनिका पर पूरा यूनान का अधिकार होने से आस्ट्रिया की ओर बढ़ने की इच्छा पर अंकुश लग गया और फलस्वरूप आस्ट्रिया तथा यूनान में कटुता हो गई।

(iii) रूमानिया बृहत्तर रूमानिया का निर्माण करना चाहता था अतः उसके जातीय प्रचार ने आस्ट्रियन साम्राज्य के लिए खतरा पैदा कर दिया और दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ने लगा।

(iv) बल्गारिया द्वितीय बाल्कन युद्ध के फलस्वरूप की गई बुखारेस्ट की संधि के अपमान को भूल नहीं सका और इस कलंक को धो डालने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

(v) बुखारेस्ट की संधि ने किसी को भी पूरी तरह संतुष्ट नहीं किया अतः असंतोष के बिन्दु व्यापक होते गए और निरन्तर बढ़ती हुई पारस्परिक कटुता ने 1914 में प्रथम महायुद्ध की स्थिति पैदा कर दी।

## 4.20 सारांश

तुर्की की समस्या जो आरंभ में कवेल एक स्थानीय समस्या समझी जाती रही, एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या बन गयी यह समस्या इतिहास में पूर्वी समस्या के नाम से प्रसिद्ध है।

## 4.21 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) पूर्वी समस्या क्या है ? स्पष्ट कीजिए।

(2) पूर्वी समस्या को अन्तरराष्ट्रीय महत्व कैसे मिला अथवा इसके अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप पर विचार कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(3) युवा तुर्क आन्दोलन के कारणों और परिणामों का विवेचन कीजिए।

(4) युवा तुर्क आन्दोलन का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

(5) उन्नीसवीं शती में पूर्वी समस्या यूरोप की सबसे जटिल समस्या थी। सिद्ध कीजिए।

(6) बाल्कन युद्धों का विवरण दीजिए।

### विकल्प

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

1. वाल्कन युद्ध हुआ था–

(अ) 1912–13 (ब) 1922–23 (स) 1932–33 (द) 1943–44

2. सान–स्टीफेनो की संधि हुई थी–

(अ) 1858 (ब) 1868 (स) 1878 (द) 1888

उत्तर 1. (अ), 2. (स)

## 4.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

# अध्याय-5 बिस्मार्क की आंतरिक और विदेश नीति

## (BISMARCK: INTERNAL AND FOREIGN POLICY)

NOTES

### इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 परिचय
5.2 बिस्मार्क की गृह नीति
5.3 बिस्मार्क की आर्थिक नीति या संरक्षण नीति
5.4 बिस्मार्क की विदेश नीति
5.5 त्रिगुट का निर्माण
5.6 त्रिगुट की स्थापना
5.7 बिस्मार्क की विदेश नीति की समीक्षा
5.8 सारांश
5.9 अभ्यास प्रश्न
5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. जर्मनी के ऐतिहासिक घटनाक्रम से परिचित हो सकेंगे।
2. बिस्मार्क की आंतरिक और विदेश नीति का मूल्यांकन कर सकेंगे।
3. त्रिगुट की स्थापना एवं इसका मूल्यांकन कर सकेंगे।
4. तात्कालीन परिवेश की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक घटनाक्रम से परिचित हो सकेंगे।

## 5.1 परिचय

1871 में जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हुआ, इसके पश्चात् जर्मनी को आधुनिक विश्व में एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभारने का श्रेय बिस्मार्क को है। उसने राईखस्टेग में भाषण देते हुए कहा था **"आरम्भ से ही मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य जर्मनी को एकता के सूत्र में बाँधना और एकीकरण के पश्चात् उसे शक्तिशाली एवं समृद्ध बनाना तथा एकीकरण को ऐसा रूप देना रहा है कि उससे संबंधित सभी लोगों की सद्भावना के साथ वह चिरस्थायी हो सके।"**

## 5.2 बिस्मार्क की गृह नीति (BISMARCK: INTERNAL POLICY)

बिस्मार्क की गृह नीति का मुख्य उद्देश्य साम्राज्य को सुसंगठित एवं शक्तिशाली बनाना था। साथ ही वह समान प्रशासकीय, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा विभिन्न राज्यों की विविधताओं एवं पृथकताओं को समाप्त करना चाहता था, इसीलिए उसने केन्द्रीय संस्थाओं का निर्माण आरम्भ किया जिससे साम्राज्य के सभी भागों में एक ही प्रकार की व्यवस्था स्थापित हो गई।

"नवीन जर्मनी एक संघीय साम्राज्य था। वह पच्चीस छोटे–बड़े राज्यों का तथा राजकीय प्रदेश आल्सास–लारेन का सम्मिलित संघ राज्य था। प्रत्येक अवयवी राज्य स्थानीय शासन के संबंध में पूर्ण स्वाधीन था किन्तु अन्य बातों में वह केन्द्र के अधीन था। प्रत्येक अवयवी राज्य का शासन था, अपनी व्यवस्थापिका और कार्यपालिका थी तथा अपने न्यायालय थे। चूँकि प्रशा सम्पूर्ण जर्मनी में सबसे बड़ा और सबसे बड़ी जनसंख्या वाला राज्य था और उसकी सैन्य शक्ति भी अन्य राज्यों से अधिक थी, अतः उसकी प्रमुखता स्वाभाविक रूप से सारे जर्मनी पर छायी हुई थी।"

**(1) साम्राज्य और उसका नया संविधान** – जर्मनी के एकीकरण के बाद उसका नया संघीय संविधान बनाया गया और जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई। संयुक्त जर्मनी का संविधान 16 अप्रैल, 1871 को स्वीकृत किया गया, इस एकीकृत जर्मन संघ के संविधान में अध्यक्ष के स्थान पर **'सम्राट'** और परिसंघ के स्थान पर **'साम्राज्य'** शब्द का प्रयोग किया गया था। यह साम्राज्य 25 राज्यों तथा अल्सेस–लारेन के राजकीय प्रदेश का सम्मिलित राज्य था, इस संविधान में प्रशा की प्रमुखता साफ दिखाई देती है, क्योंकि प्रशा का शासक ही जर्मन सम्राट घोषित कर सकता था। जर्मन साम्राज्य का सबसे प्रमुख व्यक्ति सम्राट ही होता था। सम्राट को यह अधिकार था कि वह सदन द्वारा पारित किसी मामले को यह घोषित कर सकता था कि यह मामला संविधान से संबंधित से संबंध रखता है या संसद के अधिकार क्षेत्र से बाहर है। संघ के अध्यक्ष की हैसियत से उसे तीन प्रकार के अधिकार थे –

- सम्राट संघ सम्मिलित राज्यों तथा विदेशी राज्यों के सम्मुख साम्राज्य का प्रतिनिधि था।
- उसे उसकी साम्राज्य परिषद की एक समिति की सहायता से विदेशी संबंध की स्थापना करने, राजदूतों का स्वागत करने, उनकी नियुक्ति करने, युद्ध तथा संधि करने का अधिकार था।
- उसको विधानसभा के अधिवेशन आमंत्रित करने, उनको स्थगित करने तथा साम्राज्य–परिषद की अनुमति से प्रथम सदन को भंग करने का अधिकार था।

साम्राज्य के लिए एक **चांसलर** या प्रधानमंत्री की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। चांसलर सम्राट के प्रति उत्तरदायी होता था। सम्राट ही उसे उसके पद से हटा सकता था। सम्पूर्ण साम्राज्य का शासन संचालन चांसलर के द्वारा ही किया जाता था। वह राज्य के अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था। यही एक मात्र संघीय मंत्री होता था।

**संसद में दो सदन** – जर्मन साम्राज्य की संसद में दो प्रकार के सदन थे – **साम्राज्य परिषद** और **लोक सभा**। इनमें से एक जनता का प्रतिनिधित्व करती थी और दूसरी अन्य राज्यों का।

- **साम्राज्य परिषद** को **बुन्देस्टेग** भी कहा जाता था। यह साम्राज्य के पच्चीस राज्यों के प्रतिनिधियों का प्रतिनिधित्व करती थी, इसमें सभी राज्यों के समान प्रतिनिधि नहीं होते थे, इसमें कुल 58 सदस्य थे, इसके सदस्यों को स्वयं अपने विवेक के आधार पर मत नहीं दे सकते थे उन्हें अपने शासक के आदेशानुसार मत देना पड़ता था। साम्राज्य का कोई भी विधेयक इसी सभा की स्वीकृति पर कानून बन सकता था।
- **लोक सभा** को **राइखस्टेग** कहा जाता था। यह सदन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का प्रतिनिधित्व करती थी, इसके 397 सदस्यों को गुप्त मतदान द्वारा पाँच वर्ष के लिए चुना जाता था, इस सभा को सेना, व्यापार, आयात–निर्यात कर, रेल, डाक, तार एवं दीवानी और फौजदारी कानून बनाने का अधिकार था. इस सभा द्वारा पारित कानूनों को साम्राज्य परिषद की स्वीकृति आवश्यक थी।

बिस्मार्क द्वारा बनाए गए इस संविधान पर देवेन्द्र सिंह चौहान टिप्पणी करते हुए लिखते हैं – "वास्तव में बिस्मार्क ने जर्मन संघ का संविधान, जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों को देखकर इस प्रकार बनाया था, जिससे प्रशा की प्रधानता बनी रहे, समस्त अवयवी राज्यों को

आन्तरिक स्वशासन के अधिकार प्राप्त हों और जर्मनी की राष्ट्रीय एकता भी अक्षुण्ण रहे। उसने एक ओर तो एकात्मक और संघात्मक प्रणाली के बीच और दूसरी ओर राजतंत्र और लोकतंत्र के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने विभिन्न राज्यों के वैधानिक शासकों के बीच समझौते द्वारा एक वैधानिक राजतंत्रात्मक संघ बनाया।''

NOTES

## बिस्मार्क के कार्य

संविधान को लागू करने के बाद बिस्मार्क ने जो गृह नीति अपनायी उसमें उसे कई महत्वपूर्ण कार्य करने थे। उसकी गृह नीति का मुख्य कार्य इस प्रकार था – ''बिस्मार्क का मुख्य कार्य साम्राज्य को संगठित करना, छोटे–छोटे राज्यों को प्रशा के ढंग पर ले आना और केन्द्रीय नौकरशाही तथा समस्त साम्राज्य के लिए समान आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा विभिन्न राज्यों, विविधताओं, स्थानीय शक्ति एवं पार्थक्यवाद का अन्त करना और इन सब उपायों द्वारा एक सुसंगठित राष्ट्र का निर्माण करना था, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बिस्मार्क को कई कार्य करने पड़े और कुछ ही वर्षों में उसने साम्राज्य की विघटनकारी प्रवृत्तियों को नष्ट करके उसमें एकता का संचार कर दिया, पर इन घरेलू मामलों में उसने अधिनायक की तरह आचरण किया। उसके उद्देश्यों की पूर्ति में जो उसके बाधक बने उन्हें बिस्मार्क ने बुरी तरह कुचल दिया।''

## सुधार कार्य

- जर्मन राज्य में एक समान मुद्रा का प्रचलन किया। अलग–अलग राज्यों की अलग–अलग मुद्राओं को हटाकर 'मार्क' नामक मुद्रा चलाई।
- जर्मन संघ के राज्यों पृथक संस्थाओं को समापत करके उनके स्थान पर इम्पीरियल संस्थाओं का निर्माण प्रारम्भ किया।
- 1876 में एक इम्पीरियल बैंक की स्थापना की और साम्राज्य के सारे बैंकों को इससे संबद्ध कर दिया गया।
- केन्द्रीय रेलवे बोर्ड की स्थापना की, इसके द्वारा राज्य की सभी रेलों पर नियंत्रण रखा जाता था।
- डाक–तार विभाग को भी केन्द्रीय नियंत्रण में ले लिया गया।
- उसने सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए राष्ट्रीय न्यायालयों की स्थापना की।

## जर्मनीकरण की नीति

जर्मनी में रहने वाली अ–जर्मन जातियों के खिलाफ बिस्मार्क की जो नीति थी उसे जर्मनीकरण की नीति कहते हैं। जर्मन साम्राज्य में कई अ–जर्मन क्षेत्र भी सम्मिलित कर लिए गए थे। जर्मनी के एकीकरण के बाद जर्मन में जो अ–जर्मन जातियाँ विद्यमान थीं उनके संबंध में देवेन्द्र सिंह चौहान का यह विवरण प्रासंगिक है – ''जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत कई अ–जर्मन क्षेत्र सम्मिलित कर लिए गए थे जिनमें, पोल, डेन और फ्रेंच लोग अधिक संख्या में रहते थे। पोसेन के आस–पास के क्षेत्र में लगभग 35 लाख पोल रहते थे, उत्तरी श्लेसविग में एक लाख पचास हजार डेन रहते थे और एल्सेस–लोरेन में लगभग 18 लाख फ्रांसीसी लोग रहते थे। इन क्षेत्रों के जर्मन साम्राज्य में मिलाए जाने से वहाँ के निवासी प्रसन्न नहीं थे।''

बिस्मार्क ने इन जातियों को जर्मन जाति में मिलाए जाने की कोशिश की। उसकी अपनी इस नीति का सबसे पहला प्रयोग पोल जाति पर किया। उसने जर्मन क्षेत्र में रहने वाली पोल जाति पर दबाव डाला कि वह जर्मन सभ्यता और संस्कृति को अपना ले। जिन पोल लोगों ने उसकी इस नीति को मानने से इन्कार किया उन पर बिस्मार्क ने प्रतिबंध लगाया कि वे आजीवन विवाह न करें क्योंकि उसका सोचना था कि यदि नव युवक विवाह करते रहे और उन्होंने जर्मन सभ्यता और संस्कृति नहीं अपनायी तो उनकी संख्या बढती रहेगी और भविष्य में यह समस्या और बढ़ जाएगी। उसके इस नियम से पोल जनता पर कोई फर्क नहीं हुआ, इसके बाद उसने

एक नया नियम बनाया कि जो लोग जर्मन सभ्यता और संस्कृति को नहीं अपनायें वे जर्मनी छोड़कर चले जाएँ, इस नियम के बाद जो प्रतिक्रिया हुई उससे बिस्मार्क की पराजय सामने आ गई। अधिकांश पोल जर्मनी छोड़कर भाग गए और जो शेष रह गए वे भी बिस्मार्क नीति का विरोध करते रहे।

NOTES

श्लेसविग की डेन प्रजा के साथ भी बिस्मार्क ने वही नीति अपनाई जो पोल प्रजा के साथ प्रयोग की गई थी। उसको भी जर्मन जाति में मिलाने के कई प्रयत्न किए गए। यहाँ की जनता वास्तव में डेनमार्क के साथ मिलना चाहती थी, परन्तु बिस्मार्क ने उन पर सैनिक दबाव डाला कि वे जर्मन बन जाएँ परन्तु वह सफल नहीं हुआ।

अल्सेस–लारेन में रहने वाले फ्रांसीसी लोगों के संबंध में भी बिस्मार्क यह सोचता था कि वे लोग जर्मन बन जाएँगे और फ्रांस का वह क्षेत्र हमेशा के लिए जर्मनी का हो जाएगा, इस क्षेत्र के लोगों को वह शक्ति के द्वारा अपने अधीन रखना चाहता था, इसके अलावा उसने कभी–कभी उन्हें सुविधाओं का लालच देकर भी अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न किया, परंतु फ्रांस के उस क्षेत्र के निवासी हमेशा जर्मनी से मुक्त होने के लिए संघर्ष करते रहे।

**राबर्टसन** बिस्मार्क की इस जर्मनीकरण की नीति के संबंध में लिखता है – **''इस दिशा में बिस्मार्क की कीर्ति पूर्ण असफल रही और उसका विरोध बढ़ता रहा।''** इस तरह हम देखते हैं कि बिस्मार्क की जर्मनीकरण की नीति सफल नहीं हो सकी। अ–जर्मन जातियाँ कभी भी पूर्ण रूप से जर्मनी सभ्यता और संस्कृति में एकमेव नहीं हो सकीं, इसके विपरीत उनमें अपनी राष्ट्रीयता की भावना और अधिक बढ़ती गई।

## सांस्कृतिक संघर्ष : कुल्चुर कैम्फ

1871 में जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई और इसके तुरंत बाद ही बिस्मार्क को कैथोलिक चर्च के साथ संघर्ष में फंसना पड़ा। जर्मनी की सरकार और कैथोलिक चर्च तथा कैथोलिक दल के बीच जो युद्ध 1871 से 1878 के बीच हुआ उसे इतिहास में **'सभ्यता के लिए संघर्ष'** या **'कुल्चुर कैम्फ '** कहा जाता है। उसकी गृह नीति की सबसे महत्वपूर्ण घटना यही मानी जाती है। यह वह युग था जबकि यूरोप के कई देशों में चर्च और राज्य के बीच संघर्ष हुए थे। राज्य चर्च को राजनीति से अलग करने की नीति अपना रहे थे। जर्मनी में भी चर्च के अधिकारों को कम करने और उन्हें राजनीति से पृथक करने के लिए बिस्मार्क ने संघर्ष किया, इस संघर्ष के कई कारण थे –

(i) कैथोलिक चर्च जर्मनी में अधिक शक्तिशाली था।

(ii) कैथोलिक चर्च जर्मनी के एकीकरण का विरोधी था।

(iii) प्रशा की जनता प्राटेस्टेंट थी और अन्य राज्यों की अधिकांश जनता कैथोलिक।

(iv) कैथोलिक पादरी और पोप का सोचना था कि यदि प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण हो गया तो उनकी धार्मिक स्वतंत्रता का अन्त हो जाएगा।

(v) बिस्मार्क का मानना था कि पोप राष्ट्र का विरोधी है।

(vi) जर्मनी के एकीकरण के बाद भी कैथोलिक चर्च आस्ट्रिया का समर्थक और जर्मनी का विरोधी ही रहा अतः दोनों में संघर्ष अनिवार्य सा हो गया था।

(vii) 1870 में वेटीकन काउन्सिल ने पोप के अमोघता के सिद्धांत की घोषणा की, इसमें यह कहा गया कि प्रत्येक धर्मावलम्बी को पोप की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना चाहिए अन्यथा उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया जाएगा ।

(viii) बिस्मार्क जर्मनी के कैथोलिक दल को भी राष्ट्र विरोधी ही समझता था क्योंकि उसकी निष्ठा राष्ट्र के प्रति न होकर पोप के प्रति थी।

(ix) बिस्मार्क धर्म को राजनीति से बिल्कुल अलग रखना चाहता था। उसकी नीति थी – **"प्रशा का वैधानिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण के केवल एक है– धार्मिक कार्यों, चर्च की पूर्ण स्वतंत्रता तथा राज्य के अधिकार–क्षेत्र में उसका हस्तक्षेप का विरोध।"**

(x) 1870 में रोम के पोप ने चर्च के मामलों में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया और उसने पादरियों को यह आदेश दिया कि समस्त विद्यालयों में इस बात की शिक्षा दी जाए। पोप के आदेशानुसार जर्मनी के पादरियों ने भी इस बात की माँग की। यह माँग जर्मन राष्ट्रीयता के लिए खतरनाक थी। बिस्मार्क इसको कभी स्वीकार नहीं कर सकता था।

(xi) इन तमाम स्थितियों में बिस्मार्क ने चर्च से जर्मन सभ्यता की रक्षा के लिए संघर्ष करना ही उचित समझा।

(xii) बिस्मार्क ने पोप की अमोघता के सिद्धांत को राज्य के अधिकारों के लिए खतरनाक चुनौती माना और उसका विरोध किया।

प्रोफेसर चौहान के शब्दों में बिस्मार्क और चर्च के संघर्ष की परिस्थितियाँ इस प्रकार थीं – "बिस्मार्क 1866 से ही रोमन कैथोलिक चर्च से चिड़ता था, क्योंकि वह दल आस्ट्रिया के नेतृत्व में 'वृहत जर्मनी' का समर्थक था। आस्ट्रिया की पराजय से रोमन कैथोलिकों को बड़ा दुःख हुआ था, क्योंकि वह प्रोटेस्टेन्ट प्रशा की, कैथोलिक आस्ट्रिया पर विजय थी। जर्मन साम्राज्य के बन जाने के बाद भी जर्मनी का रोमन कैथोलिक दल, जो अब केन्द्रीय पार्टी के नाम से संगठित हो गया था, राष्ट्र का विरोधी बना रहा। वास्तव में इस दल की भक्ति केवल पोप के प्रति थी। वह पोप की ऐहिक शक्ति को पुनः स्थापित करना चाहता था और राज्य में धर्म को सर्वोपरि बनाना चाहता था। बिस्मार्क, जो राष्ट्रीय एकता को संगठित करने के कार्य में संलग्न था, इस प्रकार की राष्ट्र विरोधी संस्था को किसी प्रकार सहन नहीं कर सकता था। दूसरे, उसको यह भी डर था कि कैथोलिकों को साम्राज्य के अन्य विरोधियों जैसे पोल और हनोवर के ग्वेल्फ दल का भी सहयोग न मिल जाए। यदि साम्राज्य के सभी विरोधी संगठित हो जाते तो बिस्मार्क की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जातीं, इसके अतिरिक्त बिस्मार्क का यह मत था कि चर्च और राज्य के कार्य क्षेत्र पृथक होना चाहिए जिससे चर्च को धार्मिक क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त हो, किन्तु वह राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप न कर सके।"

सरकार और चर्च के बीच संघर्ष होने के तात्कालिक कारण और परिस्थिति की ओर संकेत करते हुए वे आगे लिखते हैं – "जर्मनी में कुल्टुरकेम्फ (सभ्यता का संघर्ष) का आरम्भ स्वयं कैथोलिकों के बीच सैद्धांतिक मतभेद के कारण हुआ। 1864 से ही पोप अपनी धार्मिक सत्ता को ही सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न कर रहा था, इस वर्ष पोप पायस नवम् ने एक विज्ञप्ति द्वारा 'आधुनिक काल की प्रमुख भूलों का विवरण' या ' सिलेबस एरोरम' प्रस्तुत किया गया था, जिसमें उन सब मतों या विचारधाराओं का उल्लेख किया गया था जिनको पोप धर्म विरुद्ध या अनुचित समझता था। पोप की यह विज्ञप्ति उदारवादी विचारों के विरुद्ध एक चुनौती थी। 1870 में पोप की राजनैतिक सत्ता समाप्त हो गई और प्रोटेस्टेन्ट प्रशा ने कैथोलिक फ्रांस को परास्त कर दिया। ऐसी स्थिति में, वेटिकन काउन्सिल ने जुलाई 1870 में पोप की अमोघता की घोषणा की, जिसमें यह कहा गया कि धर्म के क्षेत्र में पोप सर्वोच्च शक्ति है और उसके वचन दोष रहित हैं, अतः प्रत्येक धर्मावलम्बी को उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना चाहिए। वेटिकन काउन्सिल की आज्ञा में यह भी कहा गया कि जो इस आदेश का पालन नहीं करेगा उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया जाएगा। जर्मनी में इस आदेश से बड़ी उत्तेजना फैली। कुछ कैथोलिकों ने, जिनका नेता प्रसिद्ध धर्मशास्त्री और इतिहासकार डॉ. डालिन्जर था, पोप की अमोघता के सिद्धांत को मानने से इन्कार कर दिया, किन्तु डालिन्जर के समर्थकों, जिन्हें 'पुराने कैथोलिक' कहा जाता था, की संख्या बहुत कम थी। जब कि जर्मनी के अधिकांश बिशपों ने पोप की अमोघता का समर्थन किया था। परिणाम यह हुआ था कि कैथोलिकों में पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया और पोप की आज्ञाओं के विरोधियों का धर्म–बहिष्कार किया जाने लगा। अब, राज्य का हस्तक्षेप करना अनिवार्य सा हो गया। जब

कोलेन के आर्च बिशप ने बान विश्वविद्यालय के चार प्राध्यापकों को वेटिकन काउन्सिल की आज्ञा न मानने के कारण बहिष्कार कर दिया तो राज्य को उनके अधिकारों की रक्षा के लिए आगे आना पड़ा, इस प्रकार चर्च और राज्य का संघर्ष आरम्भ हो गया।"

बिस्मार्क चर्च के विरुद्ध इस संघर्ष को राजनीतिक रूप देकर लड़ना चाहता था, इसके लिए उसने फॉक नामक एक व्यक्ति को नियुक्ति दी। उसे यह जिम्मेदारी दी गई की वह चर्च के अधिकारों को सीमित करने के लिए कानून बनाए। 1871 में एक कानून बनाया गया, इस कानून के आधार पर जैस्विट लोगों और उनके परिवार के सदस्यों को जर्मनी से निष्कासित कर दिया गया, इसके साथ ही धार्मिक संस्थाओं को शिक्षा देने से प्रतिबंधित कर दिया गया। पादरियों को राज्य के लिए भाषण देने से मनाही कर दी गई। इन सबके साथ ही पोप से कूटनीतिक संबंध तोड़ लिए गए।

1872 से 1876 तक चर्च की ताकत को कम करने के लिए कई कानूनों को पास किया गया और इन कानूनों को मई कानून कहा जाता है। मई कानून के आधार पर किसी को धर्म से बहिष्कृत करने का अधिकार छीन लिया गया। पुजारी बनने के इच्छुक लोगों की शिक्षा पर राजकीय नियंत्रण स्थापित कर दिया गया।

## मई कानूनों के द्वारा निम्न नियम बनाए गए

(i) प्रशा में कैथोलिक चर्च के बिशप और पादरी जर्मन नागरिक और जर्मनी के किसी विश्वविद्यालय के स्नातक ही होंगे।

(ii) कैथोलिकों चर्च से संबंधित सभी शिक्षा देने वाली संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण लगा दिया गया।

(iii) धार्मिक शिक्षा देने के लिए जर्मन भाषा का उपयोग ही किया जाना चाहिए।

(iv) कैथोलिक चर्च से संबंधित सभी अधिकारियों की पदस्थापना पर सरकारी नियंत्रण लगा दिया गया।

(v) सभी नागरिकों के लिए सिविल विवाह करना अनिवार्य कर दिया गया।

(vi) कैथोलिक चर्च को राजकीय मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार को प्रतिबंधित कर दिया गया।

उपर्युक्त मई कानूनों को बड़ी सख्ती से लागू किया गया, परंतु पोप पायस नवम ने इन कानूनों को मानने से इन्कार कर दिया, इसके साथ ही उसने अपने सभी अनुयायियों को आज्ञा दी कि वे इन कानूनों का उल्लंघन करें। बिस्मार्क ने कानून तोड़ने वालों को जर्मनी के नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया। कई पादरियों तथा बिशपों को बंदी बना कर कारागार में डाल दिया गया, इस तरह सरकार और चर्च का यह संघर्ष सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। बिस्मार्क ने जितनी कठोरता से उनका दमन किया वे उतनी ही दृढ़ता से मैदान में डटे रहे। 1874 के चुनावों में कैथोलिक दल जो अब केन्द्रीय दल के रूप में था, उसकी संख्या 63 से बढ़कर 91 हो गई। चुनावों में सफलता अधिक प्राप्त होने से दमित कैथोलिकों का उत्साह और अधिक बढ़ गया।

कैथोलिकों की बढ़ती सफलता और उत्साह बिस्मार्क की पराजय के संकेत दे रही थी। उसने राष्ट्रीय उदारवादी दल से सहयोग लेना चाहा, परंतु वे और अधिक सुविधाओं की माँग करने लगे, इसके अलावा कैथोलिकों में समाजवादियों का प्रभाव भी बढ़ रहा था और अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में भी बहुत तेजी से परिवर्तन आ रहे थे। पूर्वी समस्या में सक्रिय भाग लेना जर्मनी के लिए अनिवार्य हो गया था। इन परिस्थितियों में बिस्मार्क ने कैथोलिकों से समझौता करना ही उचित समझा।

**प्रोफेसर देवेन्द्र सिंह चौहान** के शब्दों में – "इस प्रकार आन्तरिक एवं अन्तरराष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए, बिस्मार्क ने कैथोलिकों से समझौता करना उचित समझा। फरवरी 1878

में पोप पायस नवम् की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर लियो त्रियोदश पोप बना, जो मध्यम मार्गीय एवं समझौतावादी था। बिस्मार्क ने नये पोप से समझौते की वार्ता आरम्भ कर दी, जिसके परिणामस्वरूप कैथोलिकों के विरुद्ध कठोरता की नीति समाप्त हो गई और पोप से सामान्य संबंध स्थापित हो गए। फाक ने त्याग–पत्र दे दिया और उसके स्थान पर पुत–केमर को मंत्री नियुक्त किया गया। कैथोलिकों के विरुद्ध मई कानूनों को प्रयोग करने में शिथिलता आ गई 1878 के अन्त तक संघर्ष लगभग समाप्त हो गया।"

सामान्यतः यह कहा जाता है कि कैथोलिकों के विरुद्ध बिस्मार्क की पराजय हुई। वास्तव में बिस्मार्क ने दूसरे महत्वपूर्ण मुद्दों की वजह से यह समझौता किया था। प्रोफेसर चौहान इतिहासकार प्रोफेसर राबर्टसन के शब्दों के आधार पर लिखते हैं – "साधारणतः यह कहा जाता है कि बिस्मार्क को कुल्टुर केम्फ की नीति में पराजित होना पड़ा – जैसा कि अगले दस वर्षों की नीति परिवर्तन से प्रमाणित भी हो गया, किन्तु इस विषय में तीन टिप्पणियाँ आवश्यक हैं – उदारवादी दल, जिन्होंने मई कानूनों को पास किया था और उनका समर्थन किया था, न तो कभी अपनी नीति बदली और न कभी उसके लिए पश्चाताप किया, वरन् प्रधानमंत्री के समर्पण पर विरोध एवं दुःख प्रगट किया। दूसरे, 1878 में वेटिकन भी इस संघर्ष से उतना ही थक गया था जितना कि बिस्मार्क। वह मई कानूनों में किसी प्रकार का संशोधन कराने में असफल रहा था और यदि संघर्ष अधिक समय तक चलता तो यह सम्भव था, कि पोप को उदारवादियों से भिन्न परिस्थितियों में समझौता करना पड़ता। तृतीय, बिस्मार्क ने अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं पर विजय प्राप्त करने के लिए जान–बूझ कर कुल्टुर केम्फ की विजय का त्याग किया। "

## सभ्यता की रक्षा के इस संघर्ष में बिस्मार्क की पराजय के कारण

कुल्चुर कैम्फ में बिस्मार्क की पराजय हुई या परिस्थितियों ने उसे समझौता करने पर विवश कर दिया यह इतिहासकारों की चर्चा का विषय है। यहाँ तो बिस्मार्क की पराजय या समझौता के कारणों को समझना उचित है –

(i) बिस्मार्क ने जो कैथोलिकों के प्रति नीति अपनाई उसकी असफलता का एक कारण यह माना जाता है कि उसने परिस्थितियो का सही आकलन नहीं किया। कैथोलिको की शक्ति का उसने सही अन्दाजा नहीं लगाया, इस कारण अन्ततः उसे समझौता करना पड़ा।

(ii) उसने कैथोलिक पादरियों और बिशपों के विरुद्ध जो कठोर दण्डात्मक नीति अपनायी उसमें बहुत से ग्रामीण और निर्दोष पादरी तथा बिशप भी उसका शिकार हुए जबकि उन लोगों ने राज्य के विरुद्ध कोई संघर्ष नहीं किया था, इसका आम जनता पर बुरा प्रभाव हुआ और वह धीरे–धीरे राज्य के विरुद्ध कैथोलिकों का समर्थन करने लगी।

(iii) केन्द्रीय दल जो कि कैथोलिकों का समर्थक था उसने आम जनता में कैथोलिकों का समर्थन हासिल किया और साम्राज्यी परिषद में उनका प्रतिनिधित्व बढ़ने लगा।

(iv) बिस्मार्क के कई समर्थकों तथा मित्रों ने भी इस नीति के प्रति उसका सहयोग नहीं किया।

## बिस्मार्क की समाजवादियों के प्रति नीति

समाजवाद के जन्मदाता मार्क्स की जन्मभूमि जर्मनी ही थी, परंतु समाजवाद को वहाँ प्रतिष्ठित होने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ा। 1860 से 1870 के बीच जर्मनी का औद्योगिक विकास बहुत तेजी से हुआ था। कारखानों की स्थापना के साथ ही मजदूर वर्ग और उसकी समस्याओं का जन्म भी हुआ, इसी के साथ पूँजीपति और कामगार वर्ग के बीच संघर्ष भी बढ़ने लगे। यही वह समय था जबकि मार्क्स के समाजवादी विचारों का विस्तार हो रहा था। जब मार्क्स ने **'अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संगठन'** का संगठन किया उसी समय जर्मनी में लासॉल ने **'यूनीवर्सल जर्मन वर्कर्स यूनियन'** का संगठन किया था और इसी समय जर्मनी में **'सोशल डिमोक्रेटिक दल'** का संगठन भी हुआ। समाजवादी संगठन पूँजीपतियों और उनकी नीतियों की आलोचना करता था और मजदूर वर्ग का सम्पत्ति पर समान अधिकार की माँग करती थी।

समाजवादी लोग पूँजीपतियों और मजदूर वर्ग के बीच संघर्ष में मजदूर वर्ग का साथ दे रहे थे। बिस्मार्क का ध्यान 1878 में कैथोलिकों के साथ समझौता होने के बाद गया।

NOTES

इसके पूर्व 1875 में जर्मनी में समाजवादी, प्रजातंत्रवादी या सोशल डेमोक्रेटिक दल की स्थापना हुई थी। जर्मनी में समाजवाद के विकास से वहाँ की सरकार भयभीत हो गई। बिस्मार्क प्रारम्भ से ही समाजवाद का विरोधी था। यदि वह समाजवादी विचारधारा को अपना लेता तो उसकी नीति पर आधारित सैनिकवाद और एकतंत्रीय संस्थाओं का विनाश हो जाता, इस कारण उसने समाजवाद के प्रति कठोर नीति अपनायी। उसने प्रारम्भ से ही समाजवादी नेताओं का दमन किया। उसने 1872 में जर्मन संसद के समाजवादी सदस्यों – लीबनेक्ट और बेबेल को गिरफ्तार करवा लिया था, इससे समाजवादियों का उत्साह कम नहीं हुआ। 1877 के चुनाव में समाजवादियों को पाँच लाख मत मिले और बारह प्रतिनिधि संसद में चुन कर गए, इस प्रगति से बिस्मार्क ने समाजवादियों को दमन करने का निश्चय किया।

बिस्मार्क को समाजवादियों के खिलाफ कार्यवाही करने का अवसर मिला 1878 में जबकि दो बार सम्राट की हत्या का प्रयास किया गया। यद्यपि उस हत्या में समाजवादियों का कोई हाथ नहीं था तथापि बिस्मार्क ने उन पर ही आरोप लगाया। प्रोफेसर देवेन्द्र सिंह चौहान इस संबंध में लिखते हैं – "समाजवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर बिस्मार्क चिन्तित हुआ और उनकी शक्ति को नष्ट करने का अवसर खोजने लगा। मई और जून 1878 में सम्राट की हत्या का दो बार प्रयत्न किया गया। यद्यपि, समाजवादी दल का इन घटनाओं से कोई संबंध नहीं था, तो भी बिस्मार्क ने समाजवादियों पर ही, सम्राट की हत्या का षड्यंत्र रचने का आरोप लगाया। उसने समाजवादियों को समाज और राज्य का शत्रु घोषित कर दिया और उनको बदनाम करने के लिए समाचार पत्रों में लेख लिखवाए। उसने साथ ही, समाजवादियों के विरुद्ध कड़े कानून बनाने का निर्णय किया, किन्तु राष्ट्रीय समाजवादी दल के विरोध के भय से, वह अपने निश्चय को कार्यान्वित नहीं कर सकता था। अतः उसने राइखस्टेग या लोक सभा को भंग करने की आज्ञा निकलवा दी।"

बिस्मार्क ने समाजवादियों के विरुद्ध कठोर कानून बनवाए। उनकी सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया। उनके द्वारा लिखित साहित्य और अन्य प्रकाशन कार्यों पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। पुलिस को ऐसे व्यक्तियों को गिरफ्तार करने के अधिकार दे दिए गए जिन पर उसे शक हो, इसके साथ ही सैनिक कानून लगाए जाने की भी घोषणा की गई। यदि सैनिक कानून लगा दिया जाता तो समाजवादियों को सामान्य न्यायालयों का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकता था। यह कानून चार वर्ष के लिए बना था, परंतु इसे दो बार बढ़ाया गया, इसके बावजूद भी समाजवादी गतिविधियाँ गुप्त रूप से चलती रहीं और बिस्मार्क को जो लाभ मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। समाजवादियों को चुनावों में सफलता अधिक मिलती गई। 1890 में उन्हें लोक सभा में 35 सीट मिल गई और 1912 में यह जर्मनी की सबसे बड़ी पार्टी हो गई, इसे 112 सीट प्राप्त हुई।

समाजवाद के प्रति बिस्मार्क ने सिर्फ दमन की नीति ही नहीं अपनाई बल्कि मजदूरों को सुरक्षा और सन्तुष्टि देने के रास्ते भी अपनाए। उसने मजदूरों को यह समझाने का प्रयास किया कि सरकार उनकी दुश्मन नहीं है। उसका सोचना था कि यदि सरकार मजदूरों की आर्थिक स्थिति को सुधारने की ठेकेदार बन जाए तो समाजवादियों का प्रभाव अपने आप खत्म हो जाएगा, इसी लिए उसने श्रमिकों की दशा सुधारने की प्रतिज्ञा की। उसने 1883 में मजदूरों की बीमारी के लिए, 1884 में आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिए, तथा 1900 में वृद्धावस्था के लिए बीमा योजना प्रस्तुत की। 1911 में तीनों योजनाओं को एकीकृत करके एक व्यापक मजदूर बीमा योजना लागू की गई। रविवार को काम से अवकाश का दिन घोषित कर दिया गया। स्त्रियों तथा बच्चों को काम के घंटे कम कर दिए गए, इस तरह बिस्मार्क की यह नीति **'राज्य समाजवाद'** के नाम से जानी जाती है।

NOTES

## 5.3 बिस्मार्क की आर्थिक नीति या संरक्षण नीति

1880 के दशक में जर्मन उद्योग ने अभूतपूर्व उन्नति की थी परंतु इसके साथ ही कृषि क्षेत्र में व्यापक मंदी का दौर चल रहा था। 1870 से 1875 के बीच कृषि उपज के भावों में गिरावट आयी, इससे आर्थिक क्षेत्र में काफी नुकसान हुआ। अभी तक जर्मनी में उन्मुक्त व्यापार की नीति अपनाई जा रही थी, परंतु मंदी के चलते नई नीति अपनाई गई इस नीति को संरक्षण की नीति कहते हैं। बिस्मार्क द्वारा संरक्षण की यह नीति अपनाए जाने के कारणों के संबंध में डॉ. दीनानाथ वर्मा लिखते हैं – " अभी तक यूरोप के अधिकांश देशों में मुक्त व्यापार की पद्धति प्रचलित थी; जर्मनी में भी इसका काफी प्रचार था और आरम्भ में बिस्मार्क भी इसमें विश्वास रखता था, परंतु 1878 में उसने इस नीति का परित्याग करके संरक्षण की नीति को अपनाया, इसके कई कारण थे, बिस्मार्क जर्मनी को उन्नतिशील देश बनाना चाहता था। वह जर्मनी की आर्थिक और सामाजिक दशा में सुधार करना चाहता था इस उद्देश्य की पूर्ति में उसे धन की आवश्यकता थी जो कर लगा कर ही प्राप्त किया जा सकता था, पर अधिक कर लगाने से जनता के विरोध का सामना करना पड़ता है। अतएव उसने संरक्षण की नीति को अपनाया, इसके मूल में एक और बात थी। बिस्मार्क अपने देश की बनी हुई चीजों की रक्षा चाहता था। वह यह भी चाहता था कि जर्मन लोग जर्मनी में बनी हुई चीजें ही अधिक इस्तेमाल करे और विदेशों में भी जर्मनी की बनी हुई चीजों को मान्यता रहे, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बिस्मार्क ने विदेशी वस्तुओं पर अधिक से अधिक चुंगी लगा दी जिससे जर्मनी के उद्योग धन्धों को अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिले और उनकी रक्षा भी हो सके, इस प्रकार की रोक टोक लगाने से बिस्मार्क का उद्देश्य केवल जर्मनी के उद्योग धन्धों को उन्नत करना था। उसका कथन था कि वस्तुओं के अधिक से अधिक निर्माण द्वारा देश उन्नति कर सकता है और निर्माण तभी सम्भव है जब उद्योग–धन्धों का संरक्षण किया जाए।"

### बिस्मार्क की उपनिवेशवादी नीति

बिस्मार्क के समय में जर्मनी ने आर्थिक रूप से काफी विकास किया था। जर्मनी का औद्योगिक विकास के साथ–साथ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का विकास भी हो रहा था, इस विकास के चलते भी 1884 तक बिस्मार्क ने उपनिवेश स्थापित करने की ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उसका मानना था उपनिवेश जर्मनी के लिए ठीक नहीं होंगे। उसने एक बार कहा था – **"उपनिवेश जर्मनी के लिए कमजोरी का कारण बन जायेंगे क्योंकि उनकी सुरक्षा एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े द्वारा ही हो सकेगी, किन्तु जर्मनी की भौगोलिक स्थिति ऐसी नहीं है कि प्रथम श्रेणी की आर्थिक शक्ति बनाने की आवश्यकता नहीं है। मुझे बहुत से उपनिवेश भेंट किए जा चुके हैं, किन्तु मैंने उन्हें स्वीकार नहीं किया।"** इस नीति के बावजूद अब जर्मनी का आर्थिक माहौल जिस दिशा में आगे बढ़ रहा था, उसमें उपनिवेश स्थापित करना आवश्यक सा हो गया। 1884 में उसके नीतिगत विचारों में उपनिवेश को लेकर परिवर्तन हुआ और उसने एक सशक्त उपनिवेशवादी नीति अपनायी। उसके विचारों में जो परिवर्तन हुआ उसके जो कारण थे उन्हें डॉ. चौहान ने इस प्रकार विश्लेषित किया है–

(i) 1871 में जर्मनी का एकीकरण हो जाने के पश्चात् जर्मनी के लोगों में भी इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि बड़े–बड़े राज्यों की भाँति जर्मन साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा जागृत हुई। उनका यह विश्वास था कि साम्राज्य का भविष्य उपनिवेशों में निहित है। लेराय बेलो का यह कथन कि **"उपनिवेश चाहे वर्तमान समय में राष्ट्र की शक्ति का सूचक न हों किन्तु भविष्य में वे शक्ति का सूचक स्रोत अवश्य बनेंगे।"** जर्मनों की महत्वाकांक्षा का सूचक था।

(ii) 1871 के बाद जर्मनी का औद्योगिक विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ और उसके विदेशी व्यापार में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। बढ़ते हुए उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने के

लिए और तैयार किए हुए माल को बेचने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। उसके अतिरिक्त जर्मनी की बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिए भी उपनिवेशों की आवश्यकता थी। उपर्युक्त कारणों से जर्मनी के उद्योगपति, व्यापारी और अन्य कुछ लोग बिस्मार्क से उपनिवेश स्थापना की माँग करने लगे।



(iii) ब्रेमेन और हेम्बर्ग के कुछ सम्पन्न व्यापारियों अफ्रीका और प्रशान्त– महासागरीय द्वीपों में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिए थे, इस प्रकार की निजी कम्पनियों की सहायता के लिए सरकार से माँग की गई किन्तु बिस्मार्क ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तथापि व्यक्तिगत कम्पनियों के साहस पूर्ण कार्यों और उनकी कठिनाइयों से उपनिवेशों की स्थापना की माँग को बल मिला।

(iv) 1882 में उपनिवेशों के समर्थकों ने **'जर्मन कालोनियन यूनियन'** की स्थापना की। जर्मनी के समाचार पत्रों ने भी शासन का ध्यान उपनिवेशों की ओर आकृष्ट करने के लिए प्रचार किया। 1883 में राइखस्टेग के कुछ सदस्यों ने सरकार पर राजनैतिक दबाव डालने के उद्देश्य से एक **'उपनिवेशवादी दल'** बना लिया ।

(v) 1883–84 में बिस्मार्क के विरुद्ध आन्तरिक विरोध बढ़ रहा था और राइखस्टेग में विरोधी दलों ने अपनी शक्ति संगठित कर ली थी। अतः पूँजीपतियों एवं उच्च मध्यम–वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया और उपनिवेशों की स्थापना को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया।

(vi) इसके अतिरिक्त अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी बिस्मार्क को उपनिवेशों की स्थापना के लिए सुअवसर प्रदान किया। अभी तक, बिस्मार्क का यह विचार था कि उपनिवेशों की स्थापना करने से उसे कुछ यूरोपीय राज्यों और विशेष रूप से ब्रिटेन से संघर्ष करना पड़ेगा, जिससे जर्मनी की अन्तरराष्ट्रीय स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका थी, किन्तु 1882 में ब्रिटेन का मिस्र पर अधिकार हो जाने से फ्रांस और ब्रिटेन में तनातनी का वातावरण उत्पन्न हो गया, इसी समय जर्मनी और फ्रांस के संबंध अपेक्षाकृत सुधर गए थे, इसी लिए बिस्मार्क, ब्रिटेन की मिस्र संबंधी उलझनों एवं फ्रांस से सुधरे हुए संबंधों का लाभ उठाकर सक्रिय औपनिवेशिक नीति अपनायी।

जर्मनी ने अपने उपनिवेशो की स्थापना का आरम्भ दक्षिण अफ्रीका से 1884 में किया। उसने प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में कई उपनिवेश स्थापित किए, इस तरह जर्मनी के एकीकरण के बाद के बीस वर्षों में बिस्मार्क की आन्तरिक नीति के कारण जर्मनी ने अभूतपूर्व विकास किया। जर्मनी ने आन्तरिक और विदेश नीति दोनों क्षेत्रों में स्वयं को मजबूत बनाया। उसकी आन्तरिक नीति सफल रही या असफल यह कहना अप्रासंगिक है क्योंकि यह देखा जाना चाहिए कि उसके काल की उपलब्धियाँ क्या रहीं।

## बोध प्रश्न

1. बिस्मार्क की गृह नीति का वर्णन कीजिए?

..........................................................................................................................

..........................................................................................................................

..........................................................................................................................

2. बिस्मार्क की आर्थिक नीति का वर्णन कीजिए?

..........................................................................................................................

..........................................................................................................................

..........................................................................................................................

NOTES

## 5.4 बिस्मार्क की विदेश नीति (FOREIGN POLICY OF BISMARK)

जर्मनी का एकीकरण और फ्रांस को हराने के बाद 1870 से 1890 तक यूरोप की राजनीति का केन्द्र जर्मनी और उसका चांसलर बिस्मार्क रहा। उसने अपने सम्राट का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर लिया था और वह जानता था कि जर्मनी का आर्थिक विकास उसके दूसरे देशों से संबंधों के ऊपर निर्भर रहेगा। यद्यपि उसने 1871 में यह घोषणा की थी कि **'जर्मनी अब एक सन्तुष्ट राज्य है।'** उसके बीस वर्षों के कार्यकाल में जर्मनी ने विस्तारवादी नीति कम अपनायी, इसकी जगह उसने जर्मनी को सुदृढ़ और सुरक्षित राष्ट्र बनाने के प्रयत्न अधिक किए, इसके लिए उसने अपने अनुकूल अन्तरराष्ट्रीय वातावरण बनाने के लिए कूटनीति रास्ता अपनाया। उसकी विदेश नीति के बारे में **प्रोफेसर लाल बहादुर वर्मा** लिखते हैं – **"इतिहासकार हर्नशा के अनुसार बड़ी बुद्धिमत्ता और सावधानी पूर्वक बिस्मार्क जर्मनी के उत्कर्ष का प्रदर्शन करने के बजाय उसे छिपाकर रखना चाहता था, इस योजना के अनुसार उसने तय किया था कि :**

(i) फ्रांस को इतना एकाकी बना दिया जाए कि वह सिर न उठा सके और जर्मनी के हाथों हुए असम्मान का बदला न ले सके। इंग्लैण्ड और जर्मनी के हित नहीं टकराते क्योंकि जर्मनी एक महाद्वीपीय देश है तथा इंग्लैण्ड औपनिवेशिक साम्राज्य है। इंग्लैण्ड और जर्मनी दोनों ही के लिए फ्रांस शत्रुवत था, इस समीकरण के कारण भी इंग्लैण्ड और जर्मनी नजदीक आ सकते थे, इसलिए इंग्लैण्ड से मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखे जाएँ, इसके लिए उपनिवेशों और नौसैनिक विस्तार से बचा जाए।

(ii) आस्ट्रिया को पराजित करने और जर्मन क्षेत्र से निष्कासित करने के बावजूद उससे निकट से संबंध रखे जाएँ क्योंकि सांस्कृतिक रूप से वह जर्मनी के निकट है और फ्रांस का पड़ोसी होने के नाते जर्मनी के निकट नहीं रहा तो फ्रांस के निकट हो सकता है।

(iii) इटली और जर्मनी का एकीकरण समानांतर हुआ था और दोनों को एक दूसरे से लाभ पहुँचा था, इसलिए इटली से मित्रता रखी जाए ताकि जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की मित्रता से मध्य यूरोप में दीवार बन जाए और पूरब तथा पश्चिम, विशेष रूप से फ्रांस और रूस मिल न सकें।

(iv) रूस से जहाँ तक हो सके और जब तक हो सके संबंध बनाए रखा जाए लेकिन यदि प्रतिरपर्धी रूस और आस्ट्रिया में से एक को चुनना हो तो निश्चित ही आस्ट्रिया का पक्ष लिया जाए।

(v) पूर्वी समस्या में प्रत्यक्ष हिस्सा न लिया जाए पर यदि हो सके तो लाभ उठाया जाए।"

बिस्मार्क की विदेश नीति पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर देवेन्द्र सिंह चौहान लिखते है "1871 से उसकी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य यूरोप में जर्मनी के प्राधान्य को बनाए रखना था। जर्मनी को संगठित एवं शक्तिशाली राज्य बनाने का उसका उद्देश्य पूरा हो चुका था और अब जर्मनी तृप्त राष्ट्र था। अतः अब वह युद्ध की नीति को राष्ट्र के लिए हितकर नहीं मानता था, इसी कारण यूरोप में शान्ति बनाए रखना उसकी नीति का मुख्य ध्येय बन गया। बिस्मार्क के राजनय के सिद्धान्त मेटरनिख से मिलते जुलते थे। मेटरनिख के समान ही वह यूरोप में यथापूर्व स्थिति बनाए रखना चाहता था।"

बिस्मार्क की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य था कि यूरोप में शान्ति रहे, कोई युद्ध न हो और यथास्थिति कायम रहे, इसका यह अर्थ था कि जर्मनी ने 1871 के पूर्व जो कुछ अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया है वह उससे कोई न छीने। जर्मनी ने सीडान के युद्ध के बाद जो फ्रेंकफर्ट की संधि हुई उसके द्वारा फ्रांस से उसके सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्र छीन लिए थे। ये क्षेत्र थे एल्सेस लोरेन के प्रदेश। फ्रांस और वहाँ की जनता न तो अपने राष्ट्रीय अपमान को भूल

सकती थी और न ही वह अपने आर्थिक महत्व के प्रदेश को जर्मनी साम्राज्य में शामिल कर लिए जाने को सहन कर सकती थी, इस दृष्टिकोण से उसकी नीति का सबसे पहला काम था फ्रांस को यूरोप की राजनीति में मित्र हीन बनाए रखना, इसके लिए ही उसने शांति की नीति पर चलने की घोषणा की थी, इसके पीछे यह तर्क निहित था कि यदि युद्ध होता है तो उसके दुश्मनों को एक होने का अवसर मिल जाएगा और यह जर्मनी के लिए खतरनाक हो सकता था। उसकी 1871 तक की उपलब्धियाँ उससे छिन सकती थीं जो कि वह नहीं चाहता था।

## तीन सम्राटों का संघ

जर्मनी की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य फ्रांस को मित्रहीन और निर्बल राष्ट्र बनाए रखना था, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने तीन राष्ट्रों का एक संघ बनाया, इसमें आस्ट्रिया, रूस और जर्मनी शामिल थे। बिस्मार्क की कूटनीतिक बुद्धि ने यह अनुभव कर दिया था कि फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने की कोशिश अवश्य करेगा, परंतु वह अकेला ही यह कार्य नहीं कर सकता, इसके लिए वह यूरोप के अन्य राष्ट्रों से मित्रता और सहायता लेने का प्रयास करेगा। उसने फ्रांस की तात्कालिक राजनैतिक स्थिति का फायदा उठाया और उसके सम्भावित मित्रों से पहले ही मित्रता करने का प्रयास किया, इस कूटनीति ने ही तीन राष्ट्रों के संघ को जन्म दिया। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और रूस के सम्राटों को यह बताया कि फ्रांस में समाजवाद का बढ़ता जोर प्रतिक्रियावादी साम्राज्यों के लिए खतरा बन सकता है, इसी आधार पर उसने आस्ट्रिया और रूस के सम्राटों को जर्मनी के सम्राट से मिलवाकर मित्रता स्थापित कराने का प्रयास किया और वह इसमें सफल रहा।

उसने तीनों सम्राटों को बर्लिन में आमंत्रित किया। आस्ट्रिया, रूस और जर्मनी के सम्राट 1872 के सितम्बर में बर्लिन में मिले और उनमें आपस में एक समझौता हो गया। तीनों राष्ट्रों ने एक संघ बनाया, जिसे तीन राष्ट्रों का संघ' कहा जाता है, इसमें कोई संधि तो नहीं हुई परंतु तीनों राष्ट्रों ने यह तय किया कि वे यूरोप में शान्ति और यथास्थिति बनाए रखने के लिए आपस में सहयोग करेगें। कोई राज्य इस शान्ति को भंग करने की कोशिश करेगा तो तीनों मिलकर उसका मुकाबला करेंगे। उन्होंने सामूहिक रूप से यूरोप की यथास्थिति में परिवर्तन का विरोध करने का निश्चय किया, इसके अलावा उन्होंने पूर्वी समस्या में भी एक सी नीति अपनाने का वचन दिया, इस संघ के निर्माण पर बिस्मार्क ने कहा था कि **"मैंने वियेना के रास्ते पर एक पुल बना लिया है, बिना सेंट पीटर्सबर्ग वाला पुल तोड़े ही।"** यद्यपि वह जानता था कि दो पुलों पर एक साथ यात्रा नहीं हो सकती। दो में से एक को टूटना ही था। उसे आस्ट्रिया और रूस जैसे शक्तिशाली मित्रों के मिल जाने का गर्व था।

**तीन सम्राटों के संघ की असफलता –** बिस्मार्क की नीति के अनुसार जर्मनी को किसी भी मामले में हस्तक्षेप नहीं करना था, परंतु आस्ट्रिया और रूस में प्रतिद्वंद्विता चलती रहती थी। अतः बिस्मार्क को दोनों के लिए समान नीति बनाए रखना आसान काम नहीं था। दोनों में से एक को चुनने के प्रश्न पर उसने धीरे–धीरे आस्ट्रिया का पक्ष लेना आरम्भ किया। 1877 में जबकि पूर्वी समस्या के प्रश्न पर तुर्की और रूस युद्ध की संधि के लिए बर्लिन में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया गया तो बिस्मार्क ने स्वयं को ईमानदार दलाल बताते हुए भी आस्ट्रिया का पक्ष लिया और उसे बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश दे दिए गए जबकि वह युद्ध में शामिल भी नहीं हुआ था, इससे रूस को बहुत चोट पहुँची क्योंकि उसे स्वयं के ठगे जाने का एहसास हुआ। रूस यह आरोप लगाया कि बिस्मार्क ने पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया है। यहीं से तीन सम्राटों के संघ में दरार पड़नी प्रारम्भ हो गई।

**प्रोफेसर वर्मा** के अनुसार – "तीन सम्राटों का संघ जितना भी अव्यावहारिक रहा हो वह बिस्मार्क की कूटनीतिक योग्यता का जीवंत प्रमाण था। अपने समय में बिस्मार्क ने सारी शंकाओं और द्वंद्वों के बावजूद रूस को बाँध रखा था। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि यह संघ यूरोप में बढ़ती गुप्त संधियों और गुटबंदियों का परिणाम था। एक लक्ष्य के लिए प्रतिक्रांति

के समर्थकों की एकजुटता इससे प्रकट होती थी। लेकिन राष्ट्रीय हितों के लिए समझौते यदि किए जा सकते थे तो उन्हें तोड़ा भी जा सकता था।''

## 5.5 द्विगुट का निर्माण

जर्मनी के रूस के साथ संबंध खराब हो जाने के बाद बिस्मार्क के लिए आवश्यक था कि वह उसकी क्षतिपूर्ति दूसरे रास्ते से करे, इसके लिए उसका ध्यान आस्ट्रिया से संबंध मजबूत करने की ओर गया। बिस्मार्क ने बर्लिन सम्मेलन में आस्ट्रिया को जो दो प्रदेशों का लाभ दिलवाया था वह दोनों की दोस्ती के लिए काफी था, इस घटना के बाद दोनों के बीच विश्वास बढ़ गया था, इसी का लाभ उठाकर बिस्मार्क ने एक गुप्त संधि का प्रस्ताव किया क्योंकि उसे यह ज्ञात हुआ था कि आस्ट्रिया का विदेश मंत्री अपने पद से इस्तीफा देने वाला है। आस्ट्रिया का विदेश मंत्री काउन्टएनड्रेसी बिस्मार्क का अच्छा मित्र था। अतः वह उसके रहते ही आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच संधि करने का इच्छुक था, इस स्थिति में उसने एक संधि का ब्यौरा तैयार किया, इस संधि पर अक्टूबर, 1879 में दोनों देशों ने हस्ताक्षर कर दिए, इसके अनुसार यह तय हुआ कि यदि रूस दोनों में से किसी पर भी आक्रमण करता है तो दूसरा उसका साथ देगा और यदि रूस के अलावा कोई दूसरा देश किसी पर भी आक्रमण करता है तो दूसरा देश तस्टथ रहेगा जब तक कि रूस युद्ध में शामिल नहीं होता है। प्रारम्भ में यह संधि मात्र पाँच वर्षों के लिए की गई थी। 1883 के बाद इसे तीन वर्षों के लिए पुनः दुहराया गया। संधि की शर्तों को 1887 तक प्रकाशित नहीं किया गया था। बिस्मार्क ने यह संधि फ्रांस और रूस के विरुद्ध जर्मनी को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से की थी। यह संधि प्रथम विश्व युद्ध तक चलती रही।

**डॉ. दीनानाथ वर्मा** लिखते हैं – ''आस्ट्रो–जर्मन–संधि बिस्मार्क के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी, इसके कारण बिस्मार्क की सभी चिन्ताओं का अन्त हो गया, इस संधि के कारण जर्मनी की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई। उसे इस बात का अब भरोसा हो गया कि यदि फ्रांस ने जर्मनी से बदला चुकाने का भी प्रयास किया तो वह इस विपत्ति का सामना आसानी से कर सकता है। अगर फ्रांस को रूस ने मदद की तो वैसी हालत में जर्मनी को आस्ट्रिया की सहायता प्राप्त होगी । आस्ट्रो–जर्मन–संधि ने न केवल जर्मन को ही चिन्ता से मुक्त कर दिया, बल्कि आस्ट्रिया की स्थिति भी संधि से सुरक्षित हो गई। आस्ट्रिया को भय था कि बाल्कन समस्या को लेकर रूस के साथ उसका युद्ध हो सकता है। लेकिन अब इस संधि के बाद अगर रूस से लड़ाई भी होती तो उसे अब जर्मनी की सहायता का भरोसा हो गया था।''

### बर्लिन की संधि

1875 में बाल्कन क्षेत्र में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, इस कारण यूरोपियन राष्ट्र जिनमें आस्ट्रिया, जर्मनी और रूस प्रमुख थे, चिन्तित होने लगे। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने लायक है कि अभी तीन राष्ट्रों का संघ समाप्त नहीं हुआ था, इसका अर्थ था कि अभी जर्मनी और रूस के संबंध पूरी तरह से खराब नहीं हुआ थे। रूस के राजनेता बाल्कन प्रायद्वीप में अभी भी रूस के विस्तार की आकांक्षा रखते थे, परंतु वे यह जानते थे कि यह कार्य आस्ट्रिया और जर्मनी के समर्थन के बिना संभव नहीं है। इधर जर्मनी भी रूस से अच्छे संबंध बनाए रखने का इच्छुक था क्योंकि उसे इस बात का डर था कि रूस कहीं फ्रांस से संधि न कर ले और आस्ट्रिया भी रूस से संबंध सुधारने के लिए प्रयत्नशील था, इस कारण जून, 1881 में जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के बीच बर्लिन में एक संधि हुई। प्रोफेसर चौहान के अनुसार इस संधि की शर्तें इस प्रकार थीं –

(i) यदि तीनों राज्यों में से किसी एक को चौथे राज्य से युद्ध करना पड़ा तो शेष दोनों राज्य तटस्थ रहेंगे और संघर्ष को सीमित रखने की चेष्टा करेंगे। तुर्की से युद्ध होने पर यह शर्त उसी स्थिति में मान्य होगी जबकि उस युद्ध के परिणामों के विषय में तीनों राज्यों के बीच पहले से समझौता हो चुका हो।

(ii) रूस ने जर्मनी की सहमति से, बर्लिन की संधि द्वारा स्थापित आस्ट्रिया को नवीन स्थिति एवं उसके हितों का सम्मान करने का वचन दिया।

(iii) तीनों राज्यों ने बाल्कन क्षेत्र में एक दूसरे के हितों का ध्यान रखने का आश्वासन दिया और यह भी निश्चय किया कि यूरोप में तुर्की की यथापूर्व सीमा का परिवर्तन तीनों राज्यों के बिना नहीं किया जाएगा।

(iv) तीनों राज्यों ने इस सिद्धांत को स्वीकार किया कि डार्डनलीज के जलडमरूमध्य को सभी राज्यों के युद्धपोतों के लिए बन्द रखा जाए। तीनों राज्य यह ध्यान रखेंगे कि तुर्की इस सिद्धांत का उल्लंघन न कर सके।

इस संधि की शर्तें गुप्त रखी गई, इस संधि के द्वारा तीन राष्ट्रों का संघ पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ गया। बिस्मार्क की यह एक और महत्वपूर्ण कूटनीतिक विजय थी, इस संघ के बन जाने से यूरोप में शक्ति सन्तुलन और शान्ति बनाए रखने में महत्वपूर्ण सहयोग मिला।

## 5.6 त्रिगुट की स्थापना

बिस्मार्क की नीति का लक्ष्य था कि जर्मनी को किसी भी तरफ से कोई खतरा न रहे। उसने अपनी कूटनीतिक बुद्धि से आस्ट्रिया और रूस को अपना मित्र बना लिया था। यह कार्य उसने 1881 तक पूर्ण कर लिया था। इंग्लैण्ड से भी उसके संबंध अच्छे थे। अब यूरोप में एक ही राष्ट्र ऐसा बच रहा था जिससे मित्रता स्थापित करके वह जर्मनी को लगभग पूर्ण सुरक्षित राष्ट्र बना सकता था। वह राज्य था इटली। इटली से मित्रता बनाने के पीछे एक उद्देश्य फ्रांस को बिल्कुल मित्र हीन बनाए रखना भी था, इसके लिए उसने एक कूटनीतिक चाल चली, इस समय इटली और फ्रांस दोनों ही उत्तरी अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार करना चाहते थे। अफ्रीका के ट्यूनिश पर दोनों ही अपना अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे थे। बिस्मार्क ने फ्रांस की उपनिवेश स्थापना की भावनाओं को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया, इसके पीछे जो कूटनीतिक बुद्धि काम कर रही थी वह यह कि यदि फ्रांस साम्राज्य विस्तार की तरफ अधिक ध्यान देगा तो उसका ध्यान जर्मनी से बदला लेने की तरफ से हट जाएगा और फ्रांस में जर्मनी के लिए सद्भावना का वातावरण बनेगा। दूसरी तरफ उसका संघर्ष इटली से होगा और इस स्थिति में इटली की मित्रता हासिल करना आसान होगा। यह एक तीर से दो शिकार करना था। बिस्मार्क अपनी चाल में कामयाब हुआ। फ्रांस ने ट्यूनिश पर अधिकार कर लिया तो इटली में असंतोष की आग भड़क उठी। बिस्मार्क इसी अवसर की तलाश कर रहा था। फ्रांस के अधिकार को इंग्लैण्ड ने समर्थन दे दिया तो इटली को चिन्ता हुई कि फ्रांस उसके अन्य उपनिवेशों को भी अपने अधिकार में न कर ले। अतः उसने फ्रांस के विरोधियों से मित्रता करने की योजना बनाई। बिस्मार्क ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए एक संधि का प्रस्ताव इटली भेजा। इधर इटली भी 1881 में जर्मनी और आस्ट्रिया से मित्रता स्थापित करने के लिए तैयार हो गया था। मई, 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के बीच संधि हो गई, इसे त्रिगुट संधि कहा जाता है, इस संधि के अनुसार निम्न शर्तें तय की गई –

- यदि फ्रांस इटली पर आक्रमण करे तो दोनों राष्ट्र उसे सहायता करें।
- यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे तो इटली उसकी सहायता करेगा।
- तीनों राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध किसी के साथ संधि नहीं करेंगे।
- यदि किसी एक राष्ट्र को किसी बड़ी शक्ति के कारण भय हो और उसे उसके विरुद्ध युद्ध करना पड़े तो शेष दोनों राष्ट्र तटस्थ रहेंगे।
- तीनों में से किसी एक या दो राज्यों पर या उससे बडे राज्य के द्वारा आक्रमण किया जाए तो तीनों राष्ट्र आक्रमणकारी के साथ युद्ध करेंगे।

NOTES

इस संधि की सभी शर्तें गुप्त रखी गईं। यह संधि पाँच वर्ष के लिए की गई थी परन्तु उसे आगे भी दोहराता गया। बिस्मार्क ने तीन सम्राटों का संघ भी बना रखा था, इसके बाद यह त्रिगुट का निर्माण उसकी कूटनीति की असाधारण सफलता का प्रमाण था। यह संधि यूरोप के इतिहास की असाधारण घटना मानी जाती है। अब फ्रांस की मदद करने वाला यह उसकी मित्रता करने के लिए कोई भी नहीं बचा था। वह यूरोप में बिल्कुल अकेला रह गया था। बिस्मार्क की विदेश नीति का यही तो मुख्य लक्ष्य था जिसमें वह सफल हो गया था, इसके अलावा उसने इन संधियों तथा संघों के निर्माण के द्वारा जर्मनी की स्थिति बहुत सुदृढ़ कर ली थी। जर्मनी को किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध दूसरे शक्तिशाली राष्ट्र की सहायता उपलब्ध थी।

### पुनराश्वासन संधि

आस्ट्रिया और रूस के स्वार्थ आपस में टकराते थे। बिस्मार्क को इन दोनों के बीच सामंजस्य बिठाना मुश्किल हो रहा था। 1887 में रूस ने तीन सम्राटों के संघ को दुहराने से इन्कार कर दिया। बिस्मार्क ने बहुत प्रयत्न किया कि तीन सम्राटों का संघ पुनः स्थापित हो जाए परंतु रूस का जार इसके लिए तैयार नहीं हुआ। बिस्मार्क यह कभी नहीं होने दे सकता था कि आस्ट्रिया के कारण जर्मनी के संबंध रूस से खराब हो जाएँ, इस स्थिति में रूस ने एक प्रस्ताव किया कि आस्ट्रिया को शामिल किए बिना दोनों राष्ट्र संधि करें। बिस्मार्क इसके लिए तुरंत तैयार हो गया, इस तरह 1887 में आस्ट्रिया के बिना ही रूस और जर्मनी के बीच एक संधि हो गई जिसे पुनराश्वासन संधि कहा जाता है, इसके अनुसार –

(i) यदि दोनों में से कोई राष्ट्र किसी अन्य बड़े राष्ट्र से युद्ध में फंस जाएँ तो दूसरा राष्ट्र तटस्थ रहेगा।

(ii) दोनों ही राष्ट्र संघर्ष को सीमित करने के लिए प्रयत्न करेंगे।

(iii) जर्मनी ने रूस के साम्राज्य विस्तार को बाल्कन क्षेत्र में मान्यता प्रदान की और यह निश्चित किया गया कि पूर्व निश्चित समझौते के बिना बाल्कन क्षेत्र की यथापूर्व स्थिति में कोई बदलाव नहीं किया जाएगा।

### बोध प्रश्न

1. बिस्मार्क की विदेश नीति का वर्णन कीजिए?

   ..........................................................................................

   ..........................................................................................

   ..........................................................................................

2. त्रिगुट की समस्या का वर्णन कीजिए?

   ..........................................................................................

   ..........................................................................................

   ..........................................................................................

## 5.7 बिस्मार्क की विदेश नीति की समीक्षा

1888 में जर्मनी के सम्राट विलियम प्रथम का निधन हो गया। उसके बाद विलियम द्वितीय सम्राट बना। बिस्मार्क का पतन यहीं से प्रारम्भ हो गया। बिस्मार्क ने 1871 से 1888 तक जर्मनी के लिए जो अपनी अमूल्य सेवाएँ दीं उनका परिणाम जर्मनी तथा शेष विश्व के लिए क्या हुआ, इसका मूल्यांकन किया गया है। बिस्मार्क की कूटनीतिक चालों ने जर्मनी को क्या वास्तव में सुरक्षित बनाया? यह प्रश्न विवादास्पद है। जब तक बिस्मार्क राजनीति के क्षेत्र में रहा वह जर्मनी का विकास करता रहा और गुप्त संधियों तथा संघों के द्वारा उसे सुरक्षित बनाए रखा।

**प्रोफेसर लालबहादुर वर्मा** उसकी विदेश नीति की समीक्षा करते हुए लिखते हैं – "वह वास्तव में एक बाजीगर था। वह इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया और रूस रूपी पाँच गेंदों को इस तरह उछालता रहता था कि कम से कम दो हरदम हवा में रहते थे। इनमें से कोई कभी ठीक से नहीं समझ सका कि वास्तव में बिस्मार्क चाहता क्या है। इतनी सारी सफलताओं के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि बिस्मार्क की जर्मनी ही नहीं यूरोप के भावी विनाश की पृष्ठभूमि बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका थी। उसने जिन गुप्त कूटनीतिक शुरुआत की उससे यूरोप में एक शीत युद्ध शुरू हो गया। सारा यूरोप गुटों में बंट गया। शंका और तनाव के वातावरण में भावी युद्ध की तैयारी होने लगी। यूरोप पर बारूद का ढेर चढ़ता गया और प्रथम महायुद्ध का जब विस्फोट हुआ तो मानवता त्रस्त हो गई और बिस्मार्क भी इस असाधारण विनाश के लिए दोषी ठहराया गया।"

## 5.8 सारांश

बिस्मार्क का मुख्य कार्य साम्राज्य को संगठित करना छोटे–छोटे राज्यों की प्रशा के ढंग पर ले आना और केन्द्रीय नौकरशाही तथा समस्त साम्राज्य के लिए समान आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा विभिन्न राज्यों के विश्वविद्यालयों, स्थानीय शक्ति एवं पर्यायवाद का अंत करना और इन सब उपायों द्वारा एक सुसंगठित राष्ट्र का निर्माण करना था।

## 5.9 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) बिस्मार्क जर्मनी का निर्माता था, इस कथन के संदर्भ में उसकी गृह नीति की समीक्षा कीजिए।

(2) बिस्मार्क की गृह नीति के आधार पर जर्मनी के विकास का मूल्यांकन कीजिए।

(3) 1870 के बाद बिस्मार्क की विदेश नीति के लक्ष्यों की विवेचना कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) बिस्मार्क की विदेश नीति के मूल सिद्धांतों का विश्लेषण कीजिए।

(2) 1871 के बाद की बिस्मार्क की विदेश नीति का वर्णन कीजिए।

(3) "बिस्मार्क एक बाजीगर था जो पाँच गेंदों से एक साथ खेलता था।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

(4) बिस्मार्क विश्व का एक महान कूटनीतिज्ञ था। सिद्ध कीजिए।

(5) बिस्मार्क की विदेश नीति के विश्व को क्या परिणाम भुगतने पड़े।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

### विकल्प

1. जर्मनी के सम्राट विलियम प्रथम का निधन हुआ था–

(अ) 1868 (ब) 1878 (स) 1888 (द) 1898

2. इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई थी–

(अ) 1866 (ब) 1876 (स) 1886 (द) 1896

उत्तर 1. (स), 2. (ब)

## 5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

NOTES

# अध्याय–6 उन्नीसवीं सदी में एशिया में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद

## (COLONIALISM & IMPERIALISM IN ASIA IN THE 19TH CENTURY)

### इकाई की रूपरेखा


6.0 उद्देश्य

6.1 परिचय

6.2 एशिया में साम्राज्यवाद का विकास

6.3 साम्राज्यवाद का उद्भव

6.4 नवीन साम्राज्यवाद के विकास के कारण

6.5 साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ

6.6 एशिया में साम्राज्यवाद का विस्तार

6.7 भारत में उपनिवेशवाद

6.8 पुर्तगालियों का आगमन और समुद्री मार्ग पर नियंत्रण

6.9 ब्रिटेन की भारत विजय और उपनिवेश स्थापना

6.10 डचों का आगमन और उपनिवेश स्थापना

6.11 फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया की स्थापना

6.12 अफगानिस्तान में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद

6.13 आकलैंड की नीति

6.14 सिंध का अधिग्रहण

6.15 लार्ड मेयो की अफगानिस्तान नीति (1863–1869)

6.16 लार्ड मेयो अफगान नीति (1869–1872)

6.17 लार्ड नार्थब्रुक की अफगान नीति (1876–1880)

6.18 लार्ड लिटन की अफगानिस्तान नीति (1876–1880)

6.19 द्वितीय अफगान युद्ध

6.20 लार्ड रिपन की अफगान नीति

6.21 वर्मा में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद

6.22 प्रथम आंग्ल–वर्मा युद्ध

6.23 आंग्ल–वर्मा का द्वितीय युद्ध

6.24 आग्ल–वर्मा का तृतीय युद्ध

6.25 हिन्देशिया में यूरोपीय उपनिवेशों की स्थापना

6.26 मलाया प्रायद्वीप में उपनिवेश स्थापना

6.27 हिन्दचीन पर फ्रांसीसी प्रभुत्व

6.28 सारांश

6.29 अभ्यास प्रश्न

6.30 संदर्भ ग्रन्थ सूची

NOTES

## 6.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. एशिया में उपनिवेशवाद के विकास को जान सकेंगे।
2. साम्राज्यवाद के विकास को समझ सकेंगे।
3. उन्नीसवीं सदी की तात्कालीन सामजिक, आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
4. इस समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।

## 6.1 परिचय

साम्राज्यवाद दो प्रकार का है। एक सामंतीय साम्राज्यवाद और दूसरा पूँजीवादी साम्राज्यवाद। यहाँ मूलतः पूँजीवादी साम्राज्यवाद का अध्ययन अपेक्षित है, इसे नया साम्राज्यवाद भी कहते हैं। **लेनिन** ने अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था' में इस पूँजीवादी साम्राज्यवाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

लेनिन ने इस पुस्तक में बताया है कि पूँजीवाद विकास करता हुआ अपनी चरम अवस्था में साम्राज्यवाद में परिणत हो जाता है। वे साम्राज्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं – "साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें पहुँचकर इजारेदारियों तथा वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका है, जिस अवस्था में पूँजी का निर्यात अत्यधिक महत्व ग्रहण कर चुका है, जिस अवस्था में अंतरराष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच दुनिया का बँटवारा आरंभ हो गया है, जिस अवस्था में सबसे बड़ी पूँजीवादी ताकतों के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रों का बँटवारा पूरा हो चुका हो।"

## 6.2 एशिया में साम्राज्यवाद का विकास (GROWTH OF IMPERIALISM IN ASIA)

### साम्राज्यवाद का स्वरूप

पूँजीवाद कब साम्राज्यवाद में परिवर्तित हो गया इसके बारे में निश्चित रूप नहीं कहा जा सकता, परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक पूँजीवाद साम्राज्यवाद में बदल चुका था इसमें कोई शक नहीं है, इस समय तक के पूँजीवाद में साम्राज्यवाद के सारी विशेषताएँ दिखाई देने लगती हैं, इन विशेषताओं की ओर लेनिन ने अपनी उक्त पुस्तक में इस प्रकार बताया है–

(i) उत्पादन और पूँजीवाद का संकेंद्रण विकसित होकर इतनी ऊँची अवस्था को पहुँच जाए कि अर्थनीति जीवन में निर्णायक भूमिका अदा करने वाली इजारेदारियों की सृष्टि हो।

(ii) बैंक पूँजी औद्योगिक पूँजी के साथ मिल जाए और इस महाजनी पूँजी (वित्तीय पूँजी) के आधार पर महाजनी अल्पतंत्र की सृष्टि हो।

(iii) पूँजी का निर्यात असाधारण महत्व धारण कर ले।

(iv) दुनिया का आपस में बँटवारा कर लेने वाली पूँजीवादी इजारेदारियों का निर्माण हो।

(v) सबसे बड़ी पूँजीवादी शक्तियों के बीच सारी दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन पूरा हो जाता हो।

NOTES

## 6.3 साम्राज्यवाद का उद्भव

यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में मेटरनिख के युग से अनुदारवादी युग का प्रारंभ होता है, इस समय समस्त यूरोप प्रतिक्रियावादी ताकतों के हाथों में केन्द्रित रहा। निरंकुश राजतंत्रों का सुदृढ़ीकरण हुआ। यह वह युग था जबकि यूरोप में औद्योगिक क्रांति के कारण व्यापार और उद्योगों का खूब विकास हो रहा था। कारखाना पद्धति से उत्पादन होने के कारण उत्पादन अतिशेष होने लगा और अब यूरोप को नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। इनमें प्रमुख थीं कि कारखानों के लिए कच्चे माल को उपलब्ध कराना, उत्पादित माल को बेचने के लिए मण्डी की आवश्यकता और बढ़ती हुई जनसंख्या को खपाने के लिए नए आर्थिक रूप से उपयोगी क्षेत्रों की खोज। नई भौगोलिक खोजों और वैज्ञानिक तकनीक के विकास ने यात्राओं को सुगम और अधिक लाभप्रद बना दिया। यूरोप के अनेक देश अब एशिया, अफ्रीका और अमेरिका में अपने उपनिवेश बसाने के लिए प्रयत्नशील हो उठे, इसी प्रक्रिया में यूरोप के शक्तिशाली देशों ने इन देशों का आर्थिक और राजनैतिक शोषण करना प्रारंभ कर दिया। यहाँ हम यूरोप के देशों के द्वारा एशिया, अमेरिका और अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार का अध्ययन करेंगे।

### विस्तारवादी नीति

यूरोप के देश आधुनिक काल के प्रारंभ से ही प्रसारोन्मुखी तथा विस्तारवादी नीति को अपना रहे थे। 15वीं–16वीं सदियों में भौगोलिक अनुसंधानों के चलते अनेक देशों तथा महादेशों की खोजें हुयीं। इन नई खोजों ने औपनिवेशिक साम्राज्यों के युग को जन्म दिया। सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों में उपनिवेशों की स्थापना की होड़ के चलते यूरोप का वातावरण काफी अशान्त रहा। संपूर्ण अमेरिकी गोलार्द्ध पर यूरोप के देशों ने कब्जा कर लिया। नेपोलियन की पराजय के बाद औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की दौड़ में इंग्लैंड सबसे आगे हो गया था और उसकी शक्ति को चुनौती देने वाला कोई देश बचा नहीं था। अतः इस काल में यूरोपीय देशों के बीच औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता देखने को नहीं मिलती है। चूँकि इस काल में स्वतंत्र व्यापार का सिद्धांत प्रचलित था अतः जहाँ व्यापार किया जा सकता था वहाँ राजनीतिक प्रभुत्व की जरूरत नहीं समझी जाती थी। यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी देखने को मिलते हैं जैसे, इन्हीं दिनों फ्रांस ने अलजीरिया पर अपना नियंत्रण स्थापित किया तथा अंग्रेजों से प्रभावशाली टकराव अथवा प्रतिद्वंद्विता नहीं हुयी।

यूरोप में नवीन साम्राज्यवाद का युग 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ। 1870 के बाद और अस्सी के दशक में औपनिवेशिक समस्याएँ एक बार फिर से उभरीं इस शताब्दी के अंत तक यूरोप के देशों ने लगभग सारे विश्व का आपस में बँटवारा कर लिया इस नवीन साम्राज्यवाद का स्वरूप मुख्यतः राष्ट्रीय तथा आर्थिक था। राष्ट्रीयता की जो नई भावना यूरोपीय राज्यों में जगी थी, उसका स्वरूप अब काफी प्रबल हो गया। यह नया साम्राज्यवाद पहले के उपनिवेशवाद से आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से भिन्न था। पुराने उपनिवेशवाद का मुख्य आधारा वाणिज्यवाद था।

साम्राज्यवाद शब्द की व्याख्या अलग–अलग तरीके से की गयी है, किन्तु आम तौर पर भिन्न प्रजाति वाले देश पर किसी दूसरे देश के राजनीतिक आधिपत्य की व्यवस्था को हम साम्राज्यवाद की कहते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है साम्राज्यवाद को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं – पुराना साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद। **एडस स्मिथ** तथा तुर्गो ने स्वतंत्र व्यापार अथवा मुक्त व्यापार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। मुक्त व्यापार तथा नया साम्राज्यवाद। नए साम्राज्यवाद का उदय 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, इस समय तक औद्योगिक क्रांति के चलते आर्थिक क्षेत्र में नई विचारधाराओं का जन्म हुआ। मुक्त व्यापार की नीति के चलते पुरानी वाणिज्यवादी पद्धति का ह्रास होने लगा इसके अलावा यूरोपीय राज्यों के बहुत से उपनिवेश स्वतंत्र होने लगे जैसे इंग्लैंड के हाथों से अमेरिका निकल गया फ्रांस, स्पेन तथा हालैंड के बहुत से उपनिवेश भी स्वतंत्र हो गये, किन्तु 1870 के बाद यूरोपीय देशों के बीच साम्राज्यवाद की भावना प्रबल हो गई।

साम्राज्यवादी के इस नये दौर में यूरोपीय व्यापारी स्थानीय तरीकों से उत्पादित माल स्थानीय सौदागरों से खरीद–फरोख्त करने मात्र से संतुष्ट न थे। वे एक विशेष प्रकार का या एक से परिमाण में सामान चाहते थे जिसकी आपूर्ति कर पाना स्थानीय कारीगरों के लिए मुश्किल था। अब वे पूरी तरह सुनियोजित ढंग से पिछड़े इलाकों में प्रवेश कर उन पर हावी होने लगे थे। इन क्षेत्रों में उन्होंने पूँजी लगायी, बड़े पैमाने पर खेती शुरू की, बागान लगाये, खनिज तथा अन्य उद्योग स्थापित किये, गोदाम, कारखाने, रेलवे, आदि का निर्माण किया। गर्म जलवायु में यूरोपीय लोगों के रहने योग्य घर बनवाये गये, बैंक, कार्यालय, होटल, क्लब आदि खोले गए। पहाड़ की शीतल ऊँचाइयों पर कस्बे बसाकर यूरोपीय लोगों के आराम से रहने की व्यवस्था को विनष्ट करके नवीन शासकों ने बहुसंख्यक स्थानीय लोगों को विदेशी मालिकों पर रोजी–रोटी के लिए आश्रित बना दिया, इस प्रकार इन देशों में भी यूरोपीय देशों जैसा वर्ग–भेद उत्पन्न हो गया। जाति, उपजाति, संप्रदाय आदि के आधार पर पहले से ही विखंडित समाज के कारण और भी विखंडन हुआ। विदेशी आगन्तुकों ने राजा–महाराजाओं, शाह–सुल्तानों को बड़ी धनराशियाँ देकर तथा अनेक स्थानों पर उनकी सुरक्षा का भार अपने हाथ में लेकर जीर्ण–शीर्ण राज्य–व्यवस्था को बनाये रखने में योगदान किया। उनसे वे बड़ी–बड़ी सुविधाएँ हासिल करते तथा उनकी छाया में अपनी शोषण व्यवस्था को मजबूत बनाते, इस प्रकार यूरोपीय लोग पश्चिमी सभ्यता के क्षेत्र से बाहर शासनतंत्र एवं व्यवसायों में भारी आर्थिक स्वार्थ विकसित कर रहे थे।

अपने इन स्वार्थों को सुरक्षित रखने तथा कुछ अन्य कारणों से यूरोपीय लोगों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ तथा राज्य हासिल करने की लिप्सा जगी। देश–देशान्तर में अपने उपनिवेश, शासित क्षेत्र, संरक्षित क्षेत्र तथा प्रभाव क्षेत्र आदि स्थापित करने का एक दौर शुरू हुआ, इसमें कुछ इलाके सीधे उपनिवेश बना लिए गये। इन इलाकों के स्थानीय देश का प्रत्यक्ष शासन होता था। कुछ इलाके संरक्षित राज्य बन गये। इन इलाकों के स्थानीय शासक की गद्दी बनी रही लेकिन सुरक्षा और वैदेशिक मामलों में वे संप्रभु अधिपति के मातहत हो गये। विदेशी रेजिडेंट या कमिश्नर उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप और कहीं निर्देश देता रहता था। चीन या फारस जैसे देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण देश को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बाँटकर अपने हितों का संरक्षण–संवर्द्धन किया जाता था। इनमें यूरोपीय शक्ति को स्थानीय शासन को परामर्श देने का अधिकार, पूँजी न्यारा तथा व्यापार करने का एकाधिकार होता था। कहने को तो प्रभाव क्षेत्र वाले देश स्वतंत्र होते थे, किन्तु उनके गले में साम्राज्यवादियों के शिकंजे पड़े रहते थे तथा शोषण का चक्र चलता रहता था।

1875 के लगभग यूरोपीय राष्ट्रों तथा गैर–यूरोपीय राज्यों के बीच भारी अन्तर हो गया था। नेपोलियन ने फारस के साथ बराबरी के दर्जे से बातें करने का दिखावा किया था इसके बाद आया जमाना औद्योगिक क्रांति का, बड़े–बड़े युद्धपोतों का नौसैनिक तोपों का तथा अचूक मार करने वाली बन्दूकों का। फिर राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत लोकतांत्रिक चेतना से अनुप्रेरित कई यूरोपीय देशों के लोग अपनी सरकारों की सेवा में एकजुट होकर काम करने तथा विदेशों में अपने राष्ट्र तथा झंडे की शान पर जान देने वाले लोगों का समूह आया। गैर यूरोपीय पिछड़े लोगों में न तो यह चेतना थी और न उनके पास उतने विध्वंसक अस्त्र–शस्त्र।

नवोदित यूरोपीय राष्ट्रों के पास संपदा के लगभग अक्षय स्रोत थे, आधुनिक प्रशासनतंत्र था, वे कर लगाकर या ऋण लेकर लगभग असीमित व्यय बार विश्व इतिहास के रंगमंच पर उपस्थित हुए थे, इसके साथ ही नियति का अभिलेख कुछ ऐसा था कि इस कालाविधि में गैर–यूरोपीय संसार के साम्राज्यों, राज्यों, राजा–महाराजाओं, शेख–सुल्तानों के सितारे डूबने पर थे। उन्हें अपनी प्रजा से अल्पतम समर्थन मिलता था। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के बिखराव से भारत में अंग्रेजों को आधिपत्य जमाने में मदद मिली थी। उन्नीसवीं सदी में तुर्की सुलतान, जंजीबार के यूरोपीय राष्ट्रों का हस्तक्षेप सुगम हो गया था। इनमें एक मात्र जापान

नवसंगठित होकर साम्राज्यवादी दुर्गम संधियों का शिकार बनने से अपनी रक्षा कर सका। वैसे उसको भी पहले की संधियों के कारण 1900 के बाद ही अपने देश की चुंगी निर्धारित करने की आजादी मिली।

NOTES

सैनिक शक्ति के उपकरणों में इतना अंतर था कि अक्सर यूरोपीय लोग शक्ति का मात्र दिखावा करके अपनी बात मनवा लेते थे। केवल पचहत्तर गोरे सैनिकों के बल पर भारत में लंबे अरसे तक अंग्रेजी राज कायम रहा। अफगान–युद्ध, बर्मा–युद्ध, जुलू–युद्ध आदि अनेकानेक छोटे–मोटे युद्ध होते ही रहते थे। 1898 का स्पेनी–अमेरिकी युद्ध तथा 1899 का बोअर युद्ध भी एक तरह के औपनिवेशिक युद्ध ही थे। ये सभी युद्ध सर्वथा असमान पक्षों के मध्य लड़े गये थे। अक्सर नौसैनिक शक्ति का प्रदर्शन ही काफी होता था। दंड देने लोगों के प्रति हिंसात्मक कार्यवाईयों की सजा देने के उद्देश्य से ब्रिटेन के स्थानीय नौसैनिक अधिकारी को उस नगर पर बमबारी करने का आदेश दिया था। 1863 में अंग्रेजों ने सतसुमा पर तथा 1864 मिलीजुली यूरोपीय टुकड़ी ने चोशू पर बमबारी की थी, इसी प्रकार 1882 में एलेक्जेन्ड्रिया तथा 1896 में जंजीबार पर बमबारी की गयी। इन सबका आमतौर पर एक ही परिणाम होता था। स्थानीय शासक संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर देता था। अपनी सरकार का नये सिरे से गठन करता था अथवा यूरोपीय सलाहकार नियुक्त करता था।

## 6.4 नवीन साम्राज्यवाद के विकास के कारण

नवीन साम्राज्यवाद के मूल में कौन से तत्व काम कर रहे थे तथा नवीन साम्राज्यवाद का महल किन सिद्धांतों पद खड़ा किया गया–ये प्रश्न बड़े ही महत्वपूर्ण हो जाते हैं। आमतौर पर हम इसके विकास के कारणों को तीन बड़े वर्गों में बाँटकर देख सकते हैं राजनीतिक, आर्थिक तथा भौगोलिक।

### (1) राजनीतिक कारण

यूरोप के प्रशासकों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा एवं जनता की इच्छा संभवतः नवीन साम्राज्यवाद के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण थी। फ्रांस की महान क्रांति के बाद यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता की भावना काफी बलवती होने लगी थी, इसके चलते ही यूरोप के विभिन्न देश तमाम दुनिया में अपनी शक्ति के विस्तार के लिए आतुर हो उठे थे। ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों में अपनी शक्ति और प्रभाव का व्यापक विस्तार कर लिया था और वह ज्यादा से ज्यादा अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। इटली और जर्मनी के नए संगठित राष्ट्र औद्योगिकीकरण करके पुराने साम्राज्यवादी राष्ट्रों की तरह अपने साम्राज्यों की स्थापना तथा शक्ति एवं प्रभावों में वृद्धि का सपना देख रहे थे। अनेक राष्ट्रवादी उपनिवेशों को सैनिक और सामूहिक अड्डों के रूप में रखना चाहते थे। अतः यूरोप के देश इस प्रयास में लगे हुए थे कि समुद्री किनारों और मार्ग में पड़ने वाले द्वीपों को जीतकर वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लें।

यूरोप में साम्राज्यवाद की भावना को सबल बनाने में कुछ लेखकों, विचारकों तथा राजनीतिज्ञों की भूमिका भी बड़ी ही महत्वपूर्ण साबित हुयी। उनकी राष्ट्रवादी भावना से साम्राज्यवाद को व्यापक प्रोत्साहन मिला। इटली ने राष्ट्रीय गौरव की भावना के कारण ही लीबिया में अपना उपनिवेश स्थापित किया था। निसंदेह इस तरह के लोग अपने स्वार्थ के चलते साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे। प्रायः यूरोप के सभी देशों में इस तरह के लोगों का एक वर्ग बन गया था, जिन्हें साम्राज्यवाद के निहित का वर्ग कहा जा सकता है।

यूरोपीय देशों के कुछ सैनिक अधिकारी भी साम्राज्यवादी नीति के पोषक थे। ऐसा इसलिए कि साम्राज्यवादी युद्ध उन्हें यश प्राप्ति का अवसर प्रदान करते थे। युद्धों के चलते सैनिकों की संख्या में वृद्धि होती और इसके चलते उच्च पदों में भी वृद्धि होती जिससे उनके पदोन्नति का अधिक मौका मिलता।

यूरोप के देशों में औद्योगिक क्रांति के बाद एक सुसंगठित, महत्वाकांक्षी एवं प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का जन्म हुआ था। यह व्यापारिक वर्ग साम्राज्यवाद का कट्टर समर्थक था क्योंकि साम्राज्य विस्तार से उन्हें नए बाजार मिलते। अस्त्र–सस्त्र गोला–बारूद तैयार करने वाली कंपनियों के व्यवसायी भी साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक थे क्योंकि साम्राज्यवादी युद्धों के चलते उनके व्यवसाय की तरक्की होती, इस तरह से बड़े–बड़े जहाज कंपनियों के मालिक, बैंक अधिकारी आदि भी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे।

यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रसार में ईसाई मिशरियों का योगदान भी काफी महत्वपूर्ण था। ईसाई पादरी नव–विजित उपनिवेशों में जाकर अपने धर्म का प्रचार–प्रसार करना चाहते थे। कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट मिशनों के द्वारा दूर–दूर के देशों में धर्मप्रचारकों की टोलियाँ भेजी जाती थीं। ये धर्मप्रचारक अक्सर ज्यादतियाँ करते थे स्थानीय लोगों से उनकी झड़पें होती थीं और कभी–कभी उनकी हत्या कर दी जाती थी। इन हालातों में उनके देश की सरकार पादरियों के अपमान का बदला लेने के बहाने उन देशों पर आक्रमण कर देती थी या उनके आंतरिक शासन में हस्तक्षेप करती थी।

ईसाई मिशनरियों ने प्रत्यक्ष रूप से भी साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया। इंग्लैंड के डॉक्टर डेविड लिविंगस्टोन ने लगभग 20 वर्ष तक अफ्रीका के अन्तः प्रदेश में जेम्बिसी और कांगो नदियों के क्षेत्रों की खोज की। 1873 में अपनी मृत्यु के पूर्व उसने अपने देशवासियों को यह संदेश भेजा कि अफ्रीका की भूमि उनके व्यापार और ईसाई धर्म के प्रचार के लिए उपयुक्त है, इसी तरह से फ्रांस के कार्डिनल लेवीगेरी ने अल्जीरिया में अफ्रीका के **"मिशनरियों की समिति"** स्थापित की और उसके माध्यम से ट्यूनिस में अपना धार्मिक प्रभाव स्थापित किया, इससे फ्रांस को ट्यूनिस करने का अधिकार करने में सहायता मिली। बेल्जियम के पादरियों में भी इसी प्रकार कांगो के क्षेत्र में अपने देश का प्रभाव स्थापित करने में सहयोग दिया।

यूरोप के कुछ लोग वैज्ञानिक खोजों के सिलसिले में वैज्ञानिक टोलियों के सदस्य बनकर या उनके सहायक के रूप में जाया करते थे। इनमें भौगोलिक खोज, जीव–विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, ज्योतिष, खनिजों की खोज आदि के लिए अभियान दल हुआ करते थे। संपन्न लोग कभी–कभी पर्यटन या जंगली जानवरों के शिकार तथा प्राकृतिक दृश्यों की आनन्द प्राप्ति के उद्देश्यों से भी संसार के दुर्गम स्थानों के लिए निकल पड़ते थे। इन साहसिक व्यक्तियों ने भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया।

अपनी सभ्यता को पिछड़े क्षेत्रों में फैलाने के दिव्य धार्मिक कार्य के बहाने भी यूरोप के लोगों ने साम्राज्य का प्रसार किया वे केवल अपने को ही सभ्य मानते थे और उनकी दृष्टि में अन्य सारे लोग–पीले, भूरे, काले रंग के स्थानीय लोग–असभ्य और बहशी थे। निसंदेह यूरोप के लोग अधिक सभ्य और विकसित थे और हम ईसाई मिशनरियों की मानवतावादी सेवाओं को नकार नहीं सकते हैं, किन्तु अविकसित लोगों का उद्धार करने की आड़ में या परोपकारी तथा मानवतावादी प्रयत्नों की आड़ में यूरोप के देशों ने अपना साम्राज्य विस्तार किया। फ्रांस ने अपनी औपनिवेशिक विस्तार की नीति को **"सभ्यता के विस्तार का कार्य"** कहा इटली ने इसे पुनीत कर्त्तव्य बतलाया और इंग्लैंड ने इसे श्वेत जाति का भार घोषित किया।

## (2) आर्थिक कारण

**(i) नया बाजार खोजने के लिए** – औद्योगिक क्रांति ने आर्थिक संगठन में बड़े परिवर्तन कर दिये, इस क्रांति के पूर्व उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था जिसकी खपत आमतौर पर उसी देश में हो जाती थी। उस समय अन्तरराष्ट्रीय साधनों की भी नितांत कमी थी, किन्तु 1870 के बाद औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप के देशों में औद्योगिक उत्पादनों में काफी वृद्धि हुयी। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन होने लगा। उनकी मात्रा देश में खपत से ज्यादा थी। अतः इन देशों को अपने तैयार माल को बेचने की चिन्ता होने लगी। उन दिनों यूरोपीय देशों में संरक्षणवादी नीति का प्रचलन

NOTES

था। अतः विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर भारी चुँगी लगाई जाती थी, इस कारण औद्योगिक देशों को अपना अतिरिक्त माल बेचने के लिए नए बाजार ढूँढ़ने की आवश्यकता पड़ी।

औद्योगिक देशों के अपने कल–कारखानों में बनाये हुए माल की बिक्री के लिए विश्व–व्यापक बाजार जरूरी था। साम्राज्यवाद के हिमायती नये बाजारों की खोज की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। 1870 के उपरान्त जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देश औद्योगिक निर्माण की दौड़ में शरीक हो गये थे। इन्हें अपने यहाँ बने सामानों के लिए बाजार की तलाश थी। इनकी आपसी तथा पहले से औद्योगीकृत ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैड और बेल्जियम से अंध प्रतियोगिता तथा अन्य कई कारणों से सामानों के मूल्य में कमी हो रही थी। अनेक देशों ने चुँगी की दीवारें खड़ी करके अपने मालों के विक्रय के लिए बाजार सुनिश्चित किया। साम्राज्य स्थापित करने की आवश्यकता बतायी जाने लगी और इसी आधार पर उसका औचित्य साबित किया जाने लगा। यह कहा जाने लगा कि बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन करने वाले राज्यों का अपना औपनिवेशिक साम्राज्य होना चाहिए। जहाँ मनमाने ढंग से एकाधिकार की–सी स्थिति में अपना माल बेच सके तथा अपने कल–कारखानों के लिए कच्चे माल का सुरक्षित भंडार हासिल कर सकें। ब्रिटेन में जोरशोर से इस तर्क को उछालने वाले अनेक लोग थे। यह भी कहा जाता था कि साम्राज्य विभिन्न जलवायु वाले तथा विभिन्न प्रकार के माल का उत्पादन करने वाले इलाकों में फैला हुआ हो सुनियोजित चुंगी लाकर आयात–निर्यात को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाये जिसमें शासक देश सहित साम्राज्य. स्वतः पूर्ण आर्थिक इकाई हो। साम्राज्यवाद की यह मूल स्थापना थी कि इकाइयाँ कुल मिलाकर शासक देश के लिए चिरकाल तक संपदा और वैभव का अक्षय स्रोत थीं।

**(ii) साम्राज्यवादी देशों की आम आवश्यकता की चीजों की आपूर्ति के लिए–** यूरोपीय लोगों की आम जरूरतों की चीजों की आपूर्ति गैर–यूरोपीय देशों से ही की जा सकती थी। श्रमजीवी वर्ग के लोग भी चाय या काफी पीने के आदी हो गये थे। अमेरिकी गृह–युद्ध के दिनों से यूरोप में कपास की अधिकाधिक आपूर्ति अफ्रीका तथा पूरब से होने लगी थी। रबर तथा पेट्रोलियम आम जरूरत की चीजें थीं। पटसन की भारी खपत यूरोपीय देशों में होती थी, इससे रस्सी, दरियाँ, बोरे आदि बनाये जाते थे। व्यापारिक कार्यों के लिए इनकी बहुत बड़ी संख्या में जरूरत होती थी। पटसन का आपूर्ति स्रोत केवल भारत था। नारियल के पेड़ से अनेक काम की चीजें बनती या मिलती थीं। नारियल के पेड़ तथा फल के असंख्य उपयोग होते थे। उसके रेशों से ब्रश, केबुल, रस्सा पाँवपोश आदि बनाये जाते थे। उसका फल खाये जाने के अलावा तेल, मोमबत्ती, साबुन मार्गरीन कोकोआ, चॉकलेट आदि अनेक उपयोगों में आता था।

**(iii) यातायात और संचार के साधनों के विकास के कारण** – औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यातायात एवं संचार साधनों का अभूतपूर्व विकास हुआ। भाप की शक्ति से चलने वाले जहाजों के बन जाने से दूर के देशों के साथ व्यापार करना अब काफी आसान हो गया। रेलवे, डाक, तार, टेलीफोन आदि के आविष्कार से समय और दूरी पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली। इन तत्वों का भी साम्राज्यवाद के विकास में काफी महत्व रहा है।

**(iv) यूरोप की बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव** – यूरोप की बढ़ती हुयी जनसंख्या ने भी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया। 19वीं सदी में यूरोप की जनसंख्या तेजी से बढ़ी। 19वीं सदी के आरंभ में ब्रिटेन की आबादी एक करोड़ साठ लााख थी जो 20वीं सदी के प्रारंभ में बढ़कर चार करोड़ दस लाख हो गयी, इसी प्रकार जर्मनी की आबादी दो करोड़ तीस लाख से बढ़कर चार करोड़ हो गयी, इस बढ़ती जनसंख्या को रोजगार देने तथा उन्हें बसाने की समस्या दिनोंदिन गंभीर होती गयी। अतिरिक्त आबादी को दूसरे देशों में बसाकर इस समस्या को सुलझाया जा सकता था। एशिया और अफ्रीका में ऐसे बहुत से देश मौजूद थे, इस आधार पर भी यूरोप के देशों से बहुत से लोग सैनिकों तथा शासनाधिकारियों के रूप में जाकर रहने लगे। कुछ लोग व्यवसायियों के रूप में भी उन देशों में बस गये, इससे यूरोप के देशों में आबादी का दबाव कम हुआ तथा साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला।

**(v) वित्तीय कारणों से** – साम्राज्यवाद के इस नये दौर के कुछ विशुद्ध वित्तीय पक्ष भी थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों से विकसित देशों में पूँजी निवेश के अवसर कम होने लगे तथा उससे आय भी कम होने लगी थी, इसकी तुलना में पिछड़े इलाकों या क्षेत्रों में पूँजी न्यस्त के लगभग असीमित अवसर थे उस पर मनमानी शर्तें लादकर कहीं अधिक लाभ कमाया जा सकता था, इसके और भी कई कारण थे यथा गैर यूरोपीय इलाकों में उपलब्ध कहीं कम मजदूरी पर काम करने वाला असंख्य श्रमजीवी गैर–यूरोपीय क्षेत्रों में वस्तुओं या माल की भारी संख्या में माँग आदि। पिछड़े इलाकों में लगायी गयी पूँजी के लिए अधिक ऊँची सूद दर का एक कारण यह भी बताया जाता था कि कई कारणों से उन इलाकों में पूँजी डूबने का खतरा अधिक रहता था।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक पश्चिमी यूरोपीय देश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी पूर्वी भाग सघन औद्योगीकरण के क्षेत्र बन चुके थे। रेल लाइनों का जाल बिछाया जा चुका था। कल–कारखाने भी लगाये जा चुके थे। इन क्षेत्रों में पूँजी निवेश के अवसर सीमित हो चुके थे। इन देशों में स्वयं ही पूँजी संचयन हो रहा था। उसे न्यस्त करने के लिए अवसर तथा क्षेत्रों की तलाश थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य में निर्यात होने वाली सर्वाधिक पूँजी ब्रिटेन की होती थी। सदी के अंत में फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, हालैंड, बैल्जियम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से भी काफी पूँजी अन्य देशों को निर्यातित की जा रही थी। 1850 में सर्वाधिक निर्यातित पूँजी यूरोपीय देश संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेण्टीना आदि के निर्माण में लग रही है। सदी के अंत में अधिकांश निर्यातित पूँजी पिछड़े इलाकों में जाने लगी थी। यह पूँजी सामान्य लोगों की अथवा बड़े बैंकिंग निगमों की संपदा थी। पूँजी निवेश करने वाले एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमेरिका के इलाकों पर राजनीतिक नियंत्रण की माँग करते थे क्योंकि इन इलाकों में उनके रेलवे खानें, विस्तृत कृषि क्षेत्र, सरकार को दिये गये कर्ज थे तथा कई अन्य मदों में भी उन्होंने धन लगा रखा था। निष्कर्ष यह कि मुनाफा कमाने अथवा अतिरिक्त पूँजी (Surplus capital) को न्यस्त करने की प्रवृत्ति साम्राज्यवाद की एक अनुप्रेरणा थी।

## (3) भौगोलिक खोजों के कारण

पुनर्जागरण काल से यूरोप में भौगोलिक खोजों की जो प्रवृत्ति शुरू हुयी थी। वह 19 वीं शताब्दी के अंत तक बनी रही। कुछ साहसिक लोगों ने नए उपनिवेश की खोज की जिससे साम्राज्य विस्तार में काफी सहायता मिली। ऐसे लोगों में उल्लेखनीय थे– बेकर, डॉ. डेविड लिविंग्स्टोन, गुस्टाव नैकटिगाल बर्टन, हैनरी मार्टन स्टेनली, स्पेक ग्राण्ट आदि। इनमें से तो कुछ ने प्रत्यक्ष रूप से यूरोपीय साम्राज्य विस्तार में सहयोग दिया जैसे मेमरून और टोगोलैंड को जर्मनी उपनिवेश बनाने का श्रेय **गुस्टाव नैकटिगाल** को दिया जाता है। इन साहसिक खोजकर्ताओं ने अफ्रीका की चार प्रमुख नदियों – नील, नाइजर, कांगो तथा जाम्बेजी के मार्गों की खोज की।

उल्लेखित कारणों के अतिरिक्त यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने कुछ गैर–कानूनी एवं अनैतिक साधनों का इस्तेमाल भी अपने साम्राज्यों की स्थापना के सिलसिले में किया। उन्होंने अपनी ताकत तथा गोले–बारूदों का इस्तेमाल करके विश्व के अविकसित क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। कुछ ने उपनिवेशों की जनता को शराब, अफीम और कोकीन की आदत लगाकर उन्हें अपने नियंत्रण में कर लिया, जैसा कि चीन में अंग्रेजों ने। कभी–कभी नासमझी से सरदारों ने छोटे–मोटे उपहारों के बदले उन्हें विशाल प्रदेशों को सौंप दिया। फूट डालो और शासन करो की नीति का भी खुलकर प्रयोग किया गया। अविकसित क्षेत्रों पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने महत्वपूर्ण जल मार्गों पर अपने नियंत्रण से न केवल भारत के लिए मार्ग सुरक्षित कर लिया बल्कि इससे पूर्वी भूमध्यसागर में प्रवेश करने का प्रयास भी किया था। पनामा नहर पर अमेरिका के स्वामित्व के चलते कैरेबियन सागर का अस्तित्व एक अमेरिकी झील की तरह हो गया था। कभी–कभी साम्राज्यवादी देशों ने उदार नीति का पालन करके भी अपनी

NOTES

शक्ति और प्रभावों को उपनिवेशों में सुदृढ़ किया जैसे ब्रिटेन द्वारा कनाडा को स्वशासन दिये जाने से कनाडा के ब्रिटिश साम्राज्य के और भक्त बन गये। कभी–कभी साम्राज्यवादी शक्तियों ने देशी शासक को कठपुतली बनाकर रखा और उससे अपनी मनमानी करवायी, इस तरह का साम्राज्यवादी नियंत्रण संरक्षित खानों की खुदाई करने या खेती करने तथा इसी प्रकार की अन्य सुविधाओं को अपनी शक्ति एवं प्रभाव बढ़ाने तथा इसी प्रकार साम्राज्यवादियों को अपनी शक्ति एवं प्रभाव बढ़ाने का मौका मिल जाता था।

## 6.5 साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ

अंतिम विश्लेषण में यह कहा जा सकता है कि किसी देश के साम्राज्यवादी बनने के लिए आर्थिक हितों को राजनीतिक लक्ष्यों के साथ सह अस्तित्व का महत्वपूर्ण हाथ रहता था। हालाँकि इटली या रूस जैसे कुछ देशों में राजनीतिक उद्देश्य ही अधिक महत्वपूर्ण होते थे। जब तक किसी देश के अत्यन्त सक्रिय तथा प्रभावी राजनीतिक नेता उपनिवेश हासिल करने को व्यग्र नहीं होते थे तब तक शायद ही उस दिशा में वह देश सक्रिय रूप से अग्रसर होता था। साम्राज्यवाद के कुछ सीधे राजनीतिक उद्देश्य भी होते थे यथा साइप्रस या केप जैसे सामरिक महत्व के नौसैनिक अड्डों का निर्माण करके राष्ट्रीय सुरक्षा का सुदृढ़ीकरण एवं श्रमिकों के अतिरिक्त स्रोत को सुरक्षित करना (फ्रांसीसियों की उत्तरी पश्चिमी अफ्रीकी नीति इसी उद्देश्य से प्रेरित थी) या फिर राष्ट्रीय सम्मान प्रवर्धन के लिए इटालवियों का लीबिया अभियान या 1935 का एथियोपिया अभियान इसके उदाहरण हैं, इसके अतिरिक्त भी अनेक दूसरी बातें थीं जो कुछ स्वतंत्र रूप से तथा कुछ मिलजुल करके आश्रित या प्रशासित इलाकों की तलाश करते रहने को प्रेरित करती थीं। उदाहरणार्थ, खोज करने वालों तथा दुस्साहसिकों के क्रियाकलाप एक महत्वपूर्ण अनुप्रेरक थे। मध्य अफ्रीका में फ्रांसीसी डी चायलू तथा डी ब्राज कांगो की तलहटी में अंग्रेज हेनरी स्टैनली पूर्वी अफ्रीका में जर्मनी का कार्ल पीटर्स इनके उदाहरण थे। इनमें कुछ विशुद्ध वैज्ञानिक जिज्ञासा से अनुप्रेरित थे, कुछ दुस्साहसिकता से ओत–प्रोत तथा कुछ (जैसे सेसिल रहोड्स) धन और सत्ता के भूखे भी होते थे। वैसे ये सभी कल्पनाशील, उत्साही तथा कर्मठ लोग थे। साम्राज्यों के निर्माण की कहानी में इनका महत्वपूर्ण भाग रहा है।

साम्राज्यवाद के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण भाग प्रशासक तथा सैनिक का भी रहा है। अक्सर ऐसा कोई व्यक्ति जो कुशल प्रशासक होता था या सामरिक कौशल में दक्ष सैनिक, गड़बड़ी होने पर तत्क्षण हस्तक्षेप करता था। ये लोग स्वभाव और प्रशिक्षण से व्यवस्था पसन्द होते थे। जहाँ कहीं अवसर मिलता ये स्थानीय शासकों के हाथों से सत्ता की बागडोर छीनकर अपने देश की अमलदारी स्थापित करने को उद्यत रहते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि आम आदमी के लिए न्याय और व्यवस्थित शासन मुहैया करा सकना गैर यूरोपीय स्थानीय शासकों के बूते की बात नहीं है वह तो गोरे लोगों का ही एकाधिकार है। ऐसे लोगों में कुछ महत्वपूर्ण नाम ये हैं–लार्ड क्रोमर (मिस्र), लार्ड मिलनर (केप), मार्शल लायते (मोरक्को), कार्ल पीटर्स (जर्मन, पूर्वी अफ्रीका) अफ्रीकी देशों के विभिन्न भागों में यूरोपीय राष्ट्रों का आधिपत्य स्थापित करने में इनकी प्रमुख भूमिका थी।

फ्रांसीसी साम्राज्य में पैंतीस लाख वर्गमील की वृद्धि हुयी। रूस ने एशिया में अपनी सीमाओं को बढ़ते हुए लगभग पाँच लाख वर्ग मील क्षेत्र हासिल किया। जर्मनी को दस लाख वर्ग मील, इटली को एक लाख पचासी हजार वर्गमील तथा बेल्जियम को नौ लाख वर्गमील हाथ लगे। पुर्तगाल और हॉलैंड के साम्राज्य ज्यों के त्यों बने हुए थे। संसार के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ था पृथ्वी के अधिकांश हिस्सों पर चंद यूरोपीय देशों की सम्प्रभुता स्थापित हो। नव साम्राज्यवाद के इस चरण में पाश्चात्य शक्तियों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का शिकार अफ्रीका, पूर्वी एशिया तथा लैटिन अमेरिका हुए।

NOTES

## 6.6 एशिया में साम्राज्यवाद का विस्तार

सम्पूर्ण विश्व में एशिया महाद्वीप सबसे बड़ा महाद्वीप है और इसमें सम्पूर्ण विश्व की आधी से अधिक आबादी निवास करती है। भौगोलिक दृष्टिकोण से एशिया पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्य सागर तक तथा उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्द महासागर के मध्य स्थित है। यह महाद्वीप आर्थिक दृष्टि से काफी संभावनाओं वाला है, इसमें एक तो, बड़ी मण्डी है जहाँ यूरोप के देश अपने उत्पादित माल को खपा सकते थे, दूसरे इसमें प्रचुर मात्रा में खनिज उपलब्ध हैं। जिस समय यूरोप पुनर्जागरण और वैज्ञानिक क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति के कारण निरंतर प्रगति कर रहा था उस समय एशिया अपने परंपरागत जीवन और आर्थिक पद्धतियों को लिए सो रहा था, इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप प्रगति करता गया और एशिया पिछड़ता गया, इस पिछड़ेपन का ही परिणाम था कि यूरोप ने लगभग सम्पूर्ण एशिया को आर्थिक और राजनैतिक शोषण का शिकार बनाया। एशिया के विभिन्न देशों में यूरोप ने कैसे अपने उपनिवेश स्थापित किए इसका क्रमशः संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

### बोध प्रश्न

1. एशिया में साम्राज्यवाद के विकास को समझाइये?

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

2. नवीन साम्राज्यवाद के विकास को समझाइये?

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

## 6.7 भारत में उपनिवेशवाद

भारत में यूरोपीय शक्तियों का आगमन 17 मई, 1498 को पुर्तगाली यात्री वास्को–डि–गामा के आगमन के बाद प्रारम्भ हुआ। वास्को–डि–गामा कालीकट के पास समुद्री मार्ग से भारत में आया था। आधुनिक इतिहासकार **ताराचंद्र** ने लिखा है कि – **"वास्को–डि–गामा द्वारा भारत के समुद्री मार्ग की खोज से यूरोप व एशिया के संबंधों के इतिहास में एक नए युग का आरंभ हुआ।"** इस तरह सबसे पहले भारत में पुर्तगालियों का आगमन हुआ, इसके बाद डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी भारत में आए। जिस समय यूरोपियनों ने भारत में आना प्रारम्भ किया उस समय सम्पूर्ण यूरोप परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। यूरोप में पुनर्जागरण आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। कई देश नए युग में प्रवेश कर रहे थे। आधुनिकता का प्रारम्भ हो रहा था और सामन्तवाद का पतन हो रहा था। व्यापारिक और औद्योगिक विकास के साथ वैज्ञानिक आविष्कारों तथा भौगोलिक खोजों ने उन देशों को एशिया के देशों की ओर आकर्षित किया। भारत के समुद्री मार्ग की खोज ने यूरोपीय देशों को भारत से व्यापार करने की ओर ध्यान खींचा। यूरोप से आने वाले लोग सबसे पहले व्यापारी बनकर ही आए थे। यूरोपियन व्यापारियों ने मुगल सम्राटों से तथा सामन्तों से व्यापार करने की अनुमति लेकर भारत से व्यापार करना प्रारम्भ किया और जब अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ तो इन यूरोपियन शक्तियों में आपस में व्यापारिक प्रभुत्व के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुए।

व्यापारिक एकाधिकार की लड़ाई में अंग्रेजों ने सबसे पहले पुर्तगालियों और डचों को पराजित किया, इसके बाद फ्रांसीसियों के साथ अंग्रेजों का संघर्ष हुआ। कर्नाटक के तीन युद्धों में फ्रांसीसी

पराजित हुए और अंग्रेज भारत में न केवल व्यापारिक शक्ति के रूप में बल्कि राजनीतिक शक्ति के रूप में भी स्थापित हुए।

NOTES

## 6.8 पुर्तगालियों का आगमन और समुद्री मार्ग पर नियंत्रण

**प्रोफेसर बी.एस. चयानी** के अनुसार – "1498 में कालीकट में वास्को–डि–गामा के आगमन के पश्चात् हिंदमहासागर पर पुर्तगालियों का नियंत्रण क्रमशः बढ़ता गया। राज्य संरक्षण, सुदृढ़ नौसेना और चतुर कूटनीति की सहायता से पुर्तगालियों ने शीघ्र ही इस क्षेत्र के समुद्री व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। सागर में सामरिक महत्व के विभिन्न स्थानों पर उन्होंने अपने दुर्ग बना लिए थे जो उनकी राजनीतिक गतिविधियों के केन्द्र भी थे। तटीय क्षेत्रों के लोगों के साथ उनके आदान–प्रदान के महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम भी हुए, इस प्रकार भारतीय समुद्र व्यापार के इतिहास में पुर्तगालियों के नियंत्रण के विस्तृत एवं दूरगामी परिणाम हुए और उनका यह प्रभुत्व तब तक बना रहा जब तक कि सत्रहवीं शताब्दी में डचों और अंग्रेजों ने आकर उन्हें विस्थापित नहीं कर दिया।"

वास्को–डी–गामा कालीकट के बन्दरगाह पर उतरा था, इस समय कालीकट का राजा जमोरिन था। राजा जमोरिन ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया था, इसलिए वह तीन माह तक वहाँ रहा और उसके बाद वह वापस आया, इसके बाद 1500 ई. में अल्वारिज के नेतृत्व में छः पुर्तगाली जहाज भारत आए। इन्होंने कालीकट के मुस्लिम व्यापारियों को परेशान करने की कोशिश की इससे जमोरिन नाराज हुआ। अब पुर्तगाली व्यापारी को भागना पड़ा। पुर्तगाली व्यापारियों ने दक्षिण भारत के मसालों को यूरोप में बेचना प्रारम्भ किया था।

### पुर्तगालियों के उद्देश्य और नियंत्रण की प्रक्रिया

पुर्तगालियों के उद्देश्य और उनके द्वारा नियंत्रण की प्रक्रिया के संबंध में **प्रोफेसर चयानी** लिखते हैं – "सोलहवीं शती में पुर्तगालियों का मूल उद्देश्य सैन्य बल के प्रयोग द्वारा अपने देश और अपने आप को समृद्ध करना था। उनका एक दुहरा आम लक्ष्य था यूरोप को भेजे जाने वाले मसालों पर एकाधिकार स्थापित करना और अन्य एशियाई व्यापार पर नियंत्रण करना और उससे कर उगाहना। पुर्तगाल के शासक पूर्वी व्यापार पर शाही एकाधिकार करने के लिए कृतसंकल्प थे, जिसमें न केवल यूरोप एवं एशिया के प्रतिस्पर्धी देशों का अपितु निजी पुर्तगाली व्यापारियों का भी कोई दखल न होता, इस प्रकार हिंदमहासागर में नियंत्रण स्थापित करने में पुर्तगालियों ने आरम्भ से ही बल प्रयोग का तरीका अपनाया। पुर्तगाली कारखानों ने शीघ्र ही दुर्गों का रूप धारण कर लिया। 1503 में पुर्तगालियों ने कोचीन में छोटा सा दुर्ग बनाया जो भारत में उनका पहला दुर्ग था। दो साल बाद कन्नूर में दूसरा किला बनाया गया । उसी वर्ष 1505 में, प्रथम पुर्तगाली वाइसराय **फ्रांसिस्को–डि–अलमीडा** को भारत भेजा गया ताकि वह भारत में बाकायदा पुर्तगाली राज्य की स्थापना कर सके। भारत में पुर्तगाली साम्राज्य की नींव रखने वाला उसका परवर्ती **अलफांसो–डी–अलबुकर्क** था।"

पुर्तगालियों ने डी अल्मेड़ा को हिन्द महासागर में अरबों की ताकत को कम करने के लिए भेजा था, इसने अरबों के कई जहाजों को लूटा और 1509 में ड्यू के पास मिस्र और भारत की सम्मिलित मुस्लिम शक्ति को हराकर एशिया में पुर्तगालियों की शक्ति को स्थापित किया, इसके बाद अरब सागर में होने वाला भारत का व्यापार पुर्तगालियों के हाथ में आ गया था। 1509 में डी अल्मेड़ा के स्थान पर **अल्बुकर्क** पुर्तगालियों का गवर्नर बना। वह एक साम्राज्यवादी नीति को अपनाने वाला था। उसकी नीति के चार महत्वपूर्ण पहलू थे –

(i) स्थानीय निवासियों के साथ विवाह संबंध स्थापित करना।

(ii) महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों पर अपना नियंत्रण बनाना।

(iii) स्थानीय व्यापारियों से अपने राजा के लिए उपहार लेना।

(iv) नए दुर्गों का निर्माण करना।

अल्बुकर्क ने भारत के अनेक तटीय नगरों पर जो व्यापारिक केन्द्र थे और हिंदमहासागर पर पुर्तगालियों का नियंत्रण स्थापित किया। 1510 में उसने बीजापुर से गोवा को जीत लिया और 1511 में मल्लका जो कि दक्षिण एशिया की सबसे महत्वपूर्ण मंडी थी, को भी पुर्तगालियों के अधिकार में कर लिया। 1515 में फारस की खाड़ी में स्थित हरमुज पर भी पुर्तगालियों का अधिकार हो गया। अल्बुकर्क के समय में ही पुर्तगालियों ने श्रीलंका में भी अपने पैर जमा लिए थे। 1530 में गोआ भारत में पुर्तगाली राज्य की राजधानी बन गया, इसके साथ ही 1535 में उन्होंने दीव भी अपने अधिकार में कर लिया और 1559 में दमन पर भी उनका अधिकार हो गया, इसके अलावा पुर्तगालियों ने कोंकण और मालाबार तट पर भी अपने दुर्ग बना लिए थे, इस तरह उनके पास लगभग 50 दुर्ग और लगभग सौ जहाजों का बेड़ा था।

## दुर्गों पर नियंत्रण के उपाय

पुर्तगालियों ने जो दुर्ग प्राप्त किए उनको पाने के लिए कई तरह के उपायों का सहारा लिया। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं –

1. युद्ध द्वारा जीतना।
2. कई शासकों ने अपने लाभ के लिए उन्हें दुर्ग दिए।
3. कई राजाओं ने दबाव में आकर दुर्गों पर उनका अधिकार हो जाने दिया।
4. पुर्तगालियों की शक्तिशाली नौसेना।

पुर्तगालियों द्वारा गुजरात के बन्दरगाहों और अरब की खाड़ी पर अपना अधिकार जमाने के प्रयत्न स्वरूप दोनों के बीच लंबा संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

## भारतीय राजाओं के साथ पुर्तगालियों के संबंध

पुर्तगालियों ने भारतीय राजाओं के बीच आपस में एक दूसरे के विरुद्ध सहायता करके एक नई राजनीति का चलन प्रारम्भ किया, इसका सबसे पहला उदाहरण है कि 1535 में उन्होंने हुमायूँ के विरुद्ध गुजरात के शासक बहादुरशाह की मदद की और अपने लिए सुविधाएँ हासिल कीं। गुजरात के शासक ने उन्हें बम्बई, साल्सिट व बेसिन दिए, परन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि वे इन केन्द्रों कि किलेबन्दी कर रहे हैं तो उसने उन्हें वहाँ से हटाने के आदेश दिए। पुर्तगालियों ने बातचीत के लिए बहादुरशाह को जहाज पर बुलाया। संधि बातचीत के दौरान दोनों पक्षों के बीच झड़प हो गई और बहादुरशाह को जान बचाने के लिए जहाज से कूदना पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई।

**(1) बंगाल के शासकों के साथ संबंध** – पुर्तगालियों ने गुजरात और दक्षिण के अलावा बंगाल में भी अपनी बस्तियाँ स्थापित करने का प्रयास किया था , इस कार्य के लिए 1533 में गोवा से पुर्तगाली गवर्नर **नुनो–ड–कान्हा** ने मार्टम के नेतृत्व में एक जहाज चटगाँव भेजा। मार्टम ने वहाँ पहुँचकर स्थानीय मुस्लिम व्यापारियों को परेशान करना प्रारम्भ किया, इस कारण बंगाल के नबाव ने उसे गिरफ्तार कर लिया, इस बात की प्रतिक्रियास्वरूप जहाजी बेड़े ने चटगाँव के बन्दरगाह को जला दिया, इसके बाद पुर्तगाली गवर्नर ने एक और जहाजी बेड़ा सतनात के बन्दरगाह पर भेजा, परन्तु इस समय बंगाल का सूबेदार शेरशाह के साथ संघर्ष में व्यस्त था अतः उसने पुर्तगालियों से मित्रता करना ही उचित समझा।

**(2) मुगल शासकों के साथ पुर्तगालियों के संबंध** – पुर्तगालियों ने 1535 में हुमायूँ के विरुद्ध गुजरात के शासक की सहायता की थी। अबुलफजल के अनुसार अकबर का मानना था कि जब तक पुर्तगालियों का नियंत्रण पश्चिमी समुद्र तट पर रहेगा तब तक भारत की पश्चिमी सीमा सुरक्षित न रहेगी। अकबर ने 1575 में जब गुजरात का अभियान किया तो उसका एक उद्देश्य पुर्तगालियों की शक्ति को समाप्त करना भी था, परन्तु तत्कालीन राजपुताने की स्थिति

NOTES

के कारण वह उनके खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं कर सका था। हम देखते हैं कि यद्यपि अकबर पुर्तगालियों के विरुद्ध था तथापि उसने उनके साथ धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया था। उसके समय में पहला पुर्तगाली शिष्टमंडल 1591 में लाहौर पहुँचा, इसके बाद 1594 में अकबर के दरबार में तीन पादरी आए इनमें से एक जेवियर 23 साल तक मुगल दरबार में रहा, इस पादरी ने लगातार अंग्रेजों का विरोध किया मुगल दरबार में। 1608 में जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने **विलियम हाकिन्स** को भारत भेजा तो पुर्तगालियों ने उसके मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न कीं, इसके बाद जब 1609 में उसने जहाँगीर से मुलाकात की तो पुर्तगालियों ने उसको सुविधाएँ देने का विरोध किया। 1616 में ब्रिटेन के सम्राट के प्रतिनिधि **टामस रो** ने जहाँगीर से मुलाकात की तो उसने पाया कि वह पुर्तगालियों के अत्यधिक प्रभाव में है। उसे पुर्तगालियों तथा डचों के विरोध के कारण ही बहुत सी सुविधाएँ नहीं मिल सकीं तभी उसने अपने सम्राट को लिखा कि यदि हमें भारत में व्यापारिक सफलता प्राप्त करनी है तो पुर्तगालियों तथा डचों की शक्ति को नष्ट करना पड़ेगा।

शाहजहाँ जब मुगल सम्राट बना तो बंगाल में पुर्तगालियों की गतिविधियाँ बढ़ने लगी थीं। उसके समय में पुर्तगालियों ने शाही बाजारों में लूटमार के साथ–साथ भारतीयों को ईसाई बनाने का प्रयत्न भी किया, इसके अलावा पुर्तगालियों ने मुगलों के विरुद्ध अराकान के राजा को भी मदद दी और 1632 में चटगाँव में मुमताज महल की कुछ दासियों को पकड़ लिया तो शाहजहाँ ने पुर्तगालियों को सजा देने का निश्चय किया। मुगल सम्राट के निर्देश पर बंगाल के सूबेदार ने हुगली को पुर्तगालियों से जीत लिया और कई पुर्तगालियों को बंदी बना लिया गया। इनमें से कुछ को मुसलमान बना लिया गया तथा कुछ जवान महिलाओं को हरम में ले लिया गया।

पुर्तगालियों का मुगलों के साथ मुख्य संघर्ष बंगाल में ही हुआ। शाहजहाँ के समय से ही पुर्तगाली बंगाल को अपनी जागीर समझते आ रहे थे। चटगाँव के आस–पास उनकी कई बस्तियाँ थीं। मुगल सम्राट औरंगजेब ने बंगाल के सूबेदार मीर जुमला को पुर्तगालियों की शक्ति को समाप्त करने के निर्देश दिए, इसके बाद जब 1664 में शाइस्ता खाँ बंगाल का सूबेदार बना तो उसने 1666 में पुर्तगालियों से चटगाँव का किला जीत लिया। पुर्तगाली अपनी सुविधानुसार मराठों तथा मुगलों से मित्रता और दुश्मनी करते रहते थे। अरब सागर पर प्रभुत्व के लिए वे ऐसा करते थे। 1665 में पुर्तगालियों ने मिर्जाराजा जयसिंह को एक पत्र में लिखा कि वे शिवाजी को कोई मदद नहीं देंगे। 1667 में पुर्तगालियों ने मुगलों के साथ एक संधि की इसमें यह शर्त थी कि पुर्तगाली किसी ऐसे व्यक्ति की मदद नहीं करेंगे जो मुगलों का विरोधी हो, परन्तु पुर्तगाली अपने लाभ के लिए इस तरह की संधियाँ तोड़ते और बनाते रहते थे। मुगलों के साथ संधि करने के एक वर्ष बाद ही उन्होंने शिवाजी के साथ संधि कर ली। 1693 में मराठों और पुर्तगालियों के मित्रता के कारण मुगलों ने पुर्तगालियों के बेसिन और दमन पर आक्रमण किया और बाद में गोवा के गवर्नर ने मुगलों से संधि कर ली।

**(3) मराठों के साथ पुर्तगालियों के संबंध** – पुर्तगालियों के मराठा शक्ति के साथ भी संबंध अच्छे नहीं थे। उन्होंने कई बार उनसे संधि की और कई बार उनका संघर्ष भी हुआ। मराठों के साथ पुर्तगालियों के संघर्ष के कई कारण थे, जिनमें से कुछ इस प्रकार थे –

1. पुर्तगाली चाहते थे कि मराठों के जो जहाज उनके क्षेत्र में आते थे, वे उन्हें चुंगी दें, परन्तु मराठे चुंगी देने से इन्कार करते थे।
2. शिवाजी पुर्तगालियों के नियंत्रण वाले क्षेत्रों से जिसमें दमन प्रमुख था; से चौथ वसूल करते थे और पुर्तगाली इसका विरोध करते थे।
3. मराठों का संघर्ष रत्नागिरी के देसाई शासकों से हुआ करता था। वे मराठों से पराजित होकर पुर्तगालियों के यहाँ शरण लेकर मराठों के विरुद्ध अभियान चलाते थे।

शिवाजी ने बहुत समय तक पुर्तगालियों से खुला संघर्ष नहीं किया, इसके अलावा उन्होंने सिद्दियों के साथ संघर्ष में पुर्तगालियों से सहायता भी माँगी, परन्तु पुर्तगालियों ने सिद्दियों की

सहायता की, इसके अलावा देसाई शासक ने बारदेश में मराठों पर आक्रमण किया तो शिवाजी ने 1667 में बारदेश पर कई बार आक्रमण किया और कई पुर्तगालियों को बन्दी बना लिया, इसके बाद मराठों और पुर्तगालियों के बीच एक संधि हुई, इस तरह शिवाजी ने अपनी सूझ–बूझ से पुर्तगालियों पर नियंत्रण रखा।

शिवाजी के बाद सम्भाजी के समय पुर्तगालियों से तनावपूर्ण स्थिति बनी रही, इसके बाद बाजीराव प्रथम के समय दोनों के बीच संघर्ष हुआ। 1736 में मराठा सेनापति ने पुर्तगालियों को हराकर कैम्बे पर अधिकार कर लिया। 1737 में चिमनाजी अप्पा ने थाना को पुर्तगालियों से जीत लिया। 1739 में मराठों ने बेसीन के दुर्ग को जीत लिया।

इस तरह मराठों ने पश्चिमी समुद्र तट से पुर्तगालियों की शक्ति को समाप्त कर दिया, परन्तु पुर्तगालियों ने जो हिन्दमहासागर और दक्षिण के तट पर अपना व्यापारिक प्रभुत्व बहुत समय तक कायम रखा, उसकी सफलता के कई कारण थे।

## पुर्तगालियों की सफलता के कारण

**पुर्तगालियों की नौसेना की श्रेष्ठता** – पुर्तगालियों की नौसेना एशिया के अन्य देशों की तुलना में श्रेष्ठ थी। समुद्री व्यापार पर एकाधिकार के लिए नौसेना का श्रेष्ठ होना आवश्यक था। यूरोप में जिस तरह इंग्लैण्ड अपनी नौसैनिक ताकत के बल पर अजेय बना रहा उसी तरह पुर्तगाली एशिया के व्यापार पर उस समय तक एकाधिकार रख सके जब तक उनसे श्रेष्ठ तकनीक और नौसैनिक ताकत वाले डच और अंग्रेज भारत में सक्रिय नहीं हो गए। दूसरी यूरोपीय शक्ति के आते ही पुर्तगाली पराजित हो गए।

**महत्वपूर्ण चौकियों की स्थापना** – उनकी सफलता का दूसरा कारण था उनके द्वारा महत्वपूर्ण चौकियों की स्थापना। ये चौकियाँ जिन्हें दुर्ग भी कहते थे, उनके जहाजों को और व्यापारिक गतिविधियों को चलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थीं। ये दुर्ग उनके लिए सुरक्षित किले का कार्य भी करते थे।

**स्थानीय लोगों का सहयोग** – पुर्तगालियों की सफलता में उनके क्षेत्र के लोग भी कभी–कभी सहयोगी होते थे। पुर्तगाली गवर्नर अल्बुकर्क ने जब गोआ को अधिग्रहीत किया तो उसके पूर्व स्थानीय निवासी तिमैया ने उसे अत्यंत महत्वपूर्ण सलाह दी थी, इसके अलावा पुर्तगालियों के नौसैनिक तथा व्यापारिक दोनों ही प्रकार के जहाजों में कर्मचारी तथा सैनिक दोनों ही स्थानीय लोग होते थे। पड़ोसी राज्यों में पुर्तगालियों के राजदूत के रूप में भी स्थानीय लोग ही होते थे। ये राजदूत और जासूसों के द्वारा जो सूचनाएँ प्राप्त होती थीं वे अत्यंत महत्व की होती थीं, इस तरह स्थानीय लोगों के सहयोग ने भी पुर्तगालियों को सफलता प्राप्त करने में सहयोग किया।

**कूटनीतिक उपाय** – पुर्तगालियों की सफलता में उनकी कूटनीतिक चालों का महत्वपूर्ण योगदान था। जैसे, उन्होंने कोचीन के शासक के प्रति अत्यधिक मित्रता प्रदर्शित की और इस तरह कालीकट और कोचीन के शासकों के बीच वैमनस्य पैदा किया, इसका लाभ पुर्तगालियों को मिला, इसका दूसरा उदाहरण है घोड़े के व्यापार का। चूंकि दक्षिण के राज्य अच्छी नस्ल के अरबी तथा ईरानी घोड़ों में रुचि रखते थे। इन घोड़ों को वे अपनी सेना में भी रखते थे। ये घोड़े गोवा के बन्दरगाह से आयात किए जाते थे। पुर्तगालियों ने घोड़ों के व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था और अब सिर्फ पुर्तगालियों से मित्रता रखने वाले ही इन घोड़ों को आयात कर सकते थे, इस तरह पुर्तगालियों ने घोडों के व्यापार को अपना अस्त्र बना लिया था, इसका प्रयोग वे दक्षिण के राज्यों को आपस में भड़काने में करते थे।

**कठोर व्यापारिक नियंत्रण** – पुर्तगालियों ने अपनी सफलता के लिए जिस सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र का सहारा लिया वह था कठोर व्यापारिक नियंत्रण लगाना। उन्होंने हिंदमहासागर के अन्य देशों के साथ व्यापार करने पर कठोर व्यापारिक नियंत्रण लगा दिए। उन्होंने कई आदेश निकाले

जिनमें कहा गया कि मसालों के व्यापार पर पूर्ण रूप से पुर्तगाली सम्राट और उसके अभिकर्ताओं का अधिकार है और जो इन आदेशों का उल्लंघन करेगा उस पर कठोर कार्यवाही की जाएगी। पुर्तगालियों ने एशिया के विशिष्ट स्थानों के लिए होने वाले व्यापार पर अपना एकाधिकार कर रखा था। जो भी माल उनके जहाजों में जाता था उसको ले जाने वाले जहाज का स्थान बहुत अधिक मूल्य पर बेचा जाता था, इसके अलावा उन्होंने व्यापार पर कर लगाने का प्रयत्न भी किया। अब कोई भी भारतीय या अरबी जहाज पुर्तगालियों से परमिट लिए बिना अरब सागर में नहीं जा सकता था। पुर्तगालियों ने कुछ चीजों का व्यापार करने की अनुमति भारतीयों को नहीं दी थी जैसे काली मिर्च और गोला बारूद। यदि उन्हें यह शक हो जाए कि कोई जहाज निषिद्ध वस्तुएँ लेकर जा रहा है तो वे उसकी तलाशी भी ले सकते थे। इन सबके अतिरिक्त पुर्तगालियों ने अपने दुर्गों से होकर गुजरने वाले जहाजों पर चुंगी लगा रखी थी। यही उनकी आय का प्रमुख स्रोत भी था।

पुर्तगाली एक निश्चित समय तक भारत और एशिया के आस–पास के मसाला द्वीपों पर अपना व्यापारिक एकाधिकार कायम रखे रहे, परन्तु सत्रहवीं शती में डच और अंग्रेजों के इस क्षेत्र में कुछ जाने से तथा कुछ उनकी आन्तरिक कमजोरियों के कारण अन्ततः उन्हें भारत से असफल होना पड़ा।

## पुर्तगालियों की असफलता के कारण

- पुर्तगाली अदन पर अधिकार नहीं कर सके और इस पर उनके शत्रु तुर्की ने अधिकार कर लिया। अदन एक महत्वपूर्ण रणनीतिक बन्दरगाह था, इस पर अधिकार नहीं होने से उनकी भौगोलिक रणनीति एक तरह से असफल हो गई।
- पुर्तगालियों ने हरमुज के मार्ग से होने वाले मसाला व्यापार को अपने नियंत्रण में रखने का प्रयास किया और उस पर कर लगाकर नियंत्रण करने का प्रयास किया, परन्तु वे इस कार्य में असफल रहे। जो कि उनकी अन्तिम रूप से असफलता में सहायक हुआ।
- स्थानीय व्यापारियों द्वारा उनका विरोध होता था। मालाबार में पुर्तगालियों की व्यवस्था को धोखा भी दिया जाता था तथा उनके खिलाफ सशस्त्र विद्रोह भी स्थानीय व्यापारियों द्वारा किए जाते थे। मालाबार की काली मिर्च पर पुर्तगालियों के एकाधिकार का कालीकट के जमोरिन शासकों के साथ–साथ वहाँ के व्यापारियों ने भी विरोध किया और उनका लगातार संघर्ष चलता रहा।
- भारतीय व्यापारियो द्वारा पुर्तगालियो के लगाए गए प्रतिबंधों का प्रायः उल्लंघन किया जाता था। पुर्तगालियों ने मसाला व्यापार पर समुद्री मार्ग से प्रतिबंध लगाया था अतः भारतीय व्यापारी स्थल मार्ग से माल ले जाते थे, क्योंकि मालाबार के भीतरी क्षेत्रों पर पुर्तगालियों का कोई अधिकार नहीं था। ये व्यापारी लाल सागर के जरिए काली मिर्च तथा अन्य मसाले ले जाते थे, इसके अतिरिक्त काट्र्ज व्यवस्था के जरिए भी काली मिर्च की तस्करी होती थी।
- उनकी असफलता का एक कारण पुर्तगाली कर्मचारियों का भ्रष्ट होना भी था। मसालों की तस्करी में पुर्तगाली कर्मचारियों का भी हाथ होता था।
- उनकी असफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण डच एवं ब्रिटिश कम्पनियों का इस क्षेत्र में आ जाने से पुर्तगालियों का एकाधिकार समाप्त हो गया। डच 1596 में दक्षिण पूर्वी एशिया में आ गए थे इसके बाद अगले बीस वर्षों में उन्होंने इस क्षेत्र से पुर्तगालियों को निकाल बाहर किया था। 1641 में डचों ने पुर्तगालियों के मलक्का द्वीप को जीतकर उनकी कमर ही तोड़ दी, इसके बाद 1659 में श्रीलंका और 1663 में मालाबार के सभी दुर्ग डचों के अधिकार में आ गए थे।
- पुर्तगालियों को अंग्रेजों के विरोध का सामना भी करना पड़ा। उन्होंने भारत में पुर्तगालियों को पराजित किया सबसे पहले सूरत के पास पुर्तगालियों को पराजित किया और 1612

में अपना एक कारखाना खोला। 1628 में अंग्रेजों ने हरमुज पर कब्जा कर लिया। यह पुर्तगालियों का फारस की खाड़ी में मुख्य चौकी थी जो अब अंग्रेजों के अधिकार में था, इससे उनके व्यापार में बहुत फर्क पड़ा।

- 1580 ई. में पुर्तगाल को स्पेन के राज्य में मिला लिया गया। अब उसे स्पेन के युद्धों में भी भाग लेना पड़ता था इससे उसकी शक्ति कमजोर होने लगी।
- पुर्तगालियों ने ब्राजील की खोज के बाद अपनी सारी ताकत वहाँ लगा दी, इससे भी भारत के व्यापार नियंत्रण में उन्हें परेशानी का सामना करना पड़ा।
- उनकी असफलता का एक कारण उनकी कट्टर धार्मिक नीति भी माना जाता है। उनके बारे में एक इतिहासकार ने लिखा है कि पुर्तगाली एक पतनोन्मुख जाति थी और वे क्रूर, धर्मान्ध और विलासी थे। भारत में उन्होंने कट्टर धार्मिक नीति का पालन किया। जैसे 1540 में उन्होंने गोवा के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया और युद्ध बन्दियों को ईसाई धर्म पालन करने के लिए मजबूर किया, इसके अलावा उन्होंने बलात् धर्म परिवर्तन की नीति भी अपनायी थी। इन कारणों से भारत के निवासी उनसे घृणा करते थे।
- पुर्तगाली अधिकारी और कर्मचारियों का मुख्य लक्ष्य धन बटोरना रह गया था, इसके लिए वे अमानवीय हरकतें भी करते थे। वे महिलाओं के आभूषण प्राप्त करने के लिए उनके हाथ पैर, नाक–कान भी कटवा देते थे। एक पुर्तगाली लेखक ने लिखा है कि **"पुर्तगाली एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में क्रास लेकर भारत में घुसे थे, किन्तु भारत का सोना बटोरने के लिए उन्होंने क्रास जमीन पर रख दिया और जब जेबें भारी हो गईं तो तलवार भी फेंक दी। ऐसी दशा में जो लोग उनके बाद में आए वे आसानी से उन पर हावी हो गए।"**
- 1661 में इंग्लैण्ड के सम्राट जेम्स द्वितीय का विवाह पुर्तगाल की राजकुमारी कैथरिन से हो गया तो उसे दहेज में बम्बई का बन्दरगाह मिला। उसने यह बन्दरगाह ईस्ट इंडिया कंपनी को दे दिया, इस बात का पता गोवा के गवर्नर को लगा तो उसने अपनी सरकार को लिखा कि **"जिस दिन अंग्रेज बम्बई में बस जायेंगे उसी दिन भारत हमारे हाथ से निकल जाएगा।"**
- भारत के तत्कालीन राजाओं और क्षेत्रीय शक्तियों ने भी पुर्तगालियों पर जमकर आक्रमण किए।

इन सारी परिस्थितियों में पुर्तगालियों को भारत से अपना बोरिया–बिस्तर समेटना पड़ा, इस तरह एक लम्बे समय तक भारत से आर्थिक लाभ कमाकर अन्ततः वे पराजित हुए।

## पुर्तगाली नियंत्रण के परिणाम

भारत में पुर्तगाली शक्ति के कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिणाम हुए। पुर्तगालियों को भारत में समुद्री मार्ग से आने का श्रेय प्राप्त है। आशा अंतरीप होकर समुद्री मार्ग की खोज ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन व्यापार के क्षेत्र में किया, इस रास्ते की खोज के बाद भारत यूरोप से ज्यादा अच्छी तरह से जुड़ गया।

**(1) आर्थिक परिणाम** – पुर्तगालियों के आगमन और व्यापारिक नियंत्रण के भारत में निम्न आर्थिक परिणाम हुए।

(i) पुर्तगालियों के आर्थिक परिणाम के रूप में भारत में व्यापारिक विकास की जो दिशा होना चाहिए थी वह नहीं हुई क्योंकि पुर्तगालियों ने सिर्फ अपने देश और व्यक्तिगत फायदे के लिए ही व्यापार पर नियंत्रण किया।

(ii) उन्होंने भारत से अपने लिए धन बटोरने का ही कार्य किया न कि आर्थिक विकास के लिए कोई कार्य किया।

NOTES

(iii) इस समय भारत का व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में नहीं रहा।

(iv) विदेशी व्यापार के रूप में सिर्फ पुर्तगालियों को लाभ हुआ, भारत के व्यापारी तो नुकसान में ही रहे।

(v) पुर्तगालियों ने मसालों के व्यापार पर तो अपना एकाधिकार रखा ही, इसके साथ ही उन्होंने घोड़ों के व्यापार को भी अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया।

**(2) राजनीतिक परिणाम** – पुर्तगालियों के भारत में व्यापार को नियंत्रण करने की प्रक्रिया में जो कार्य किए उनके कुछ राजनैतिक परिणाम भी हुए, जो इस प्रकार हैं–

(i) पुर्तगालियों ने समुद्र में अन्य लोगों की गतिविधियों को नियंत्रित करने की नीति को अपनाया जो कि भारत के लिए नई नीति थी, इस तरह उन्होंने व्यापार के समुद्री तरीके में राजनीति का समावेश किया।

(ii) उन्होंने समुद्री मार्गों को अपने व्यापारिक लाभ के लिए राजनैतिक शक्ति के द्वारा नियंत्रित किया। उन्होंने कई बन्दरगाहों पर अधिकार करके व्यापारियों तथा स्थानीय शासकों को धमकाने का कार्य करके भी नई तरह की राजनीति को प्रश्रय दिया।

(iii) पुर्तगालियों ने भारत में स्थानीय शासकों को आपसी संघर्ष में सहायता देकर एक नई तरह की राजनीति का संचार किया।

(iv) कुछ इतिहासकारों का मानना है कि यद्यपि पुर्तगाली भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने में असफल रहे, परन्तु उन्होंने तुर्कों एवं अरबों को समुद्री युद्धों में पराजित करके भारत में यूरोपीय साम्राज्य स्थापित होने की पृष्ठभूमि तैयार की।

(v) पुर्तगालियों ने अपनी सेना में भारतीयों को प्रशिक्षित किया, इससे आगे अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों के दम पर ही भारत को विजित किया।

## 6.10 डचों का आगमन और उपनिवेश स्थापना

भारत में दूसरी शक्ति के रूप में डचों का आगमन हुआ। डचों ने भारत में पुर्तगालियों को विस्थापित करके अपनी शक्ति को स्थापित किया। डच हॉलैण्ड के निवासी थे। सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप की प्रमुख आर्थिक शक्ति के रूप में उभरने लगे थे। हॉलैण्ड की राजधानी एमस्टर्डम में बैंकों की स्थापना हो चुकी थी। वहाँ कई छोटी–छोटी कंपनियाँ एशिया और भारत के साथ व्यापार करने के लिए उत्सुक थीं। 1602 में स्टेट्स जनरल द्वारा पारित घोषणा से डच संयुक्त कंपनी की स्थापना की गई। वहाँ की सरकार द्वारा इस कंपनी को केप ऑफ गुड होप के पूर्व के क्षेत्रों से व्यापार करने का अधिकार दिया गया, इस कंपनी द्वारा प्रारम्भ में एक बड़े जहाजी बेड़े को पुर्तगाली शक्ति को समाप्त करने के लिए भेजा गया, परन्तु वह असफल रहा, इसके बाद सबसे पहली सफलता डचों को मोलुकास्स में प्राप्त हुई, इसके बाद 1609 में इंडोनेशिया में अमबोयना पर डचों का अधिकार हो गया। 1619 तक डचों ने जकार्ता पर अधिकार कर लिया। यहाँ उन्होंने बटेबिया नगर बसाया और इसके बाद उन्होंने भारत में अपनी बस्तियाँ बसाना प्रारम्भ किया।

भारत के कोरोमंडल तट पर मसुलीपट्टम, पेटामोली और देवनामपट्टम में अपनी व्यापारिक बस्तियाँ स्थापित कर ली थीं। डचों का केन्द्र था पुलीकट , यहीं से वे अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ संचालित करते थे। सत्रहवीं शती के प्रथम दो दशकों तक डचों ने सूरत, गोलकुण्डा, पोर्टोनोवा, बमबलीपट्टम आदि में अपने कारखाने स्थापित कर लिए थे। इन स्थानों में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित करने के बाद डचों ने आगे बढ़कर कोचीन, पुराखद और त्रावनकोर को भी अपना व्यापारिक केन्द्र बना लिया।

डचों का मुख्य लक्ष्य भारत में व्यापारिक शक्ति के रूप में स्थापित होने का नहीं था। उनकी रुचि इंडोनेशिया और अन्य मसाला द्वीपों में अधिक थी। अतः उन्होंने अपना सारा ध्यान वहीं लगाया था।

## 6.10 ब्रिटेन की भारत विजय और उपनिवेश स्थापना



भारत में डचों के बाद आने वाले यूरोपीय थे अंग्रेज। अंग्रेज भी प्रारम्भ में एक व्यापारिक कंपनी के रूप में ही आए थे, परन्तु यहाँ के हालातों ने अर्थात् राजनीतिक कमजोरियों ने उन्हें एक राजनीतिक शक्ति बनकर भारत पर राज करने के लिए प्रोत्साहित किया। इंग्लैण्ड यूरोप का सर्वाधिक साम्राज्यवादी देश था। उसकी नौसैनिक शक्ति अजेय थी और उसके सबसे अधिक उपनिवेश भी थे। यूरोप के अन्य देश जब इस प्रतियोगिता में आगे आने लगे तो इंग्लैण्ड ने एशिया को अपनी व्यापारिक गतिविधियों का निशाना बनाया। 1600 ई. में लन्दन में एक व्यापारिक कंपनी की स्थापना हुई, इस कंपनी को पूर्व के देशों से व्यापार करने का एकाधिकार दिया, इसे ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से जाना जाता है। 31 दिसम्बर, 1600 को एक चार्टर द्वारा इंग्लैण्ड की सरकार ने इस कंपनी को पन्द्रह वर्ष के लिए पूर्वी समुद्र के देशों के साथ व्यापार करने का अधिकार दिया था। प्रारम्भ के 100 वर्षों में इस कंपनी को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा।

अंग्रेजों को डचों, पुर्तगालियों तथा फ्रांसीसियों के साथ–साथ भारतीय नरेशों के साथ भी संघर्ष करना पड़ा, इस संघर्ष का विस्तृत अध्ययन अगले अध्यायों में किया जाएगा कि कैसे अंग्रेजों ने भारत को अपना आर्थिक और राजनैतिक उपनिवेश बनाया। अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए उन्हें सबसे पहले सबसे अधिक संघर्ष फ्रांसीसियों से करना पड़ा। यद्यपि अंग्रेजों ने अपने प्रभुत्व की स्थापना का प्रारम्भ बंगाल से किया, परन्तु फ्रांसीसियों के साथ उनका संघर्ष कर्नाटक में हुआ।

अंग्रेज इंडोनेशिया से डचों द्वारा खदेड़ दिए जाने के बाद भारत से अपना मसालों का व्यापार करने के इरादे से आए। प्रारम्भ में उन्होंने राजनीतिक शक्ति बनने की कोई परिकल्पना भी नहीं की थी। अंग्रेज प्रतिनिधि मुगल सम्राट से कुछ व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए मिले, परन्तु पुर्तगालियों के प्रभाव के कारण कोई विशेष सुविधा वे प्राप्त नहीं कर सके। 1617 में अंग्रेजों का एक दूत टॉमस रो मुगल सम्राट से मिला और उसने इस शर्त के साथ कि वे मुगल जहाजों की पुर्तगालियों से रक्षा करेंगे, कई व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। ईस्ट इंडिया कंपनी की वास्तविक प्रगति उस समय हुई जबकि भारत में मुगल शक्ति कमजोर होने लगी। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जो केन्द्रीय शक्ति का विघटन हुआ उससे उत्पन्न शून्य को भरने का कार्य अंग्रेजों ने किया।

भारत में अंग्रेजों की प्रथम फैक्ट्री **सूरत** में स्थापित की। सूरत ही उनका प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बना और बहुत समय तक रहा। 1623 तक उन्होंने सूरत के अलावा **भड़ौच, आगरा, मछलीपट्टनम्, अहमदाबाद** में फैक्ट्रियाँ बना ली थीं। अंग्रेजों ने भारत में कूटनीति और युद्ध दोनों का सहारा लिया और जिन स्थानों पर उनकी फैक्ट्रियाँ थीं, उन इलाकों को अपने अधीन करने का भी प्रयत्न किया। दक्षिण में कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी, इसलिए परिस्थितियाँ उनके अधिक अनुकूल थीं। दक्षिण में अंग्रेजों ने अपनी पहली फैक्ट्री मछलीपट्टनम में स्थापित की और जब मद्रास के पास की जमीन उन्हें पट्टे पर मिल गई तो मछलीपट्टनम वाली फेक्ट्री को मद्रास स्थानांतरित कर दिया गया। यहाँ अंग्रेजी कंपनी को फेक्ट्री की किलेबन्दी करने, सिक्के ढालने का अधिकार मिल गया। अब मद्रास के किले का नाम **फोर्ट सेंट जार्ज** था।

इंग्लैण्ड के सम्राट का पुर्तगाल की राजकुमारी कैथरीन से विवाह हो जाने पर पुर्तगाल ने बम्बई इंग्लैण्ड के सम्राट को दहेज मे दे दिया, इस तरह 1668 में बंबई मिल जाने के बाद अंग्रेजों का मुख्य व्यापारिक केन्द्र सूरत की जगह बंबई हो गया। यह पश्चिमी भारत में अंग्रेजों की मुख्य बस्ती बन गई। सूरत और बंबई से सूत वस्त्र, मलमल, मसाले, शोरा और नील का व्यापार होने लगा। अब अंगेजों का विस्तार पूर्व की ओर होने लगा। उन्होंने पूर्व में हरिहरपुर,

NOTES

उड़ीसा में **बालासौर (1633)**, **हुगली** (1651), **पटना**, **कासिमबाजार** और 1668 और 1676 में **ढाका** और **मालदा** में अपने केन्द्र स्थापित किए। बंगाल से ब्रिटिश कंपनी रेशमी, सूती वस्त्र, शोरा और चीनी का व्यापार करती थी। इधर बंगाल के सूबेदार ने लगभग तीन हजार रुपये वार्षिक कर लेकर कंपनी को व्यापार के मामले में कुछ विशेषाधिकार दे दिए, परन्तु शुजा के उत्तराधिकारियों ने अंग्रेजों को इस तरह की छूट नहीं दी क्योंकि अन्य देशों के व्यापारी भी छूट माँगने लगे थे, इस तरह सरकारी खजाने का नुकसान होता था। 1672 में कंपनी ने बंगाल के गवर्नर शाइस्ता खाँ से शुल्क से छूट प्राप्त की, इसके बाद मुगल सम्राट औरंगजेब ने भी जजिया लेकर फरमान जारी किया कि कंपनी सूरत के अलावा सभी स्थानों पर बिना चुंगी दिए व्यापार कर सकती है। इन सुविधाओं के मिलने के बाद भी कंपनी ने अपनी किलेबंदी करना प्रारम्भ की। अब मुगलों और कंपनी में संघर्ष हुआ और कंपनी पराजित हो गई, इसके बावजूद मुगल सम्राट ने कंपनी को व्यापार जारी रखने की छूट दे दी, क्योंकि वह सूरत से व्यापार को चालू रखना चाहता था।

मुगलों से चिटगाँव में पराजित होने के बावजूद 1690 में कंपनी ने सुतानट्टी में फैक्ट्री स्थापित की और जमींदार सोभासिंह के विद्रोह के बाद कंपनी ने वहाँ की किलेबंदी की तथा 1200 रुपए का भुगतान करके कंपनी ने तीन गाँवों का लगान एकत्र करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। ये तीन गाँव थे – **सुतानट्टी, कालीकट और गोविंदपुर**। इन तीन गाँवों को मिलाकर जॉव चारनॉक ने कलकत्ता की स्थापना की। यहाँ की अंग्रेजों की बस्ती **फोर्ट विलयम** और नगर कलकत्ता कहलाने लगा।

**कंपनी का महाधिकार पत्र** – अंग्रेजी कंपनी को मुगल सम्राट फरुखसियर ने एक फरमान 1717 में जारी किया, इस फरमान के द्वारा कंपनी को कई व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुई, इसीलिए इसे कंपनी का महाधिकार पत्र कहा गया। ये सुविधाएँ इस प्रकार थीं–

1. बंगाल में कंपनी को 30,000 रुपए की निश्चित वार्षिक राशि के स्थान पर निःशुल्क व्यापार करने की छूट प्राप्त हो गई।
2. कंपनी कलकत्ता के पास अतिरिक्त भूमि किराए पर ले सकेगी।
3. अब कंपनी हैदराबाद में भी व्यापार कर सकती थी और मद्रास में भी वही किराया तय कर दिया गया जो कंपनी वहाँ दे रही थी।
4. सूरत में भी कंपनी को 10,000 रुपए देकर निःशुल्क व्यापार करने की छूट मिल गई।
5. कंपनी के बंबई में बने सिक्कों को मुगल साम्राज्य में भी मान्यता मिल गई।

इस तरह अठारहवीं शती के प्रथम दो दशकों तक कंपनी की हालत बहुत अच्छी हो गई थी, इस समय तक पुर्तगालियों और डचों का व्यापारिक एकाधिकार लगभग समाप्त हो गया था। पूर्वी और पश्चिमी तटों पर अंग्रेजों ने जो अपनी फैक्ट्रियाँ बनाई थीं उनकी किलेबंदी करके सुरक्षित कर लिया गया था और मुगल सम्राट से कई अतिरिक्त सुविधाएँ प्राप्त करने में भी कंपनी सफल रही थी। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि किस तरह कंपनी ने बंगाल में अपना शासन स्थापित किया और राजस्व वसूल करके दीवानी के अधिकार भी उन्होंने प्राप्त कर लिए और धीरे–धीरे सम्पूर्ण भारत पर अपना शासन स्थापित कर लिया।

## 6.11 फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया की स्थापना

भारत में यूरोप से आने वाले यूरोपियनों में फ्रांसीसी सबसे अन्तिम थे और ये उस समय आए जबकि भारत में पुर्तगालियों तथा डचों की शक्ति लगभग समाप्त हो गई थी और सिर्फ अंग्रेज थे। यही कारण है कि फ्रांसीसियों का संघर्ष अंग्रेजों से हुआ। व्यापारिक वाणिज्यवाद का सबसे अधिक प्रभाव फ्रांस में देखा जा सकता था। फ्रांस के शासक लुई चौदहवें के समय में उसका मंत्री कोलबर्ट मध्यवर्ग की आर्थिक सम्पन्नता बढ़ाने के लिए व्यापारिक विकास का पक्षपाती

था। अतः उसने विदेशी व्यापार को खूब प्रोत्साहन दिया। उसके प्रयासों से ही एक सरकारी व्यापारिक कंपनी की स्थापना 1664 में की गई, इसे भारत और पूर्वी देशों से व्यापार करने का अधिकार दिया गया।

फ्रांसीसी व्यापारिक कंपनी ने 1668 में सूरत में और 1669 में पांडिचेरी में अपनी फैक्ट्रियाँ बनाईं, इस कंपनी ने बंगाल के चन्द्रनगर में भी अपना केन्द्र स्थापित किया, इस दौरान फ्रांस कई यूरोपीय युद्धों में व्यस्त रहा इस कारण कंपनी की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। 1672 से 1713 के बीच फ्रांस और हॉलैण्ड के बीच युद्ध चलता रहा, इस अवधि में डचों ने भारत में फ्रांसीसी कंपनी को बहुत नुकसान पहुँचाया। 1672 में डचों ने कोरोमण्डल तट पर स्थित फ्रांसीसी बस्ती सेंट थामस पर अपना अधिकार कर लिया, इसके अलावा 1693 से 1699 के बीच पाण्डिचेरी भी डचों के अधीन रहा, इस स्थिति में फ्रांसीसियों की अन्य बस्तियाँ भी उजड़ गईं।

1720 में इस कंपनी का एक अन्य कंपनी के साथ विलय कर दिया गया और एक नई कंपनी की स्थापना की गई, इस कंपनी ने मॉरीशस, मालाबार तट पर स्थित माही बन्दरगाह और कोरोमंडल तट पर कारिकल पर अपना अधिकार कर लिया। 1735 में ड्यूमा को पाण्डिचेरी का गवर्नर बनाकर भेजा गया। ड्यूमा ने व्यापारिक हितों के साथ–साथ राजनैतिक हितों को भी महत्व दिया। ड्यूमा और डूप्ले जैसे गवर्नरों ने फ्रांसीसी कंपनी को अंग्रेजी कंपनी के समान बना दिया। 1740 में यूरोप में आस्ट्रियन उत्तराधिकार का युद्ध प्रारम्भ हुआ, इसके कारण फ्रांस और अंग्रेज एक दूसरे के विरुद्ध हो गए, इस प्रतिद्वंद्विता ने भारत में भी दोनों कंपनियों को आपसी संघर्ष में उलझा दिया। 1742 में डूप्ले फ्रांसीसी कंपनी का गवर्नर बना उसने व्यापारिक एकाधिकार के साथ राजनैतिक एकाधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। अंग्रेज भी व्यापारिक और राजनैतिक एकाधिकार पाने के लिए प्रयत्नशील रहे। अतः दोनों कंपनियों में अब खुला संघर्ष अनिवार्य हो गया। 1743 से 1763 के बीच दोनों कंपनियों के बीच कर्नाटक में तीन युद्ध हुए।

## 6.12 अफगानिस्तान में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद

### प्रथम अफगान युद्ध

**ब्रिटिश शासन की उत्तर पश्चिमी सीमांत नीति (1809–1838) :–** भारत की उत्तर पश्चिमी सीमांत नीति के संबंध में इतिहासकार **आर.सी. मजूमदार** लिखते हैं – **"भारत की पूर्वोत्तर सीमा की राजनीति प्रायः भारत के ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा, गृह सरकार की अनुमति या उसके बिना संचालित की गई, जबकि पश्चिमोत्तर सीमा नीति का संचालन केवल ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के हक में हुआ।"**

अफगानिस्तान की भौगोलिक स्थिति बहुत विचित्र थी। वह पश्चिम व मध्य एशिया से भारत आने वाले मुख्य व्यापारिक मार्ग के बीच स्थित था, इस स्थिति में यहाँ कई कबीले आकर बस गए थे। कबीलों की विविधता के कारण यूरोप के दो साम्राज्यवादी राष्ट्र इंग्लैण्ड और रूस अफगानिस्तान को एक राष्ट्र न मानकर इसे केवल असभ्य जातियों का एक समूह मात्र मानते थे और इसके भाग्य का निर्णय करने के लिए आपस में संघर्षरत रहते थे। भारत में मुगल साम्राज्य के पतन के बाद अफगानिस्तान से कई आक्रमण हुए। अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण सबसे प्रमुख आक्रमण था परन्तु वह पुनः भारत की ओर नहीं आ सका, इस बीच अंग्रेजों ने भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। 1793 में जमाँदारशाह के समय में एक बार पुनः भारत पर अफगान आक्रमण का खतरा बढ गया था। वह 1798 में लाहौर तक आ गया था, इस समय भारत के जो नवाब कंपनी से असन्तुष्ट थे वे उसकी सहायता चाहते थे इस समय अंग्रेजों ने अपना एक प्रतिनिधिमण्डल फारस भेज कर अफगानिस्तान पर दबाव डलवाया जिससे जमाँदारशाह को वापस लौटना पडा। जमाँदारशाह के बाद अफगानिस्तान में अशांति फैल गई। अफगानिस्तान के पूर्व में सिक्खों के तथा पश्चिम में फारस के ताकतवर राज्य थे। ये दोनों राज्य मौका मिलते ही राज्य विस्तार करने लगते थे।

NOTES

1826 में काबुल का शासक दोस्त मोहम्मद बना, इस बीच कुछ समय के लिए शाह शुजा ने काबुल पर अधिकार कर लिया था, परन्तु उसे वहाँ से भागकर भारत आना पड़ा। अब वह रणजीत सिंह के साथ मिलकर काबुल पर अधिकार करने की योजना बनाने लगा। उत्तर पश्चिम की राजनैतिक स्थिति कुछ ऐसी ही थी, इस राजनैतिक स्थिति में अंग्रेजों ने उग्र अग्रगामी नीति अपनाई।

## बोध प्रश्न

1. भारत में उपनिवेशवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये?

.........................................................................................................................

.........................................................................................................................

.........................................................................................................................

2. ब्रिटेन की भारत विजय और उपनिवेश की स्थापना का वर्णन कीजिए?

.........................................................................................................................

.........................................................................................................................

.........................................................................................................................

## 6.13 आकलैंड की नीति

**आकलैंड की नीति और प्रथम अफगान युद्ध के कारण** – एशिया में रूसी प्रभाव को कम करने के लिए इंग्लैण्ड ने 1809 और 1814 में फारस के साथ संधि की, इसमें यह कहा गया कि इंग्लैण्ड किसी भी यूरोपीय आक्रमण होने पर उसे आर्थिक व सैनिक सहायता देगा, इसके बाद गुलिस्ताँ की संधि द्वारा फारस एवं रूस की सीमाओं का निर्धारण भी करवा दिया गया, इसके बाद भी 1826 में फारस और रूस के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। ब्रिटेन रूस के साथ यूनान के समझौते के लिए प्रतिबद्ध था अतः उसने फारस को सहायता देने से इंकार कर दिया, इसके बाद जब युद्ध समाप्त हो गया तो उसने संधि से सहायता वाली धारा को निकाल दिया, इसके बाद से अंग्रेजों को रूस का भय सताने लगा। अंग्रेजों का रूस के प्रति यह सोचना कि वह अफगानिस्तान पर आक्रमण करके भारत में अंग्रेजों के हितों को नुकसान पहुँचा सकते हैं। यहाँ अंग्रेजों ने राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिचय देते हुए रूस के कल्पित आक्रमण के भय के कारण प्रथम अफगान युद्ध हुआ।

1836 में लार्ड आकलैंड भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया और उसने अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी नीति अपनाई। उसके भारत आने पर दोस्त मुहम्मद ने उसे बधाई भेजी थी, इसके साथ ही उसने फारस तथा सिक्खों के विरुद्ध सहायता माँगी थी। यहाँ आकलैंड ने एक नए मित्र के लिए पुराने मित्रों के साथ नाता तोड़ना उचित नहीं समझा। उसने दोस्त मुहम्मद को यह कहा कि स्वाधीन राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति भारत सरकार की नहीं है, इसके बाद अफगान के शासक ने फारस और रूस के साथ संधि करने का प्रयत्न किया।

अब पामर्स्टन को रूस से भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा और स्थिरता से खतरा महसूस होने लगा, इस समय हैरात भारतीय साम्राज्य के हितों के लिए सामरिक महत्व का स्थान था और रूस ने शाह को हैरात पर आक्रमण करने के लिए उकसाया, इससे भी ब्रिटिश सरकार को काफी चिन्ता हुई। अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए 1836 में कप्तान अलेक्जेण्डर बर्न्स को वाणिज्यिक अभियान के माध्यम से अफगानिस्तान भेजा। उसके काबुल पहुँचने के कुछ ही समय बाद रूसी राजदूत भी वहाँ पहुँच गया। बर्न्स ने इस बात की सूचना आकलैंड को दी कि दोस्त मुहम्मद अंग्रेजों के साथ संधि करने के पक्ष में है, इसी बीच फारस के शाह ने हैरात का घेरा डाला। यहाँ एक अंग्रेजी सेना के साथ अफगान सैनिकों ने युद्ध किया और शाह को

को हैरात का घेरा उठाना पड़ा, परन्तु आकलैंड ने बर्न्स के सुझाव पर ध्यान नहीं दिया और उसने काबुल एक पत्र भेजा जिसमें कहा गया कि उन्हें रूस से दूर रहना चाहिए, इसके बदले में आकलैंड ने उसे सिर्फ इतना आश्वासन दिया कि पेशावर के बारे में रणजीत सिंह से चर्चा की जाएगी। दोस्त मुहम्मद इससे नाराज हुआ और वह रूस की ओर झुकने लगा। आकलैंड का सोचना था कि यदि अफगानिस्तान का अधीनस्थ मित्र न बन सके तो उस ताकत के इस्तेमाल द्वारा अपना व्यक्ति वहाँ बिठा दिया जाए।

NOTES

आकलैंड की अग्रगामी नीति के लिए स्वयं वह ही उत्तरदायी था। जून, 1838 को शाह शुजा, रणजीतसिंह और आकलैंड के बीच एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ, इसमें रणजीतसिह के माध्यम से अफगानिस्तान पर आक्रमण करने की योजना बनाई गई, इसके बाद शिमला मैनिफेस्टो द्वारा दोस्त मुहम्मद पर कई तरह के दोष लगाए गए। वास्तव में शिमला मैनिफैस्टो युद्ध की घोषणा ही थी। आकलैंड अपनी सेना लेकर फिरोजपुर पहुँच गया। रणजीत सिंह बीमार पड़ गया तो अब इस आक्रमण का सारा भार अंग्रेजी सेना पर आ गया।

## युद्ध का प्रारम्भ और घटनाएँ

अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए जो सेना तैयार की गई उसे **'सिन्धु सेना'** कहा गया। यह सेना नवम्बर, 1838 में फिरोजपुर में एकत्र हुई, इस सेना का सेनापति सर जॉन कीन को बनाया गया। सेना को दो भागों में विभाजित किया गया। एक सेना कन्धार की ओर से तथा दूसरी सेना पेशावर की ओर से आगे बढ़ी। जो सेना शाह शुजा के नेतृत्व में आगे जा रही थी उसका सलाहकार मैकनाटन को बनाकर भेजा गया। 25 अप्रैल को शाह शुजा ने कंधार में प्रवेश किया और जुलाई, 1839 में गजनी पर अधिकार कर लिया गया, इसके बाद 7 अगस्त, 1839 को शाह शुजा ने काबुल पर अधिकार कर लिया। अफगान युद्ध में अधिकांश सफलता वहाँ के अमीरों को घूस देकर प्राप्त की गई थी। नवम्बर में दोस्त मुहम्मद ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे कलकत्ता भेज दिया गया, इस तरह 1839 के अन्त तक आकलैंड की नीति सफल हो गई थी। अब केवल एक समस्या थी कि क्या शाह शुजा अकेले अफगानिस्तान पर शासन कर सकेगा, इसके लिए मैकनाटन अंग्रेजी सहायता से विभिन्न कबीलों को शाह शुजा की अधीनता स्वीकार करवाने का प्रयत्न कर रहा था। आकलैंड को यह महसूस हो गया था कि अभी अंग्रेजी सेना की वापसी ठीक नहीं होगी। अभी कुछ समय तक अंग्रेजी सेना को वहाँ रहना पडेगा, परन्तु वहाँ की परिस्थितियों में अंग्रेजी सेना को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था, इस कारण आकलैंड को कुछ सेना की वापसी के आदेश देना पड़े। जनरल नाट और कर्नल सेल के नेतृत्व में कुछ सेना अफगान में रुक गई। अन्त में 1840 में सेनाध्यक्ष कीन के नेतृत्व में बची हुई अंग्रेजी सेना का भाग भी वापस आ गया।

यह अफगान युद्ध के प्रथम चरण की समाप्ति थी न कि युद्ध की समाप्ति क्योंकि अभी अंग्रेजों को वहाँ विद्रोहों का सामना करना पड़ा। अंग्रेज सेना के अफगान में रहने के कारण उनके खर्च के लिए जो राशि रखी जाती थी वह वहाँ के कबीलों को दी जाने वाली राशि में से कम कर दी जाती थी, इस कारण वहाँ के कबीलों में बहुत अधिक असंतोष था, इसके अलावा अफगानिस्तान के विभिन्न लोगों को यह समझने में देर नहीं लगी कि यहाँ के वास्तविक शासक अब अंग्रेज ही हैं। अंग्रेजों ने वहाँ के आन्तरिक मामलों में बहुत अधिक हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया और उन्होंने अफगान स्त्रियों के साथ बदसलूकी भी की, इसके अलावा अफगान सरदारों की आय के साधनों पर भी प्रतिबंध लगा दिए गए। इन सब घटनाओं के कारण वहाँ के कबीलों में तथा अन्य लोगों में भारी असंतोष फैलने लगा, इस असंतोष के परिणामस्वरूप वहाँ अंग्रेजों के विद्रोह का सामना करना पड़ा।

सबसे पहले विद्रोह का प्रारम्भ गिलजई जाति ने किया। रोबर्ट सेल जो जलालाबाद से भारत आ रहा था, घिर गया और उसे काफी धन–जन हानि सहन करनी पड़ी, इसी समय काबुल में 2 नवंबर, 1840 को विद्रोह हो गया, इसमें अंग्रेज अधिकारियों की हत्या का लक्ष्य रखा गया।

NOTES

लाधमन और चारिकर, जो अंग्रेज सैनिक केंद्र थे, पर विद्रोहियों ने आक्रमण कर दिया। यहाँ सिर्फ दो अंग्रेज अधिकारी और कुछ सैनिक बचे शेष अंग्रेजी सेना मारी गई, इसके बाद विद्रोहियों ने गजनी पर अधिकार कर लिया। यहाँ भी अंग्रेज सेना को समाप्त कर दिया गया। इतिहासकारों ने 1841–42 का वर्ष अंग्रेजी इतिहास में अत्यन्त निराशाजनक माना है। इन वर्षों में अंग्रेजों को कई जगह विद्रोहियों का सामना करना पड़ा और अंग्रेज सेना को पराजय का मुँह भी देखना पड़ा। अंग्रेजों ने यहाँ भी फूट डालकर अपना लाभ पाने की कोशिश की। उन्होंने शिया–सुन्नी झगड़े को उकसाया और विद्रोहियों की हत्या करने वाले को इनाम देने की घोषणा की गई, परन्तु विद्रोह बढ़ता ही गया और दिसंबर, 1841 को मैकनाटन और उसके सलाहकारों की भी हत्या कर दी गई। इन सारी घटनाओं से अंग्रेजों में काफी निराशा और हताशा व्याप्त हो गई। जो अंग्रेज काबुल में घिरे थे उन्हें जलालाबाद जाने की सुविधा का विश्वास अकबर खाँ ने दिया, परन्तु रास्ते में गिलजई कबीले ने उन पर आक्रमण कर दिया और 18000 सैनिकों में से केवल एक **डॉ. ब्राइडन** जिन्दा बच सके।

इन विद्रोहों से स्पष्ट है कि आकलैंड की नीति असफल हो गई। 28 फरवरी, 1842 को आकलैंड को भारत से वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर ऐलनबरो को गवर्नर जनरल नियुक्त किया, इस प्रथम अफगान युद्ध में आकलैंड की नीति असफल रही।

### अफगान युद्ध के परिणाम

यद्यपि आकलैंड की नीति असफल रही, परन्तु इस युद्ध के परिणामस्वरूप अंग्रेजों को कुछ लाभ भी हुए। उनका मूल लक्ष्य था अफगानिस्तान में अपनी समर्थक सरकार बनाना जिसमें वे असफल रहे, इसके अलावा पहली बार अंग्रेजों को इतनी व्यापक असफलता का सामना करना पड़ा।

## 6.14 सिंध का अधिग्रहण

प्रथम अफगान युद्ध के समय अंग्रेजी सेना सिंध से होकर गुजरी थी और इसी बीच उनका ध्यान सिंध की ओर गया। प्रथम अफगान युद्ध के बाद अंग्रेजों ने सिंध को अधिग्रहीत करने की योजना बनाई, इस समय सिंध मुख्यताया तीन प्रदेशों में विभक्त था। उत्तर पूर्व सिंध की राजधानी मीरपुर, निचले सिंध की राजधानी हैदराबाद और ऊपरी सिंध की राजधानी खैरपुर थी। 1739 में जब भारत पर नादिरशाह का आक्रमण हुआ था तब सिंध मुगल साम्राज्य में शामिल था, इसके बाद 1740 में सिंध और अफगानिस्तान दोनों ही फारस के अधीन हो गए थे।

### अंग्रेजों की दृष्टि में सिंध की उपयोगिता

(i) अंग्रेजों को अपना व्यापार विकसित करने के लिए सिंध की आवश्यकता थी। अंग्रेजों ने 1630 में ही मुगल सम्राट से सिंध में व्यापार करने की स्वीकृति ले ली थी, परन्तु मराठा युद्ध के बाद कच्छ अंग्रेजों के हाथ से निकल गया था जिस कारण उन्हें व्यापार में कठिनाई होने लगी थी। अब कच्छ से सीमा मिल जाने के कारण व्यापार पुनः विकसित किया जा सकता था।

(ii) नदी के रास्ते से भी सिंध में व्यापार हो सकता था।

(iii) एशिया के कुछ क्षेत्रों से जमीनी मार्ग से सिंध एक महत्वपूर्ण सामरिक महत्व का स्थान था।

(iv) 1799 में कंपनी ने नाथन क्रो को व्यापारिक तथा राजनीतिक सुविधाएँ पाने के लिए सिंध भेजा था। यद्यपि क्रो को सफलता नहीं मिली, परन्तु अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नजर में सिंध चढ़ गया था।

(v) 1809 ई. में लार्ड मिन्टो ने सिंध के अमीरों से संधि की और इसके तहत उन्होंने फ्रांसीसियों को तथा अमेरिकियों को इस क्षेत्र में रहने देने की अनुमति न देने का आश्वासन दिया था।

(vi) अंग्रेज नहीं चाहते थे कि रणजीतसिंह सिंध पर अपना अधिकार करें।

(vii) रूस के आक्रमण की संभावना के लिए सिंध का सामरिक महत्व भी था।

(viii) इस सबके अलावा अंग्रेजों की साम्राज्यवादी विचारधारा भी उन्हें सिंध पर अधिकार करने के लिए प्रेरित कर रही थी।

NOTES

## अंग्रेजों द्वारा आक्रमण के पूर्व के प्रयत्न

1830 में अंग्रेजों ने रणजीत सिंह से मिलने के बहाने बर्न्स को सिंध नदी के रास्ते भेजा ताकि वह सिंध नदी का सही मुआयना कर सके क्योंकि अंग्रेज जानते थे कि जब तक उन्हें सिंध नदी के बारे में सही जानकारी नहीं होगी तब तक न तो सिंध से व्यापार ही किया जा सकेगा और न उसे अपने राज्य में सम्मिलित ही किया जा सकेगा। क्योंकि 1808 में बम्बई की सरकार ने सिंध से व्यापार करने की अनुमति ली थी, किन्तु सिंधु नदी के बारे में सही जानकारी के बिना व्यापार को बढ़ाना संभव नहीं था। रणजीत सिंह भी सिंध पर अधिकार करना चाहता था। उसने देहली के रेजीडेन्ट से पूछा कि क्या कंपनी सिंध की ओर बढ़ना चाहती है तो उसे मना कर दिया गया। कुछ समय बाद रणजीत सिंह ने लाहौर के अंग्रेज रेजीडेन्ट को सुझाव दिया कि यदि अंग्रेज चाहें तो उन दोनों की संयुक्त सेना सिंध पर आक्रमण कर सकती है और यदि वे ऐसा नहीं चाहते हैं तो वे तटस्थ भी रह सकते हैं। अंग्रेजों ने उससे कहा कि अंग्रेज तो सिर्फ सिंध से व्यापार करना चाहते हैं अतः रणजीत सिंह अभी सिंध की ओर आगे न बढ़ें।

## 1832 की सिंध और अंग्रेजों की संधि

जब सिंध के अमीरों को अफगानिस्तान से मदद नहीं मिली तो उन्होंने 1832 में अंग्रेजों से संधि कर ली, इस संधि के द्वारा अंग्रेजों को कुछ शर्तों के अधीन सिंध की सब नदियों से व्यापार करने की छूट मिल गई। ये शर्तें इस प्रकार थीं–

(i) अंग्रेज स्थायी रूप से सिंध में नहीं रहेंगे।

(ii) वे सैनिक सामान न तो नदी के रास्ते और स्थल के रास्ते वहाँ से ले जाएँ।

(iii) दोनों ही दल एक दूसरे के प्रदेशों की ओर लालच से नहीं देखेंगे।

## 1839 की संधि

अंग्रेजों ने सिंध पर रणजीत सिंह के आक्रमण का भय दिखाकर सिंध में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट रखने के लिए वहाँ के अमीरों को तैयार कर लिया। उन्हें यह कहा गया कि वे अपनी सुरक्षा के लिए अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार करें और उन्हें एक संधि करने के लिए विवश किया गया, इस संधि के द्वारा हैदराबाद में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट रहने लगा, इस कार्य के लिए पोन्टिगर को प्रथम रेजीडेन्ट बनाकर सिंध भेजा गया, इसके बाद 1839 में एक त्रिदलीय संधि हुई, इसमें शुजा, रणजीत सिंह और अंग्रेज शामिल थे, इस संधि के आधार पर शाह शुजा ने सिंध पर से अपना अधिकार छोड़ दिया।

लार्ड एलनबरो को अफगानिस्तान के बारे में ब्रिटिश सरकार की स्थिति को सुधारना था अतः उसने अफगानिस्तान पर आक्रमण भी किया और वहाँ दोस्त मुहम्मद को बिना शर्त गद्दी पर बैठा दिया गया, इसके बाद दोस्त मुहम्मद ने अंग्रेजों के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार किया। अफगानिस्तान से लौटते हुए अंग्रेजी सेना ने 1843 में सिंध को हथिया लिया, इसके बाद "1844 में जार निकोलस प्रथम, रानी विक्टोरिया से मिला और मध्य एशिया में बुखारा, खीबा और समरकंद के खान शासित राज्य को दोनों साम्राज्यों के बीच तटस्थ क्षेत्र के रूप में छोड देने का निश्चय हुआ। क्रीमिया युद्ध के कारण इन मित्रतापूर्ण संबधो मे बाधा पड़ी तथा रूस पुनः मध्य एशिया में अग्रगामी नीति अपनाने लगा, इस काल में अंग्रेजो के अमीर दोस्त मुहम्मद से लगभग अच्छे संबंध रहे। उसने कंधार पर अपना आधिपत्य जमा लिया। 1855 में एक संधि द्वारा भारत सरकार ने अमीर के राज्य की सीमा का उल्लंघन न करने का वचन दिया तथा अमीर ने अंग्रेजों के

मित्रों का मित्र व शत्रुओं का शत्रु बनना स्वीकार किया। 1856 में फारस के विरुद्ध भी अमीर को धन व शस्त्र से सहायता दी गई जिससे वह हैरात की सुरक्षा कर सका। लारेंस दोस्त मुहम्मद को पेशावर लौटा देने के पक्ष में था, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए काफी खर्च करना पड़ता था, किन्तु कैनिंग ने इसका विरोध किया। लॉर्ड एल्गिन ने भी कम से कम हस्तक्षेप की नीति अपनाई। उसके अनुसार शक्तिशाली संगठित और अंग्रेजों के प्रति मित्रता रखने वाला अफगानिस्तान उनकी मध्य एशिया नीति के लिए अधिक उपयुक्त था। 1862 में हैरात पर दोस्त मुहम्मद का आक्रमण गृह सरकार को पसंद नहीं आया किन्तु उनके विरोध पर भी एल्गिन ने बिना विरोध के दोस्त मुहम्मद को 1863 में हैरात पर विजय करने दी, इसके बाद 1863 में ही अस्सी वर्ष की आयु में दोस्त मुहम्मद की मृत्यु हो गई। दोस्त मुहम्मद के मरने के बाद आगामी पाँच वर्ष तक अफगानिस्तान के उत्तराधिकार के लिए उसके सोलह पुत्रों में गृहयुद्ध होता रहा।''

## 6.15 लार्ड लारेन्स की अफगानिस्तान नीति (1863–1869)

लार्ड लारेन्स 1863 में गवर्नर जनरल बना, उस समय अफगानिस्तान में उत्तराधिकार के लिए युद्ध चल रहा था। अफगानिस्तान की स्थिति अस्त–व्यस्त और अशांत थी। उत्तरी पश्चिमी सीमांत की इस असंतोषजनक स्थिति को सुधारने के लिए भिन्न–भिन्न विचारधाराएँ प्रस्तुत की गईं। एक मत यह था कि भारत सरकार को सिंधु तक पीछे हट जाना चाहिए। दूसरा विचार था कि क़बायली क्षेत्र को ब्रिटिश अधिराज्य में मिलाकर अफगानिस्तान की सीमा तक पहुँचना तथा तीसरा अवसर मिलते ही अफगानिस्तान का एक भाग अपने अधिराज्य में मिला लेना चाहिए, किन्तु लारेंस का मत था कि इन क़बायलियों की स्वाधीनता स्वीकार कर इनमें ब्रिटिश अधिराज्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न करनी चाहिए तथा अफगानिस्तान के आंतरिक (राजवंशीय) झगड़ों में न पड़कर जो वहाँ सत्तारूढ़ हो, उससे मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना करनी चाहिए। 1878 तक इसी नीति का अनुसरण किया गया, किन्तु लिटन ने इस नीति को त्यागकर भयंकर विनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया। उसके पश्चात् यही नीति 1919 तक व्यवहार में रही।

दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के बाद अफगानिस्तान में जो गृह युद्ध प्रारम्भ हुआ उसके सभी प्रतिद्वंद्वी अंग्रेजों की सहायता के इच्छुक थे किन्तु लॉर्ड लारेंस ने कुशल अकर्मण्यता का अनुसरण करते हुए संघर्षशील भाइयों को सहायता देने से इंकार कर दिया। लारेन्स ने इस गृह युद्ध के दौरान पूर्ण रूप से तटस्थ रहने की नीति अपनाई। उसका मानना था कि ब्रिटिश शासन का संबंध अफगानिस्तान के वास्तविक शासक से होना चाहिए न कि युद्धरत भाइयों में से किसी एक को सहायता देकर किसी एक पक्ष से इस नीति के तहत जो भी काबुल में अपने आपको स्थापित करने में सफल होता उसे स्वीकार किया जाता रहा। तीन बार शेर अली ने अंग्रेजी सरकार से सहायता माँगी परन्तु उसे तीनों बार निराश होना पड़ा। 1868 में जैसे ही शेर अली ने कन्धार पर अधिकार किया और वह काबुल पर अधिकार करने के लिए बढ़ा। लारेन्स ने उसे धन से सहायता दी ताकि वह अपने आपको मजबूत कर सके। उसकी इस नीति से गृहयुद्ध तो काफी लंबा हो गया किन्तु सहायता न देकर लारेंस ने दूसरे उम्मीदवारों द्वारा रूस व फारस से सहायता प्राप्ति की संभावना पर रोक लगा दी, इस प्रकार अफगान गृहयुद्ध को पृथक कर एक अंतरराष्ट्रीय उलझन को उठने से रोका गया। उसकी तटस्थता की नीति के पीछे यह तर्क था कि यदि वह किसी एक पक्ष की सहायता करेगा तो दूसरे अन्य पक्ष रूस या ईरान से सहायता माँगेगा। शायद उसकी यह भी नीति रही होगी कि वह अफगानिस्तान में हस्तक्षेप नहीं कर रहा तो कोई और देश यदि हस्तक्षेप करेगा तो वह उसे रोकने के लिए नैतिक रूप से समर्थ रहेगा, किन्तु शेर अली जब अमीर बना तो उसका अंग्रेजी नीति के कारण उनसे विमुख होना आश्चर्यजनक बात नहीं थी। (उसकी सहायता की प्रार्थना को लारेंस ने तीन बार ठुकरा दिया था) 1868 में शेर अली ने जब अपनी सत्ता सुस्थिर कर ली तो लारेंस ने उसे धन व शस्त्र भेजे, जिससे वह अपने आपको और सुदृढ़ करने में सफल हुआ। लारेंस इससे अधिक हस्तक्षेप करने को तैयार न था।

"1864–1868 में रूसियों ने मध्य एशिया में अपना अग्रगामी साम्राज्यवाद फिर से चालू किया। (समरकंद, बुखारा उसके अधीन आ गए) रूरी भय की पुनरावृत्ति के कारण रालिन्सन (भारत मंत्रिपरिषद् का सदस्य) ने अफगानिस्तान के प्रति गतिशील नीति अपनाने का सुझाव दिया तथा क्वेटा (उत्तरी बलूचिस्तान में) पर अधिकार कर बोलन दर्रा अपने हाथ में लेने की सिफारिश की। अमीर के प्रति मैत्रीपूर्ण स्थिति को बढ़ाने के लिए वार्षिक अनुपूर्ति देने को भी कहा गया, किन्तु लारेंस को इस नीति में विश्वास न था। क्वेटा पर अधिकार उसकी निगाह में मक्खियों के छत्ते पर बैठना था। प्रथम तो उसे विश्वास न था कि रूस भयावह मार्ग की विषमताओं को झेल भारत पर आक्रमण करेगा। अतः रूस में शांतिवार्ता के लिए गृह सरकार से वह याचना करता रहा जिससे रूस यारकंद व बुखारा में उलझ रहे। यदि रूस के आक्रमण की सत्यता मान भी ली जाए तो उसे इस नीति में कोई तत्व नजर नहीं आता था कि शेर अली से झगड़ा मोल लेकर ऑक्सस (आमू) नदी पर रूस की बढ़ती हुई सेनाओं को रोका जाए। आधे रास्ते में जाकर भिड़ने की अदूरदर्शिता की बजाय वह यह उत्तम समझता था कि सीमांत प्रतिरक्षा दृढ़ की जाए और यदि रूस विषमताओं को सामना कर भारत तक पहुँच भी जाए तो पूरी ताकत से टक्कर ली जाए क्योंकि रूस जितना आगे बढ़ेगा उतना ही कमजोर होता जाएगा। रूस की निकटता से भारत में ही अच्छे शासन प्रबंध द्वारा सबका समर्थन प्राप्त किया जाए तथा साधनों में वृद्धि की जाए। यह बात रिपन व गृह सरकार ने भी स्वीकार की। लारेंस ने यह भी कहा कि अफगान अपने प्रथम आक्रामक को चाहे वे अंग्रेज हों या रूसी अपना शत्रु समझेंगे तथा दूसरे को मित्र व मुक्तिदाता। लारेंस की नीति पूर्ण निष्क्रियता की नहीं थी; वह सुविचारित और तर्कसंगत थी। परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढालकर इसी नीति और विचारधारा का अनुसरण लिटन के आने से पूर्व तक होता रहा।"

## 6.16 लार्ड मेयो की अफगान नीति (1869–1872)

लार्ड लारेन्स के बाद 1869 में लॉर्ड मेयो भारत का गवर्नर जनरल बना। लारेन्स ने शेर अली से मिलने के लिए अम्बाला में एक सम्मेलन का आयोजन किया था, परन्तु उस समय शेर अली अपनी आन्तरिक समस्याओं के कारण नहीं आ सका था, इसके बाद वह मार्च 1869 में लार्ड मेयो के समय में भारत आया। शेर अली भारत के साथ एक मित्रता पूर्ण संधि चाहता था और मेयो भी लारेंस की नीति को स्वीकार करते हुए बिना किसी प्रकार का बंधन स्वीकार किए शेर अली से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने का इच्छुक था। शेर अली भारत और अफगानिस्तान के बीच एक स्थायी संधि चाहता था, इस संधि में वह निम्न बातें निश्चित करना आवश्यक समझता था –

- वह भारत से एक निश्चित वार्षिक सहायता की अपेक्षा रखता था।
- वह यह भी निश्चित करना चाहता था कि जब भी अफगानिस्तान को सैनिक और शस्त्रों की आवश्यकता होगी भारत उसे देगा।
- इसके अलावा वह ब्रिटिश सरकार से अपनी सरकार को मान्यता भी लेना चाहता था।
- वह यह भी चाहता था कि भारत सरकार उसके छोटे बेटे अब्दुल्ला जान को उसके उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता दे न कि उसके बड़े पुत्र याकूब खाँ को।

इस तरह की निश्चित संधि का अर्थ था भारत सरकार का अफगानिस्तान के राजवंशीय झगड़ों में उलझना जिसके लिए सरकार तैयार न थी, किन्तु शेर अली को असंतुष्ट भी नहीं करना चाहती थी। शेर अली का भव्य स्वागत कर उसे प्रसन्नचित काबुल भेजा गया। संधि की जगह मेयो ने उसे लिखित आश्वासन दिया कि जब भी उचित अवसर समझा जाएगा, भारत सरकार उसे धन व शस्त्र भेंट कर नैतिक समर्थन देती रहेगी।

मेयो ने लारेन्स की तरह तटस्थता की नीति का ही अनुसरण किया था। वह इस काल में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण इसलिए भी आसानी से कर सका क्योंकि 1869 में ब्रिटेन

के विदेश मंत्री लार्ड क्लेरेन्डन ने रूस के युवराज गोर्शाकोफ के साथ वार्ता कर रूस द्वारा अफगानिस्तान की अखंडता को स्वीकृत करा लिया। कलकत्ता का राजदूत भी पीटर्सबर्ग गया तथा रूस ने ऑक्सस नदी के दक्षिण की ओर शेर अली की सीमा इस शर्त के साथ स्वीकार कर ली कि अफगानिस्तान नदी के उत्तर में बुखारा की अखंडता का सम्मान करता रहेगा। ब्रिटिश सरकार उसे काशगर मार्ग द्वारा चीन की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करना चाहती थी, इससे दोनों में टक्कर होती और रूस व चीन की शक्ति कम होने से, इंग्लैड इन पड़ोसियों से निश्चिन्त हो सकता था। रूस का अफगानिस्तान को अपने प्रभुत्व क्षेत्र से बाहर स्वीकार करना मध्य एशियाई राजनीति में एक महत्वपूर्ण चरण था, इससे संतुष्ट हो मेयो ने रूसी तुर्किस्तान के गवर्नर जनरल कॉफमैन द्वारा शेर अली को भेजे अभिनंदनात्मक पत्र व्यवहार (जो अमीर ने मेयो को भेज दिए) पर भी कोई आपत्ति नहीं उठाई। याकूब खाँ ने हैरात पर अधिकार कर लिया। मेयो ने सहायता न देकर शेर अली को उससे समझौता करने की राय दी जो उसने स्वीकार की, इस प्रकार हैरात अफगानों के अधीन ही रहा।

"लार्ड मेयो के काल में भारत और अफगानिस्तान के व्यापारिक संबंध भी अच्छे रहे। पंजाब और कश्मीर भारत से मध्य एशिया के साथ व्यापार का केन्द्र बन गए थे। 1868 के पश्चात् चाय और रंग हिंदूकुश के पार काफी मात्रा में जाने लगे। काबुल में व्यापारिक सुविधाओं और सीमांत पर स्वतंत्र व्यापार के नियम के कारण व्यापार में वृद्धि हुई। अमीर से भी अनुरोध किया गया कि वह यथाशक्ति व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा का प्रबंध करे। नौका पुल व सरायों का भी निर्माण करवाया गया, शिकारपुर से माल बोलन दर्रे, कंधार के रास्ते फारस को भेजा जाने लगा। दूसरा व्यापारिक मार्ग पेशावर से खैबर दर्रे से होकर बुखारा और खीबा तक जाता था। जहाँ रूसी व्यापार से प्रतियोगिता होने लगी। तीसरा मार्ग था चित्रराल व बदख्शाँ का जो पूर्वी तुर्किस्तान तक पहुँचने का निकटतम रास्ता था, भारत से इस बढ़ते हुए व्यापार के कारण ही मेयो रूस का प्रभाव ऑक्सस के दक्षिण में बढ़ते नहीं देना चाहता था। ऑक्सस नदी के मध्य एशिया व चीन के साथ व्यापार करने की प्रमुख नाड़ी थी जिस पर रूसी संरक्षण का दबाव वह नहीं चाहता था। मेयो मित्रवत् अफगानिस्तान को भारत से मध्य एशिया की मंडियों को खोजने व प्रयोग करने के लिए महत्वपूर्ण केन्द्र बनाना चाहता था, इसके लिए वह रूस से गृह सरकार को यह समझौता करने के लिए प्रेरित कर रहा था कि रूस खीबा और बुखारा की स्वतंत्रता तथा भारत खेलात् अफगानिस्तान और यारकंद की स्वतत्रता प्राप्त कर ले। इन क्षेत्रा पर दोनों शक्तियाँ मित्रतापूर्ण प्रभाव रख सकती थीं तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें दंडित भी कर सकती हैं।"

ब्रिटिश सरकार मेयो की विस्तृत व्यापार की नीति पर अंकुश लगाने के पक्ष में थी क्योंकि वह मध्य एशिया में तनावपूर्ण स्थिति नहीं बनने देना चाहती थी। मेयो ने यारकंद में व्यापारिक विस्तार के लिए शेर अली को ऊपरी ऑक्सस नदी के भाग पर अधिकार जमाए रखने को प्रेरित किया।

## 6.17 लार्ड नार्थब्रुक की अफगान नीति (1872—1876)

लार्ड नार्थब्रुक की अफगानिस्तान के प्रति नीति लारेन्स से अधिक प्रगतिशील मानी गई है। लार्ड नार्थब्रुक के वायसराय बनने के दो वर्ष बाद 1874 में डिजरेली प्रधानमंत्री बना और भारत सचिव बना सेलिस्बरी। उसके समय में रूस अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को न तो अंग्रेज सहन कर सकते थे और न शेर अली। शेर अली रूस के विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता पाना चाहता था, इसके पूर्व 1873 ई. तक रूस ने रीवा पर अपना अधिकार कर लिया था। शेर अली ने अपना एक दूत गवर्नर जनरल लॉर्ड नॉर्थब्रुक के पास शिमला भेजा, किन्तु भारत और लंदन के बीच सीधी टेलीग्राफ लाइन के स्थापित हो जाने से गवर्नर जनरल अब अधिक स्वतंत्रता से निर्णय लेने में असमर्थ था। लार्ड नॉर्थबफ्रक ने राज्य सचिव से यह स्वीकृति चाही कि यदि शेर अली अपने समस्त परराष्ट्र संबंधों में हमारे परामर्श से कार्य करे तो उस पर आक्रमण होने पर (यदि हम उचित समझें) हम शस्त्र व सैनिकों से उसकी सहायता करें, किन्तु मंत्रिमंडल ने मेयो द्वारा दिए गए अस्पष्ट आश्वासन से आगे बढ़ने

NOTES

क़ी अनुमति नहीं दी। नार्थब्रुक मेयो के काल में अफगानिस्तान के साथ जो बहुत अच्छे मित्रता के संबंध (व्यक्तिगत रूप) थे उन्हें बनाए रखने में असफल रहा। ' अहस्तक्षेप नीति' की अतिसीमा से शेर अली से संबंध बिगड़ने लगे। उसने अपने बड़े पुत्र को कैद कर (अंग्रेजी राय के विपरीत) अब्दुल्ला जान को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया तथा रूसी एजेंटों से पत्र व्यवहार करने लगा। मेयो ने जब अस्पष्ट आश्वासन दिया था, जिसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह कितने समय टिकता है किन्तु अब अपनी योग्यता से वह अपनी स्थिति दृढ़ करने में सफल हो गया था। अतः उसके साथ सशर्त समझौता अधिक उचित रहता। शेर अली अपने दोनों ओर स्थित दो विशाल शक्तियों में से एक का आश्रय लेना आवश्यक समझता था। वह यह समझ गया था कि ये दोनों यूरोपीय शक्तियाँ मध्य एशिया को आपस में विभाजित करने पर तुली हुई थीं। नार्थब्रुक ने अफगानिस्तान व मध्य एशिया के प्रति उदासीनता की नीति अपनाई।

1874 में इंग्लैड में सत्ता परिवर्तन हुआ। उदार दल के स्थान पर अनुदार दल का प्रधानमंत्री पूर्ण सत्ता में आया और डिजरैली प्रधानमंत्री बना, वह और सेल्सबरी रूस की मध्य एशिया नीति को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। भारत पर रूसी आक्रमण का इतना भय नहीं था, जितना यह विश्वास की काबुल पर प्रभाव डाल रूस अफगानिस्तान को भारत से भिड़ा सकता था अथवा भारत में विद्रोह को भड़काने की चेष्टा कर सकता था। किसी भी परिस्थिति में उत्तरी भारत में सुरक्षा के लिए एक बड़ी अंग्रेजी फौज भेजी जाती। अफगानिस्तान निष्पक्ष नहीं रह सकता था। अतः उसे ब्रिटिश प्रभाव में लाने के लिए नार्थब्रुक से काबुल में ब्रिटिश रेजीडेंट रखवाने का आग्रह किया गया। नार्थब्रुक चाहता था कि अमीर की इच्छा के विपरीत उस पर रेजीडेंट थोपने की अपेक्षा रूस से सीधी बात कर एशिया में रूस व ब्रिटेन के हितों की स्थिति को स्पष्ट करवा लेना चाहिए। अफगानिस्तान की अखंडता तथा अमीर से उसका पत्र–व्यवहार समाप्त करवाने के लिए सेंट पीटर्सबर्ग की जगह काबुल पर अधिक जोर डालना शुरू कर दिया।

गृह सरकार तथा भारत सरकार ( वाइसराय और उसकी कौंसिल) के सोचने का दृष्टिगोचर भिन्न था। भारत सरकार का यह विचार था कि ब्रिटिश सरकार से शेर अली के घनिष्ठ मैत्री संबंधों की याचना को हम इसलिए ठुकराते रहे कि उसकी आशंका निर्मूल है। अब किसी भी बहाने यदि शेर अली की इच्छा के विरुद्ध वहाँ प्रतिनिधिमंडल भेजा गया तथा रेजिडेंट रखने को विवश किया गया तो इसका परिणाम होगा कि शीघ्र ही अफगानिस्तान के साथ अनावश्यक एवं कीमती लड़ाई में हम उलझ जाएँगे। नार्थब्रुक को यह विश्वास था कि उत्तर पूर्व व हेरात से संबंध रखे और उत्तर पूर्व में भी बखान और बदख्शाँ के अमीरों से संबंध रखे।

ब्रिटिश सरकार के साथ नार्थब्रुक की नीते मेल नहीं खा रही थी अतः परस्पर विरोधी नीतियों के कारण नार्थब्रुक ने 1876 में त्यागपत्र दे दिया।

## 6.18 लार्ड लिटन की अफगानिस्तान नीति (1876–1880)

लार्ड नार्थब्रुक के स्थान पर 1876 में लॉर्ड लिटन को भारत का वायसराय बनाकर भेजा गया। उसे पूर्ण अधिकार सहित 'अतिहस्तक्षेप नीति' की पूर्ति के लिए गृह सरकार ने भेजा। अब तक की तटस्थता की नीति एवं अफगान संवेदनाओं के प्रति सम्मान भावना का स्थान उग्र साम्राज्यवादी नीति एवं कूटनीति की आराधना ने ले लिया, इसका उद्देश्य भारत की सुरक्षा का ध्यान नहीं, अपितु एशिया में ग्रेट ब्रिटेन की प्रभुता व सर्वोपरिता स्थापित करना था। लॉर्ड लिटन को शेर अली द्वारा 1873 में रखी शर्तों को स्वीकार करते हुए अमीर के साथ अधिक निश्चित मैत्री संबंध इस शर्त पर स्वीकार करने के लिए कहा गया कि बदले में हैरात में ब्रिटिश एजेंट की स्थापना हो। उनका मानना था कि इससे सीमा पर रूसी नीति का पता चलता रहेगा। कंधार के रास्ते को नियंत्रण में रखने के लिए 1877 में क्लात के खाँ के साथ एक संधि द्वारा क्वेटा पर कब्जा कर लिया गया। भारत सरकार ने मुसलमानों को प्रेरित किया कि वे तुर्की के सुल्तान के पक्ष में गृह सरकार से आवेदन करें, इस प्रकार मुसलमानों में रूस के खिलाफ भावनाओं

को भड़काया गया। लिटन भारत, तुर्की और मध्य एशिया के मुसलमानों को ग्रेट ब्रिटेन की अध्यक्षता प्रदान करना चाहता था और इनके संयुक्त प्रयत्नों द्वारा रूसी साम्राज्यवाद को हर जगह मात दिलवाना चाहता था, इस प्रयत्न में यदि अफगानिस्तान सहयोग न दे तो उसे लिटन दंडित करने को तैयार था, इस तरह लार्ड लिटन के वायसराय बनते ही कुशल अकर्मण्यता की नीति समाप्त होने लगी और अग्रगामी नीति का प्रारम्भ हुआ।

शेर अली ने ब्रिटिश शिष्टमंडल को अफगानिस्तान आने की अनुमति नहीं दी, इसके लिए उसने कारण यह बतलाया कि वह अपनी धर्मांध प्रजा से ब्रिटिश दूत की रक्षा करने में असमर्थ था और यदि वह ब्रिटिश मिशन कबूल करेगा तो वैसी ही अनुमति उसे रूसी शिष्टमंडल के लिए अस्वीकृत करना कठिन हो जाएगा। लॉर्ड लिटन का मानना था कि अमीर जानबूझकर उसकी बात को मानने से इंकार कर रहा है, इसमें उसे अपना और ब्रिटिश सरकार का अपमान महसूस हुआ, इस स्थिति में यह निर्णय किया गया कि शिमला में लिटन और शेर अली के दूत के बीच वार्ता हो, इस सम्मेलन में अपनी शक्ति का प्रभाव डालते हुए अफगानिस्तान को रूस व ब्रिटेन के बीच **'मिट्टी की हँडिया'** व अंग्रेजों की मित्रता को 'लोहे का कवच' बताया गया, इसमें अफगानदूत को यह बताया गया कि " रूस और ब्रिटेन के मध्य अफगानिस्तान की वही स्थिति है जो दो लोहे के बर्तनों के मध्य एक मिट्टी के बर्तन की होती है और यदि शेर अली हमारा मित्र रहता है तो हमारी सैन्य शक्ति उसके चारों ओर एक लोहे के छल्ले के रूप में रहेगी और यदि वह हमारा शत्रु बनता है तो उसे बेंत की भाँति तोड़ दिया जाएगा " इस पर काबुल के दूत सैयद नूर मुहम्मद ने भी समझाने की चेष्टा की कि स्वेच्छाचारी एवं स्वाधीनताप्रिय अफगान विदेशी सत्ता को स्वीकार करने वाले अमीर को एक क्षण भी शासन नहीं करने देंगे, इसी वार्ता के दौरान सैयद नूर मुहम्मद की मृत्यु हो गई और लिटन ने दूसरे दूत (जो मार्ग में था) का इंतजार किए बिना वार्ता–गोष्ठी की समाप्ति कर दी, इस बीच अमीर रूस से अपने संबंध बढ़ा रहा था और अब लिटन के साथ वार्ता समाप्ति के कारण भारत– अफगान संबंधों में शिथिलता व गतिरोध आ गया।

चूँकि अफगानिस्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति हमेशा ही रूस के साथ उसके यूरोपीय संबंधों के आधार पर बनती और बिगड़ती थी, इस समय भी अफगान नीति को यूरोप के घटनाक्रम ने प्रभावित करना शुरू कर दिया। 1876 में सर्बिया और मोंटेनीग्रो ने तुर्की कुशासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया। रूस ने उनकी सहायता के लिए अपनी सेना बाल्कन में भेज दी। डिजरैली ने तुर्की की अखण्डता बनाने के लिए अंध महासागर में अपने जंगी बेड़ों को दर्रे दानियाल पार करने का आदेश दे दिया। अंग्रेजी हस्तक्षेप के कारण रूस कुस्तुन्तुनिया पर आक्रमण तो नहीं कर सका किन्तु तुर्की से सान स्टीफानो की संधि द्वारा काफी बड़े प्रदेश तथा तुर्की पर प्रभाव स्थापित करने में सफल हो गया। ब्रिटेन ने इस संधि को स्वीकार करने से इंकार कर दिया तथा युद्ध की तैयारियाँ शुरू कर दीं। रूस और ब्रिटेन के बीच तनाव कम करने में जर्मनी ने हस्तक्षेप किया और उसके हस्तक्षेप से युद्द की स्थिति टल गई तथा बर्लिन में यूरोप की प्रमुख शक्तियों ने मिलकर सान स्टीफानों की संधि को संशोधित किया। यह संशोधित संधि रूस के प्रतिकूल थी इसमें उसे अपना अपगान महसूस हुआ। रूस ने बर्लिन के इस अपमान का बदला अफगानिस्तान में लेना चाहा। तुर्की में तनाव के समय डिजरैली ने भारत सरकार को पड़ोस में ही टुकड़ियाँ सहायता के लिए प्राप्त की थीं। रूस अब भारत सरकार को पड़ोस में ही युद्ध क्षेत्र में उलझाना चाहता था, जिससे वहाँ से पुनः सहायता प्राप्त न हो सके अथवा भारत की ओर दबाव डालकर वह यूरोप में हारी हुई बाजी का बदला लेना चाहता था। जैसे ही बर्लिन अधिवेशन का श्रीगणेश हुआ वैसे ही ताशकंद में रूसी जनरल स्टोलियटोव काबुल की ओर रवाना हुआ। शेर अली के प्रतिवाद की उपेक्षा कर जुलाई में वह काबुल पहुँच गया। उसने शेर अली के खिलाफ उसके प्रतिद्वंद्वी अब्दुर्रहमान को खड़ा करने की धमकी दी। काबुल में रूसी दूत भेजने का उद्देश्य यूरोप में ब्रिटिश नीति पर प्रत्याघात करना व दबाव डालना था, परन्तु उसका काबुल में जमे रहना बर्लिन संधि के विरुद्ध था। अफगानिस्तान में रूसी दूत की

उपस्थिति से इंग्लैण्ड और रूस के संबंधों में तनाव बढ़ गया अब लिटन ने अंग्रेज प्रतिनिधिमंडल को काबुल की ओर प्रस्थान की सूचना अमीर को भेजी। अंग्रेज दूत मंडल को अली मस्जिद पर रोक दिया गया, इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लिटन द्वारा अमीर को धमकी दी गई कि 20 नवम्बर तक दूत मंडल को स्वीकार नहीं किया तो उसे युद्ध का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अमीर ने 14 नवम्बर को जो पत्र भेजा वह 30 नवम्बर को लिटन को मिला, परन्तु लिटन ने 21 नवंबर को ही अपनी सेनाएँ कूच करवा दी थीं। शेर अली को रूस से सहायता भी प्राप्त न हो सकी क्योंकि यूरोप में शांति स्थापित हो चुकी थी और बर्लिन संधि से प्राप्त लाभों को खोए बिना रूस उस संधि का उल्लंघन कर अंग्रेजों से लड़ाई नहीं करना चाहता था। बर्लिन की संधि शेर अली के पतन का प्रत्यक्ष कारण बन गई, इस तरह दूसरा अफगान युद्ध **ग्लैडस्टान** के शब्दों में **'भूल को दुबारा दुहराते हुए'** शुरू हुआ।

## 6.19 द्वितीय अफगान युद्ध (1878)

द्वितीय अफगान युद्ध की घोषणा 21 नवम्बर, 1878 को की गई। अंग्रेज सेना ने तीन अलग–अलग रास्तों जो कि दर्रे कहलाते थे, से बढ़ना प्रारम्भ किया, इस बीच अमीर ने रूस से सहायता माँगी परन्तु वहाँ से कोई जवाब नहीं आया। इधर अंग्रेजों की सेनाएँ आगे बढ़ती गईं। खैबर दर्रे होकर जाने वाली सेना ने लुंडी, कोटल, ढाका, अली मस्जिद और जलालाबाद पर अधिकार कर लिया। जनरल राबर्ट्स ने ऊपरी कुल्लम पर अपना अधिकार जमा लिया और जनरल स्टेवार्ट ने कंधार पर अंग्रेजी कब्जा कर लिया। शेर अली ने जैसे ही पराजय की खबर सुनी उसकी सेना में भगदड़ मच गई और उसकी ताकत बिखरने लगी। अब उसने याकूब खाँ को मुक्त कर दिया। 21 फरवरी, 1879 को शेर अली की मृत्यु हो गई। उसके मरने के बाद याकूब खाँ को उसका उत्तराधिकारी माना गया, इस तरह द्वितीय अफगान युद्ध में अंग्रेजों को सफलता मिल गई, इसके बाद दोनों के बीच गंडमक की संधि हुई –

### गंडमक की संधि

1879 में गंडमक की संधि के अनुसार अमीर ने स्वीकार किया कि –

- अफगान सरकार ने यह मान लिया कि उसके परराष्ट्र संबंध ब्रिटिश सरकार की इच्छा व परामर्श के अनुरूप होंगे।
- काबुल में ब्रिटिश रेजीडेंट व अन्य सीमांत क्षेत्रों में स्थायी ब्रिटिश एजेंट रहेंगे।
- बोलन दर्रे के निकटवर्ती जिले विशीन सिवी और खुर्रम दर्रा अंग्रेजों को भेंट कर दिए जाएँगे।
- अफगानिस्तान व भारत में नजदीकी संपर्क के लिए अंग्रेजों को खुर्रम को काबुल तक टेलीग्राफ लाइन की स्थापना का अधिकार रहेगा।
- इन सबके बदले में उसे 6 लाख रुपये वार्षिक तथा आक्रमण के समय यदि उचित समझा गया तो धन, शास्त्र व सैनिक सहायता देने का वचन अंग्रेजों ने दिया।

संधि के अनुसार जुलाई के अंत में ब्रिटिश दूत कावेगनरी काबुल पहुँचा। चूँकि अफगान जनता ऐसे शासक को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी जो पूरी तरह विदेशी सत्ता का खिलौना हो। अतः 3 सितंबर को अफगानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया और रेजीडेंसी पर आक्रमण कर राजदूत व उसके अंगरक्षकों को मौत के घाट उतार दिया। ब्रिटिश सेना फिर सक्रिय हो गई। हत्याकांड में याकूब का हाथ था अथवा नहीं, इसका निर्णय कठिन है। उसे शासन के अयोग्य समझा गया और भारत भेज दिया गया, इस स्थिति में अंग्रेजों ने शेर अली के भतीजे अब्दुर्रहमान के साथ समझौते की बातचीत प्रारम्भ की। वह इस समय समरकंद में रूसी संरक्षण में शरणार्थी था और अब शायद रूसियों ने उसे परेशानी खड़ी करने के लिए भेजा था। समझौते की बातचीत के दौरान ही ब्रिटेन में अनुदार सरकार का पतन हो गया तथा ग्लैडस्टन की सरकार सत्तारूढ़ हो गई। लिटन की जगह रिपन को नीति परिवर्तन के लिए भेजा गया।

NOTES

## 6.20 लार्ड रिपन की अफगान नीति (1880–1884)

ब्रिटेन में सत्ता परिवर्तन के साथ ही भारत के वायसराय के रूप में लार्ड रिपन को भेजा गया। रिपन ने भारत में आकर लिटन के खिलाफ सबूत ढूँढ़ने का कार्य किया परन्तु अन्ततः उसे अफगानिस्तान के संबंध में लिटन की नीति पर ही चलना पड़ा। उसने अब्दुर्रहमान के साथ बातचीत वहीं से प्रारम्भ की जहाँ तक लिटन उसे छोड़ गया था, इस स्थिति में रिपन के समक्ष दो विकल्प थे, एक तो वह अफगानिस्तान से अंग्रेजी सेना को हटा ले और दूसरा पूर्णतः अफगानिस्तान पर अधिकार कर ले। उसने वहाँ से सेना हटाकर एक अंग्रेजी रेजीडेन्ट रखने और अब्दुर्रहमान से मित्रतापूर्ण संबंध रखने की नीति का अनुसरण किया। स्थिति का अध्ययन कर रिपन के अब्दुर्रहमान को काबुल का अमीर स्वीकार कर लिया। गंडमक की संधि द्वारा दिए हुए जिले अंग्रेजों के हाथ में ही रहे। नए अमीर को वार्षिक रक़म देना तय हुआ व विदेशी आक्रमण से सुरक्षा का भी वचन दिया गया। ब्रिटिश रेजिडेंट के अफगानिस्तान में रखने की कोई चर्चा नहीं की गई।

"इंग्लैड व रूस दोनों की अफगान नीति अग्रगामी साम्राज्यवादी नीति थी। प्रारंभ में रूस के विस्तार को फारस व अफगानिस्तान के सहयोग से रोकने की चेष्टा की गई थी, किन्तु फारस संकट में (रूसी आक्रमण ) इंग्लैड से सहायता न मिलने पर रूष्ट हो गया और जार का अधीनस्थ सहयोगी बन गया। अब रूस व भारत सरकार की सीमांत चौकियों में केवल अफगानिस्तान रह गया। अंग्रेजों के लिए इसकी अखंडता भारतीय साम्राज्य की अखंडता से संबंधित लगी, इसके अमीर से मैत्रीपूर्ण संबंधों को एकमत हो सबने स्वीकार किया, किन्तु यह संबंध **अहस्तक्षेप नीति** को अथवा विदेश नीति को नियंत्रण में रख 'हस्तक्षेप नीति' के अनुसार हो, यह मतभेद का कारण बन गया। रूस द्वारा भारत पर वास्तविक हमले के बारे में तो राजनीतिज्ञों को संदेह था, किन्तु इसमें संदेह नहीं था कि काबुल का मित्र बनकर वह अंग्रेजों पर दबाव डालकर सौदेबाजी कर सकता था। उनकी स्थिति का नाजायज फायदा उठाकर वह यूरोप में अंग्रेजों से सहूलियतें भी ऐंठ सकता था, इस प्रकार अफगानिस्तान यूरोपीय राजनैतिक खेल में शतरंज का प्यादा बन गया। आकलैंड ने एक अधीनस्थ अमीर को अंग्रेजों की संगीनों की सुरक्षा में अफगानिस्तान में बैठाना चाहा वहाँ अपना प्यादा नहीं बैठा सकते थे। उन्हें अफगानों द्वारा स्वीकृत शासक को ही मान्यता देनी पड़ी। लिटन भारतीय साम्राज्य को वैज्ञानिक सीमांत देकर तथा अफगान युद्ध अफगानों की स्वाधीनताप्रिय प्रवृत्ति को न दबा सका। अतः विदेशी प्रभाव को समाप्त करने के लिए अफगानिस्तान के अमीर की विदेशी नीति पर ही अंकुश लगाया गया और आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति अपनाई गई, इस प्रकार पूर्व की दोनों नीतियों का मिश्रण इस काल में देखा जा सकता है। लिटन की अग्रगामी नीति का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि अंग्रेजों को अब अफगानिस्तान में मजबूत स्थिति प्राप्त हुई और रूस का 'प्रभावित क्षेत्र' बनने का उसका भय कम हो गया।"

"रिपन की नीति धीरे–धीरे अफगानिस्तान से बाहर आने की थी। रूस के कार्यों के लिए अमीर से कुछ न कुछ न कहकर वह गृह सरकार द्वारा सीधा पीटर्सबर्ग से समझौता करने के पक्ष में था। 1883 में अमीर की वार्षिक अनुपूर्ति 12 लाख रुपये कर दी गई जिससे वह हैरात की सुरक्षा का उचित प्रबंध कर सके। रूस के साथ समझौते के प्रयत्न विशेष सफल नहीं होते थे या तो वह घोषण कर पुनः नीति बदल देता अथवा अंग्रेजों का क्वेटा पर अधिकार के कारण अफगानिस्तान को निष्पक्ष मानने से इनकार कर देता और तुर्किस्तान में अपनी स्थिति रक्षात्मक समझता। रूस जब भी अपनी दूरवर्ती चौकियों को आगे ठेलता तो इन आक्रमणकारी कार्यों की व्याख्या यह कहकर की जाती कि वे स्थानीय अफसरों की अनाधिकार चेष्टाएँ हैं। यह स्थानीय आवश्यकताओं के कारण किए गए है। रूस का मध्य एशिया में बढ़ता हुआ प्रभाव व अंग्रेजों का भय, भारतीयों से छिपा न था और इसके आधार पर शिक्षित व कर्मचारी मध्य वर्ग अपने शासकों से सौदेबाजी व शिकायतें करने लगा। "

NOTES

## 6.21 बर्मा में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद

### आंग्ल–बर्मा संबंधों की पृष्ठभूमि

भारत में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता का प्रारम्भ जिस समय हुआ लगभग उसी समय बर्मा में अलोम्प्रा की शक्ति का उदय भी हुआ। बर्मा का राज्य भारत के उत्तर पूर्व में स्थित था। भारत की पूर्वी सीमा पर चीनी तिब्बती मिश्रित एक जाति अलोम्प्रा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर रही थी। अलोम्प्रा ने इरावदी नदी का मुहाना, पेगू, तनासरम और अराकान का प्रदेश जीतकर विशाल राज्य की स्थापना की, इसके बाद उसने अपने राज्य का विस्तार करते हुए असम और मणिपुर के राज्यों को भी जीत लिया जिससे बर्मा राज्य की सीमाएँ भारत के कंपनी शासित राज्य की सीमाओं से टकराने लगीं। अंग्रेजों के लिए बंगाल की सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना खतरे की घंटी थी। यहीं से इनके संबंधों का प्रारम्भ हुआ। यूँ तो अंग्रेजों के बर्मा से व्यापारिक संबंध बहुत पहले से थे परन्तु वे बहुत उथले थे। जबकि बर्मा ने अराकान पर अधिकार कर लिया और दोनों के राज्यों की सीमायें आपस में मिलने लगीं तो उनके संबंधों में तनाव बढ़ने लगा, इस स्थिति में अंग्रेजों ने बर्मा से राजनैतिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों ने 1797 से 1811 के बीच कई बार दूत भेजे परन्तु इसका कोई लाभ नहीं हुआ और दोनों के बीच तनाव बढ़ता गया।

## 6.22 प्रथम आंग्ल–बर्मा युद्ध

### युद्ध की पृष्ठभूमि अथवा कारण

आंग्ल–बर्मा युद्ध की परिस्थितियाँ 1784 के बाद उस समय से बनने लगीं थीं जबकि बर्मा ने आराकान के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। लार्ड हैस्टिंग्स के समय में भारत के सीमावर्ती राजा सहायक संधि से बंधे थे अतः वे कुछ कर न सके। उसके समय में जब अराकान के प्रदेश के लोग जब भागकर भारत में कंपनी की सीमा में आये तो बर्मा के सैनिकों ने उन्हें वापस माँगा, परन्तु हेस्टिंग्स से उन्हें देने से इंकार कर दिया, इस घटना से अंग्रेजों और बर्मा के संबंधों में तनाव और अधिक बढ़ गया, इसके बाद बर्मा ने असम पर भी अधिकार कर लिया तो कंपनी के साथ उसके सीमा संबंधी झगड़े और बढ़ने लगे।

प्रथम युद्ध का तात्कालिक कारण था शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप पर अधिकार का प्रश्न। लार्ड एम्हर्स्ट के समय में युद्ध की स्थितियाँ निर्मित होने लगीं थीं, इसके पीछे बर्मा के राजदरबार में सत्ता परिवर्तन भी माना जाता है। 1819 में बर्मा में बागीदाउ गद्दी पर बैठा। उसके सत्तासीन होने पर बर्मा में विस्तारवादी प्रवृत्तियाँ और अधिक बढने लगी। उसका भाई एवं दरबार के अन्य लोग पूर्वोत्तर भारत की ओर साम्राज्य का विस्तार चाहते थे। उनका सैनिक कमांडर महाबुन्देला तो असम की आसान जीत से भारत की जीत को भी आसान समझने लगा था। सम्पूर्ण बर्मा में युद्ध की माँग की जा रही थी। क्रेफर्ड ने लिखा है कि "बर्मा में राज्य से लेकर भिखारी तक अंग्रेजों से युद्ध की माँग कर रहा था।" दूसरी ओर अंग्रेज भी अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण बर्मा के उपजाऊ क्षेत्र को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए उत्सुक थे। दोनों ओर से युद्ध की माँग थी, इसलिए युद्ध हो इसके लिए छोटी से छोटी बातों को तूल दिया और युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित की गई।

1820 से 1823 के बीच असम की सीमा पर अंग्रेजों के समर्थन से घुसपैठ हो रही थी, इसी समय चटगाँव की ओर से भी घुसपैठ का प्रयास हुआ। यहाँ एक घटना घटी, कुछ अंग्रेज चटगाँव की सीमा पर हाथियों का शिकार कर रहे थे, बर्मियों ने उनको पकड़ लिया, इसके बाद एक अंग्रेजी नाव जो कूर के नाले से निकल रही थी बर्मियों ने चुंगी माँग ली। इन घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो इसके लिए अंग्रेजों ने टेक नॉफ के दर्रे और शाहपुरी के एक छोटे से द्वीप पर अधिकार कर लिया और वहाँ अपनी चौकियाँ स्थापित कर लीं, इसकी प्रतिक्रियास्वरूप बर्मियों

ने अंग्रेजों से यह द्वीप खाली करने को कहा परन्तु जब अंग्रेजों ने इन्कार कर दिया तो बर्मियों ने शाहपुरी के द्वीप पर आक्रमण कर दिया, इस तरह शाहपुरी पर बर्मियों का अधिकार हो गया परन्तु उन्होंने उसे इस धमकी के साथ कि यदि अंग्रेजों ने पुनः उस पर अधिकार करने की कोशिश की तो वे ढाका और मुर्शिदाबाद पर अधिकार कर लेंगे, उसे खाली छोड़ दिया।



इसके बाद एक घटना और घटी जो युद्ध के लिए महत्वपूर्ण कारण बनी। कछार का शासक गोविन्दचन्द्र जो पहले बंगाल आया था अंग्रेजों से सहायता माँगने, परन्तु जब अंग्रेजों ने उसे सहायता नहीं दी तो उसने बर्मियों से सहायता ली और पुनः कछार का शासक बन गया। अंग्रेज गवर्नर जनरल एम्हर्स्ट ने कछार के राजा का बर्मा के संरक्षण में जाना कंपनी की सीमा के लिए संकट माना। कंपनी की सीमा को सुरक्षित करने के लिए एम्हर्स्ट ने कछार के शासक को अपने अधिकार में लिया और गोविन्दचन्द्र ने भी अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर लिया, इसी तरह जैन्तिया के शासक ने भी अंग्रेजी संरक्षण को स्वीकार कर लिया तो बर्मा के राजा ने इसका बहुत बुरा माना और एक सेना कछार के लिए भेज दी, इस सेना का युद्ध अंग्रेजी सेना से हुआ।

इसी समय शाहपुरी के द्वीप पर पुनः झगड़ा हो गया। बर्मियों ने इस द्वीप पर आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लिया, इस बीच एम्हर्स्ट ने युद्ध की पूरी तैयारियाँ कर ली थीं और उसने 24 फरवरी, 1824 को युद्ध की घोषणा कर दी।

## युद्ध का प्रारम्भ और प्रमुख घटनाएँ

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ असम, अराकान और रंगून के मोर्चे पर हुईं। बर्मा की भौगोलिक परिस्थितियाँ भी अंग्रेजों को कठिनाइयाँ पैदा करने वाली थीं जबकि वे बर्मियों को सहायक थीं। अंग्रेजों ने दो ओर से अपनी सेनाएँ युद्ध के लिए भेजीं। एक सेना स्थल मार्ग से भेजी गई जो उत्तर पूर्व से बर्मा की ओर आगे बढ़ी। दूसरी सेना समुद्री मार्ग से रंगून की ओर बढ़ी, इसका नेतृत्व मेजर जनरल आर्चीबाल्ड कैम्पबेल कर रहा था। अराकान में रामू नामक स्थान पर अंग्रेज से सेना और महाबुन्देला के बीच भीषण युद्ध हुआ। यहाँ बर्मा सेनापति ने अंग्रेजी सेना को हरा दिया दूसरी ओर अंग्रेजी सेना ने मई में रंगून को जीत लिया, इसके बाद वर्षा प्रारम्भ हो गई और अंग्रेजों का आगे का अभियान रुक गया और उनके सैनिकों में बीमारियाँ फैलने लगीं। वर्षा के बाद दिसम्बर में बर्मा के राजा ने महाबुन्देला को दक्षिण में अपनी सहायता के लिए बुलाया, परन्तु उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। 1825 में अंग्रेजों ने असम पर अधिकार कर लिया और दूसरी ओर कैम्पबेल ने रंगून से आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। बर्मा के सेनापति महाबुन्देला ने बहुत समय तक उन्हें रोके रखा, परन्तु वह अप्रैल के प्रारम्भ में युद्ध में मारा गया और बर्मा की सेना भाग खड़ी हुई। अंग्रेज सेनापति ने दक्षिणी बर्मा की राजधानी प्राम पर कब्जा कर लिया, इसके बाद कुछ समय तक युद्ध चलता रहा परन्तु संधि वार्ता भी चलती रही और 24 फरवरी, 1826 को यान्डूब की संधि हो गई।

**यान्डूब की संधि** – इस संधि में निम्न निर्णय लिए गए–

- इस संधि के द्वारा बर्मा ने तनासरम, अराकान, तवाय और येह तथा मर्गी अंग्रेजों को दे दिए।
- इस संधि के द्वारा मणिपुर के राज्य को स्वतंत्र मान लिया गया।
- बर्मा ने कछार, असम और जैन्तिया के राज्यों में कोई भी हस्तक्षेप न करने का वादा किया।
- दोनों राज्यों ने एक दूसरे के राज्य में राजदूत रखने की स्वीकृति दी।
- बर्मा ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में एक करोड़ रुपया देने का वचन भी दिया।
- इसके अलावा बर्मा और अंग्रेजों के बीच एक व्यापारिक संधि होने पर भी सहमति हुई।

इस युद्ध का वास्तविक लाभ अंग्रेजों को हुआ। बर्मा पर पूर्ण अधिकार करने का प्रारम्भ था यह युद्ध। क्योंकि इसके बाद बर्मा में अंग्रेजों को पैर जमाने का अवसर मिल गया और उत्तर पूर्वी क्षेत्र में उन्हें बहुत सी भूमि प्राप्त हो गई जिससे उन्हें बाद में आगे बढने में लाभ हुआ।

## 6.23 आंग्ल–बर्मा का द्वितीय युद्ध

### युद्ध के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ

NOTES

प्रथम युद्ध के बाद हुई यान्डूब की संधि दोनों ही पक्षों को संतुष्ट नहीं कर सकी थी, इस संधि के बाद कुछ अंग्रेज व्यापारी बर्मा के दक्षिणी तट पर रहने लगे और व्यापारिक संधि के अनुसार व्यापार करने लगे। यहाँ से व्यापार के माध्यम से इन्होंने बहुत पैसा कमाया। ये व्यापारी यहाँ से व्यापार करते थे और आराम से रहते थे, परन्तु ये अपनी सरकार से समय–समय पर यह शिकायत करते थे कि यहाँ उनके साथ बर्मा के लोग अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं। इधर बर्मा सरकार भी इनके व्यवहार से तथा इनके द्वारा की जाने वाली चुंगी की चोरी की शिकायतों से परेशान रहती थी, इसका कारण यह था कि 1826 में हुई व्यापारिक संधि की जो शर्तें थीं वे विवादास्पद थीं और दोनों पक्षों के लोग इनकी व्याख्या अपने हितों के अनुकूल करते थे, इस स्थिति में अंग्रेज और बर्मा सरकार के संबंध बिगड़ने लगे, इसके अलावा यान्डूब की संधि के बाद बर्मा का राजा बदल गया। नया राजा थारावादी बना उसने यान्डूब की संधि को मानने से इंकार कर दिया और कहा कि " अंग्रेजों ने मेरे बड़े भाई को हराया था मुझे नहीं। "

इन व्यापारिक झगड़ों के अलावा एक और समस्या थी कि 1826 की संधि के अनुसार एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट बर्मा में रहने लगा था। बर्मा के दरबार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। बर्मा की सरकार उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करती थी, इसके कारण 1840 में उसे वापस बुला लिया गया था। अंग्रेजों के प्रति घृणा का माहौल सम्पूर्ण बर्मा में व्याप्त था और वे उनकी कोई परवाह नहीं करते थे, इसी बीच बर्मा सरकार ने दो अंग्रेज अधिकारियों पर कुछ आरोप लगाए और उन पर बहुत अधिक आर्थिक दण्ड लगाए। इन लोगों ने लार्ड डलहौजी से इसकी शिकायत की। डलहौजी के लिए तो यह शिकायत युद्ध के लिए बहाना थी। वास्तव में युद्ध का कारण यह घटनाएँ नहीं थीं। ये तो बहाना मात्र थीं। युद्ध का वास्तविक कारण तो अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति थी जिसके तहत बर्मा को अपने अधीन करना उनका लक्ष्य था, इसके लिए उन्हें कोई भी बहाना कार्यकारी हो सकता था।

लार्ड डलहौजी ने लैम्बर्ट को रंगून सरकार के साथ बात करने, व्यापारियों की शिकायतों को दूर करने तथा क्षतिपूर्ति की माँग करने उद्देश्य से भेजा। वह नवम्बर, 1851 में रंगून पहुंच गया। वहाँ उसने रंगून के गवर्नर पर अत्याचार करने का आरोप लगाया, इसकी शिकायत करने के लिए उसने एक पत्र बर्मा की सरकार को लिखा और साथ में एक पत्र रंगून के गवर्नर को भी लिखा। उसने दोनों पत्रों के उत्तर तीन से पाँच सप्ताह के बीच में माँगे। बर्मा के राजा ने अंग्रेजों की इन गतिविधियों से आशंकित होकर रंगून का गवर्नर बदल दिया। जब नए गवर्नर से मिलने के लिए अंग्रेज अधिकारी गए तो उनकी मुलाकात गवर्नर से नहीं हो सकी। अंग्रेज अधिकारी ने इसे अपना अपमान समझा और बर्मा की सरकार और गवर्नर से माफी माँगने की माँग की। क्षमा माँगने के अलावा उसने क्षतिपूर्ति की राशि की तुरन्त अदायगी की भी माँग की। कुछ समय बाद उसने क्षतिपूर्ति की राशि बढ़ा दी और बर्मा के एक शाही जहाज पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया, इससे दोनों के बीच युद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। अब अंग्रेजों ने बर्मा सरकार से रंगून के गवर्नर को हटाने, क्षतिपूर्ति की राशि के रूप में 1,00,000 पौण्ड देने और बर्मा के राजा द्वारा क्षमा माँगने की शर्तें रखीं और इनके लिए अप्रैल 1852 तक समय दिया।

लार्ड डलहौजी ने इस बीच में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। बर्मा सरकार ने तय समय सीमा में जब जवाब नहीं भेजा तो डलहौजी ने सेनापति गोडबिन के नेतृत्व में एक विशाल सेना रंगून के लिए भेजी, इस तरह द्वितीय बर्मा युद्ध प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेज सेनापति ने रंगून, प्रोम और पेगू पर अधिकार कर लिया, इसके बाद सम्पूर्ण दक्षिणी बर्मा पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया, इसके बाद डलहौजी ने 20 दिसम्बर, 1852 को एक घोषणा द्वारा पेगू को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। पेगू को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का

अर्थ था कि सम्पूर्ण निचला बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल हो गया। यह विलय बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। पेगू के विलय का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब बंगाल की खाड़ी का सम्पूर्ण तट अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन हो गया। अब अंग्रेज मलय प्रायद्वीप से कन्याकुमारी तक के उपजाऊ क्षेत्र के स्वामी हो गए थे, इससे एक फायदा यह भी हुआ कि समुद्री रास्ते से अमेरिका और फ्रांस के बर्मा तक आने का भय समाप्त हो गया, इसके अलावा बर्मा के चावल और चाय के क्षेत्रों पर भी अंग्रेजों का एकछत्र राज्य हो गया।

इस तरह डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति के तहत बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। यह युद्ध एकदम अनुचित था, परन्तु डलहौजी के लिए विस्तार ही महत्वपूर्ण था। उसके लिए उचित अनुचित का कोई प्रश्न नहीं था।

## 6.24 आंग्ल– बर्मा का तृतीय युद्ध

द्वितीय युद्ध के बाद बर्मा का शासक मिण्डन बना, इसके समय में यद्यपि युद्ध नहीं हुआ परन्तु युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित होने लगी थीं। मिण्डन ने अपने समय में अंग्रेजों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध बनाए रखने की भरसक कोशिश की थी। उसने बर्मा शासकों द्वारा अपनायी गई पृथकतावादी नीति को छोड़ दिया और यूरोपीय लोगों को अपने दरबार में रखना प्रारम्भ किया। उसने यूरोप के देशों में शिष्टमण्डल भेजे। उसने अपने दरबार में अंग्रेजी रेजीडेन्सी को पुनः प्रारम्भ किया और 1857 में इसका दर्जा दूसरे स्तर का कर दिया गया, इस प्रकार हम देखते हैं कि मिण्डन ने अंग्रेजों से भरसक अच्छे संबंध बनाए रखने की कोशिश की परन्तु कुछ बातों को लेकर उनके संबंधों में तनाव आने लगा था।

### युद्ध के कारण

**1. व्यापारिक समस्या** – द्वितीय युद्ध के बाद पेगू पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था और बर्मा में प्रायः शान्ति स्थापित हो गई थी, परन्तु अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए बर्मा से कई संधियाँ कीं। इनमें 1862 और 1867 की व्यापारिक संधियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन संधियों के अनुसार उत्तरी बर्मा में व्यापार करने की अनुमति अंग्रेजों ने ले ली, इस संधि के अनुसार वे बर्मा से होकर चीन से व्यापार करने लगे। यहाँ व्यापार का प्रमुख केन्द्र था युन्नन, इस केन्द्र तक इरावदी नदी के द्वारा आराम से पहुँचा जा सकता था और अंग्रेजों के जहाज 1868 के बाद रंगून और मॉडले होते हुए भाभा तक जाने लगे थे। भाभा में चीनी विद्रोहियों ने एक अंग्रेज अधिकारी की हत्या कर दी तो बर्मा के शासक मिडण्न ने वहाँ के गवर्नर को हटा दिया, इसके अलावा पान्थेय जाति के लोग वहाँ विद्रोह किया करते थे। इन घटनाओं से यहाँ अंग्रेजों के व्यापार को काफी क्षति पहुँची। इन व्यापारिक घटनाओं से बर्मा और अंग्रेजों के संबंध बिगड़ने लगे।

**2. दासों का प्रश्न** – अंग्रेजों और बर्मा के बीच संबंध बिगड़ने में करेन्नी में दासों के व्यापार का प्रश्न भी एक कारण बना। करेन्नी के लोग छापामार तरीकों से बर्मा के लोगों को पकड़ लिया करते थे और उन्हें दास बनाकर पशुओं को खरीदने के लिए उनका विनिमय करते थे। मिण्डन ने उन्हें दण्ड देने के लिए उन पर आक्रमण किया तो अंग्रेजों ने वहाँ हस्तक्षेप किया। फलतः दोनों के बीच संधि हुई और करेन्नी के क्षेत्र को स्वतंत्र मान लिया गया, इससे मिण्डन अंग्रेजों से अप्रसन्न हो गया और उनके संबंध बिगड़ने लगे।

**3. राजकीय शिष्टाचार का प्रश्न** – अंग्रेजों और बर्मा की सरकार में संबंध खराब होने का एक कारण राजकीय शिष्टाचार से संबंधित था। बर्मा के दरबार की परंपरा थी कि जो भी वहाँ जाता उसे जूते उतारने पड़ते थे और सम्राट के सामने घुटने के बल झुकना पड़ता था। अंग्रेजों को यह प्रथा सहन नहीं थी इस कारण वायसराय ने 1876 में बर्मा की सरकार को कहा कि वह इस प्रथा को समाप्त कर दे और अब भविष्य में ब्रिटिश राजदूत बर्मा के दरबार में न तो घुटनों के बल झुकेगा और न अपने जूते उतारेगा। बर्मा के राजा मिण्डन ने इस माँग

को स्वीकार नहीं किया, इसके बाद कोई भी ब्रिटिश राजदूत बर्मा के दरबार में नहीं गया। वहाँ अंग्रेजी प्रभाव कम होने लगा और दोनों के बीच संबंध में तनाव होने लगा।

**4. नई संधि के प्रति रुख और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया** – मिण्डन की मृत्यु के बाद बर्मा का राजा बना थीबा। वह अत्यन्त क्रूर शासक था। उसके समय में अंग्रेज और बर्मा के संबंध तेजी से बिगड़ने लगे और अन्ततः बर्मा का विलय अंग्रेजी साम्राज्य में हो गया। थीबा के समय में अंग्रेज राजदूत के साथ अभद्रता का व्यवहार किया गया और उसका अपमान किया गया। 1882 ई. में अंग्रेजों ने नए राजा थीबा के साथ एक संधि करने की कोशिश की परन्तु, थीबा ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया, इस कारण बर्मा में बसे अंग्रेजों ने भारत सरकार से सम्पूर्ण बर्मा के विलय की माँग की। अंग्रेजों ने व्यापारिक हितों के लिए ऐसा करने को कहा।

**5. फ्रांस का प्रभाव न बढ़ने देना** – बर्मा के राजा थीबा ने फ्रांस से संबंध बढ़ाने का प्रयास किया था। अंग्रेज इस बात को कभी सहन नहीं कर सकते थे कि उसकी सीमा पर फ्रांस का प्रभाव हो। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति और व्यापारिक हितों ने बर्मा के साथ अन्तिम युद्ध की सारी परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं। बर्मा विलय का सबसे महत्वपूर्ण कारण दक्षिण–पूर्वी एशिया में आंग्ल फ्रांसीसी प्रतिस्पर्द्धा थी। बर्मा पर फ्रांस के प्रभाव की शंका मात्र ने अंग्रेजों की नीति को अत्यन्त उग्र बना दिया।

**6. बर्मा–बंबई व्यापारिक निगम विवाद**– बर्मा के तृतीय युद्ध का वास्तविक कारण बर्मा–बंबई व्यापारिक निगम विवाद के कारण उपस्थित हुआ। लार्ड डफरिन को इस विवाद ने बर्मा में हस्तक्षेप के लिए उकसाया, इस निगम को बर्मा के जंगलों में लकड़ी का ठेका दिया गया था। निगम और बर्मा सरकार के बीच ऋण की राशि को लेकर विवाद हुआ और मामला न्यायालय तक पहुँच तो निगम पर यह आरोप लगाया गया कि उसने बर्मा सरकार को कर का 10 लाख रुपए नहीं दिया है या उसका गबन किया है। उस पर यह आरोप सिद्ध भी हो गया और निगम पर जुर्माना लगाया गया जो चार बराबर किस्तों में देना था। निगम ने अपनी रक्षा के लिए और जुर्माना न देने के लिए भारत सरकार से अपील की। भारत सरकार के अंग्रेज कमिश्नर ने बर्मा की सरकार से जुर्माने की राशि माफ करने और सारा मामला भारत के गवर्नर जनरल के किसी प्रतिनिधि को सौंपने को कहा। बर्मा सरकार ने इसे मानने से इंकार कर दिया।

इसके बाद भारत के वायसराय ने बर्मा की सरकार के सामने निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत कीं –

- बर्मा दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में बुलाए जो कि परंपरागत रस्में नहीं निभाएगा। उसके द्वारा निगम का विवाद सुलझाया जाए।
- जब तक अंग्रेज प्रतिनिधि वहाँ न पहुँचे तब तक निगम के खिलाफ कोई कार्यवाही न की जाए।
- बर्मा विदेशों से अपने संबंध भारत के वायसराय की सलाह से स्थापित करे।
- अंग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पूर्ण छूट दी जाए।

लार्ड डफरिन ने माँगें भेजने के साथ ही युद्ध की तैयारियाँ कर ली थीं। जैसे ही वहाँ से जवाब आया उसने अपनी सेना को बर्मा की राजधानी मॉडले की ओर रवाना कर दिया। उधर थीबा ने भी युद्ध की घोषणा कर दी।

**युद्ध की घटनाएँ** – तृतीय युद्ध अधिक समय तक नहीं चला। लगभग 15 दिन में ही युद्ध का निर्णय हो गया। अंग्रेजी सेना अचानक ही मॉडले के पास पहुँच गई। बर्मा का राजा ब्रिटिश सेना को देखकर आश्चर्यचकित हो गया। अंग्रेजों ने आसानी से राजधानी मॉडले पर अधिकार कर लिया और 28 नवम्बर को राजा थीवा को कैद कर लिया गया। उसने बिना शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, इसके बाद जनवरी 1886 में उत्तरी बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। बर्मा पर अधिकार की घोषणा जितनी सरलता से की गई थी उतनी ही कठिनाई से उस पर अधिकार किया जा सका।

**तृतीय युद्ध के परिणाम** – तृतीय युद्ध के निम्नलिखित परिणाम हुए –

- ➢ बर्मा के अधिग्रहण के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई।
- ➢ अंग्रेजों को व्यापारिक विकास के लिए एशिया में एक नए क्षेत्र की प्राप्ति हुई।
- ➢ अब बर्मा में फ्रांसीसियों के प्रभाव के बढ़ने की संभावना समाप्त हो गई।

**बोध प्रश्न**

1. लार्ड रिपन की अफगान नीति का वर्णन कीजिए?

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

2. द्वितीय अफगान युद्ध का वर्णन कीजिए?

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

.......................................................................................................................

## 6.25 दक्षिण–पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद का विस्तार

### हिन्देशिया में यूरोपीय उपनिवेशों की स्थापना

हिन्देशिया (इंडोनेशिया) में तीन हजार के लगभग द्वीप हैं और यह दक्षिण–पूर्वी एशिया का सबसे बड़ा देश है। पहले इस द्वीप समूह को ईस्ट इण्डीज कहा जाता था अब इसे हिन्देशिया कहा जाता है, इसके अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, तिमोर, बोर्निया, मल्लका, न्यूगिनी और पापुआ आदि द्वीप हैं।

**(1) पुर्तगालियों द्वारा उपनिवेश स्थापना** – हिन्देशिया में सबसे पहले पुर्तगालियों का आगमन हुआ। सोलहवीं शताब्दी में जब पुर्तगाली लोग सबसे पहले यहाँ आए उस समय यहाँ की आर्थिक और राजनैतिक दशा बहुत खराब थी। ये लोग यहाँ व्यापार करने के उद्देश्य से आए थे। इनके पहले इस्लाम धर्म यहाँ प्रवेश कर चुका था और बहुत सारे द्वीप इस्लाम स्वीकार करने के बावजूद आपस में लड़ा करते थे। पुर्तगालियों ने हिन्देशिया की राजनीतिक स्थिति को देखकर वहाँ अपनी राजनैतिक शक्ति प्रतिष्ठापित करने की सोची, इसके लिए उन्होंने सबसे पहले 1511 में मलक्का में एक उपनिवेश स्थापित करने के लिए उस पर अधिकार कर लिया। मलक्का व्यापारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी था। भारत से हिन्देशिया के अन्य द्वीपों में आने–जाने के लिए जहाजों को मलक्का के जलडमरूमध्य से होकर गुजरना पड़ता था। अतः पुर्तगालियों ने वहाँ एक दुर्ग की स्थापना की और अपने व्यापार का केन्द्र मलक्का को बना लिया। मलक्का पर प्रभुत्व कायम करने के बाद पुर्तगालियों ने कुछ और द्वीपों पर भी अपना अधिकार किया, इस तरह पुर्तगालियों ने हिन्देशिया के व्यापार को अपने अधिकार में करके आर्थिक लाभ कमाया।

**(2) डचों का आगमन और उपनिवेश स्थापना** – पुर्तगालियों के बाद हिन्देशिया में दूसरी यूरोपीय शक्ति के रूप में डचों का आगमन हुआ। हिन्देशिया से मसालों का व्यापार अत्यन्त लाभदायक था। यही कारण है कि यूरोप के देश इसकी ओर आकर्षित होते गए। डच लोग पुर्तगालियों के लगभग एक शताब्दी बाद आए। 1605 ई. में अम्बोयना द्वीप पर सबसे पहले डचों ने अपना अधिकार जमाया। डचों के आगमन से पुर्तगालियों का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त होने की आशंका थी अतः उनके बीच संघर्ष प्रारंभ हो गया, इस संघर्ष का प्रारंभ 1641 ई. में डचों द्वारा मलक्का पर आक्रमण और अधिकार करने के प्रयास से होता है, इस आक्रमण के

बाद डचों का मलक्का पर अधिकार हो गया, इस सफलता से डचों का साहस बढ़ गया और वे अब राजनीतिक प्रभुत्व के लिए सम्पूर्ण हिन्देशिया की ओर देखने लगे।

हॉलैण्ड में एक डच ईस्ट इंडिया की स्थापना से डचों के राजनीतिक प्रभुत्व का प्रारंभ होता है, इस कंपनी ने जावा के एक द्वीप को अपना केन्द्र बनाकर अपने प्रभुत्व को बढ़ाने का कार्य प्रारंभ किया। यहीं से हिन्देशिया के विभिन्न द्वीपों पर डचों के राजनीतिक उत्कर्ष की कहानी प्रारंभ होती है।

इनके अलावा ब्रिटेन ने भी कुछ द्वीपों पर अपना प्रभुत्व कायम किया। वैसे इस समय ब्रिटेन भारत में अपने साम्राज्य विस्तार में व्यस्त था अतः वह इन द्वीपों पर विशेष ध्यान नहीं दे सका था, इसके बावजूद जब नेपोलियन ने हॉलैण्ड पर अपना अधिकार कर लिया तो ब्रिटेन ने हिन्देशिया स्थिति हॉलैण्ड के साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। 1811 से 1819 ई. तक हॉलैण्ड का सारा हिन्देशियाई औपनिवेशिक साम्राज्य ब्रिटेन के अधिकार में रहा, इस क्षेत्र पर सर टामस स्टैम्फोर्ड शासन करता रहा। वियेना कांग्रेस के निर्णयों के अनुसार इंग्लैंड को हिन्देशिया का क्षेत्र पुनः हॉलैण्ड को वापस करना पड़ा, इसके बाद भी लाबुआना द्वीप पर अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम रहा। 1880 ई. में ब्रिटेन ने ब्रूनेई राज्य पर भी अधिकार कर लिया था। बोर्नियां के समुद्र तट पर सरावाक नामक राज्य था। ब्रिटेन ने इस द्वीप पर भी अधिकार कर लिया। बोर्नियां द्वीप के कुछ जंगली क्षेत्र जो रबर के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे, उन पर भी ब्रिटेन ने अधिकार कर लिया था।

## 6.26 मलाया प्रायद्वीप में उपनिवेश स्थापना

मलाया द्वीप श्याम की खाड़ी में स्थित है, इसमें कुल 11 द्वीप हैं, इस द्वीप का भौगोलिक महत्व बहुत अधिक है क्योंकि यूरोप, पश्चिमी एशिया और भारत से पूर्वी तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया आने का सबसे छोटा रास्ता मलाया द्वीप से होकर जाता है, इसके अलावा दुनिया के लगभग सभी वायु मार्ग भी इसी द्वीप पर से होकर गुजरते हैं। सामरिक महत्व के कारण ही मलाया के बीच में स्थित सिंगापुर को अंग्रेजों ने अपना मुख्य केन्द्र बनाया था।

हिन्देशिया और भारत की तरह यहाँ भी सबसे पहले पुर्तगालियों का आगमन हुआ। अंग्रेजों ने मलक्का के राजा से सिंगापुर को खरीद लिया था और यहाँ अपना केन्द्र बनाकर सैनिक और व्यापारिक गतिविधियों को संचालित करना प्रारंभ किया। यहाँ अंग्रेजों ने धीरे–धीरे अपना प्रभाव अन्य राज्यों में भी फैलाना प्रारंभ किया और स्थानीय राजाओं के आपसी झगड़ों को निपटाने और एक दूसरे की सहायता करने के माध्यम से तथा हस्तक्षेप की नीति के द्वारा अपना औपनिवेशिक साम्राज्य फैलाया।

## 6.27 हिन्दचीन पर फ्रांसीसी प्रभुत्व

हिन्दचीन के अन्तर्गत पाँच राज्य थे – कोचीन–चीन, तोकिन, अन्नाम, लाओस और कम्बोडिया। हिन्दचीन में फ्रांसीसियों ने अपना प्रभाव कायम किया। यहाँ तोकिन और अन्नाम पर चीन की संस्कृति का प्रभाव था और लाओस और कम्बोडिया पर भारतीय संस्कृति का। यहाँ भी सबसे पहले आने वाले यूरोपियों में पुर्तगाली ही थे। वे व्यापार के उद्देश्य से आए थे। इनके अलावा डच, स्पेनी और अंग्रेज भी यहाँ आए पर इनमें से किसी ने भी यहाँ राजनीतिक प्रभुत्व कायम नहीं किया।

अन्य देशों की तरह फ्रांसीसी भी व्यापार और धर्म प्रचार के लिए यहाँ आए, परन्तु 1747 के बाद से वे यहाँ की राजनीति में भी रुचि लेने लगे। उन्होंने बड़े व्यापारिक समझौतों के उद्देश्य से यहाँ के शासकों से संधियाँ करना प्रारंभ कर दी। सबसे पहली संधि 1787 में कोचीन–चीन के साथ की गई, इसके बाद कोचीन–चीन और अन्नाम में फ्रांसीसी पादरियों की गतिविधियों

को काफी तेज कर दिया था तो अन्नाम में इसका विरोध हुआ। यहाँ ईसाई विरोधी आंदोलन चलने लगा तो फ्रांसीसी सरकार ने इसके विरुद्ध कठोर रुख अपनाया, इसके बाद धीरे–धीरे फ्रांस सम्पूर्ण हिन्दचीन पर अधिकार करने का प्रयत्न करता रहा और उसका प्रभुत्व आखिरकार हिन्दचीन पर कायम हो गया।

NOTES

## 6.28 सारांश

यूरोप में औद्योगिक क्रांति के कारण व्यापार और उद्योगों का खूब विकास हो रहा था नई औद्योगिक खोजों और वैज्ञानिक तकनीक के विकास ने यात्राओं को सुगम और अधिक लाभप्रद बना दिया और अमेरिका में अपने उपनिवेश बसाने के लिए प्रयत्नशील हो उठे। इसी प्रक्रिया में यूरोप के शक्तिशाली देशों ने इनका आर्थिक और राजनैतिक शोषण करना आरंभ कर दिया।

## 6.29 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) साम्राज्यवाद के उदय की परिस्थितियों का विवरण दीजिए।

(2) साम्राज्यवाद के विकास के कारणों की समीक्षा कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) एशिया में साम्राज्यवाद के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

(2) अंग्रेजों की अफगान नीति की समीक्षा कीजिए।

(3) अफ्रीका में साम्राज्यवाद के विस्तार का वर्णन कीजिए।

### विकल्प

1. यान्डूव की संधि हुई थी–

   (अ) 1816 (ब) 1826 (स) 1836 (द) 1846

2. द्वितीय अफगान युद्ध हुआ था–

   (अ) 1856 (ब) 1868 (स) 1878 (द) 1888

**उत्तर** 1. (ब), 2. (स)

## 6.30 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी -- डॉ संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

# अध्याय-7 अफ्रीका में उपनिवेशवाद और उसका विभाजन (COLONIALISM & SCRAMBLE OF AFRICA)

NOTES

## इकाई की रूपरेखा


7.0 उद्देश्य

7.1 परिचय

7.2 अफ्रीका और यूरोपीय साम्राज्यवाद

7.3 अफ्रीका का बँटवारा या लूट

7.4 बर्लिन सम्मेलन

7.5 फ्रांस और अफ्रीका

7.6 मिस्र में फ्रांस और ब्रिटेन

7.7 मोरक्को में फ्रांस

7.8 बीअर समस्या और ब्रिटेन

7.9 मिस्र में ब्रिटेन

7.10 सूडान का विद्रोह

7.11 सारांश

7.12 अभ्यास प्रश्न

7.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची


## 7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. अफ्रीका की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत हो सकेंगे।
2. उपनिवेशवाद का अर्थ एवं उसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. अफ्रीका विभाजन की भूमिका जान सकेंगे।
4. तात्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत हो सकेंगे।

## 7.1 परिचय

यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रसार में सबसे शर्मनाक और असाधारण घटना है अफ्रीका का बँटवारा। 1880 तक यूरोप अफ्रीका के बारे में बहुत कम जानता था। उत्तरी अफ्रीका के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर शेष अफ्रीका उनके लिए **'अँधेरा महाद्वीप'** था। 1850 से 1880 के बीच कई खोजकर्त्ताओं ने अफ्रीका के अन्य भागों को खोज निकाला और अब अफ्रीका पर अधिकार करने की होड़ लग गई। **प्रोफेसर देवेन्द्रसिंह चौहान** लिखते हैं –''किन्तु 1850 और 1880 के बीच साहसी खोजकर्त्ताओं ने अनेक बाधाओं का सामना करते हुए अफ्रीका के अन्तःप्रदेश के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर ली। बार्थ, वोगेल, नाक्टिगाल, आदि ने सहारा और सूडान के भागों की खोज की और बेकर, स्पेक, ग्रान्ट ने बड़ी झीलों के आस–पास के क्षेत्र का पता लगाया, इसके साथ ही लिंविगस्टन ने जेम्बिसी की घाटी की खोज पूरी की, इसके पश्चात् हेनरी मार्टन

स्टेनली ने 1857–76 में कांगो नदी की घाटी और सहायक नदियों के क्षेत्रों का अन्वेषण किया। स्टेनली की खोज महत्वपूर्ण थी। उसने अपने देशवासियों का ध्यान कांगो के प्रचुर प्राकृतिक साधनों की ओर आकर्षित किया किन्तु इंग्लैण्ड उस समय पूर्वी समस्या में उलझे रहने के कारण इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे सका, किन्तु खोज कर्ता द्वारा उपलब्ध जानकारी और विशेष रूप से स्टेनली की प्रसिद्ध पुस्तक 'थ्रू दि डार्क कान्टीनेन्ट' के प्रकाशन से यूरोप के राज्यों में अफ्रीका के सम्बन्ध में रुचि बढ़ने लगी।"

## 7.2 अफ्रीका और यूरोपीय साम्राज्यवाद

अफ्रीका की खोज का श्रेय **डेविट लिविंग्स्टोन** को दिया जाता है। उसकी खोज के विवरण जब छपे तो सारे यूरोप में खलबली मच गयी और इसके बाद ही अफ्रीका पर कब्जा करने की होड़ लग गई, इस संबंध में **डॉ. दीनानाथ वर्मा** लिखते हैं – "अफ्रीका के अन्धकारपूर्ण भूखण्ड का पता लगाने का काम किसी यूरोपीय सरकार का नहीं था। यह यूरोप के उन धार्मिक परोपकारियों का काम था जो पथभ्रष्ट अफ्रीकियों को सुमार्ग दिखलाने के लिए उत्सुक थे। जगत हितैषियों में डॉक्टर डेविट लिविंग्स्टोन नामक एक स्काच धर्म प्रचारक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अफ्रीका का पता लगाने का श्रेय उसी को दिया जाता है। वह पाँच साल तक मध्य अफ्रीका के विविध प्रदेशों का अवगाहन करता रहा। जब उसने अपनी अफ्रीका–यात्रा का वृतान्त प्रकाशित किया तो सारे यूरोप में खलबली मच गई। सब लोगों का ध्यान अफ्रीका की ओर आकृष्ट हुआ। यूरोप के लोग इस विशाल एवं अद्‌भुत भूखंड प्रदेश पाने के लिए आतुर हो उठे, इसके बाद अफ्रीका का इतिहास केवल दु:ख और दर्द की कहानी है। यूरोप के प्राय: सभी राष्ट्र अफ्रीका के भू–भागों पर गिद्ध की तरह टूट पड़े। उनके बीच अफ्रीका की छीना–झपटी होने लगी। अफ्रीका की लूट में अपना–अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए वे उतावले हो उठे। जो अफ्रीका कुछ साल पहले तक अज्ञात था, वह अब भूखे साम्राज्यवादियों का शिकार बन गया। 1890 आते–आते यूरोप के तथाकथित सभ्य देश अफ्रीका के टुकड़े–टुकड़े कर उन्हें आपस में बाँट लेने के लिए कटिबद्ध हो गए। विश्व राजनीति के रंगमंच पर नवीन साम्राज्यवाद अपने नग्न रूप में आ खड़ा हुआ।"

## 7.3 अफ्रीका का बँटवारा या लूट

अफ्रीका पर सबसे पहले अपना अधिकार करने में बेल्जियम के राजा लियोपाल्ड ने प्रयत्न किया। अभी तक हुई खोजों के आधार पर उसने अफ्रीका को लूटने की योजना बनाई। उसने अफ्रीका के अज्ञात क्षेत्रों में प्रकाश फैलाने के उद्देश्य से ब्रूसेल्स में एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया, इस सम्मेलन में एक संस्था बनाई गई और प्रत्येक देश में इसकी शाखा खोलने का निश्चय किया गया, परंतु बहुत जल्द ही इसका अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो गया और प्रत्येक देश स्वतंत्र तरीके से अफ्रीका पर अधिकार करने का प्रयत्न करने लगा।

इस तरह लियोपाल्ड द्वारा अफ्रीका में अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने के प्रयत्न से ही अफ्रीका की लूट–खसोट प्रारम्भ हुई। लियोपाल्ड की गतिविधियों के कारण यूरोप के अन्य देश – फ्रांस, पुर्तगाल, ब्रिटेन, इटली और जर्मनी – अफ्रीका के प्रदेशों पर अधिकार करने का प्रयत्न करने लगे, इस प्रकार लगभग चालीस वर्षों में एबीसीनिया और लाइबेरिया को छोड़कर सारा अफ्रीका यूरोपीय सम्राज्यवाद के शोषण का शिकार हो गया।

**कांगों में फ्रांस, बेल्जियम और पुर्तगाल की गतिविधियाँ** – सबसे पहले लियोपाल्ड ने स्टेनली को कांगो घाटी में खोज का कार्य करने के लिए भेजा तो यूरोप के अन्य देश विशेषकर फ्रांस और पुर्तगाल ने भी अपने आदमियों को इस घाटी में सक्रिय कर दिया। फ्रांस ने कांगो के दक्षिणी भाग पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया तो पुर्तगाल ने भी कुछ क्षेत्रों पर अपना दावा प्रस्तुत किया और उसने इस बारे में ब्रिटेन से भी सहायता माँगी, इसी आधार पर

पुर्तगाल और ब्रिटेन के बीच 1884 में एक संधि हुई, इस संधि के द्वारा ब्रिटेन ने कांगो नदी के मुहाने पर पुर्तगाल का अधिकार स्वीकार कर लिया और पुर्तगाल ने इस क्षेत्र में सभी देशों को व्यापार करने की छूट देने का आश्वासन दिया। बेल्जियम और फ्रांस ने इस समझौते का विरोध किया। जर्मनी के चांसलर बिस्मार्क ने भी फ्रांस और बेल्जियम का समर्थन किया तथा ब्रिटेन और पुर्तगाल के बीच हुई संधि को अमान्य कर दिया, इस स्थिति में 1884 में ही फ्रांस और जर्मनी ने इस समस्या पर विचार करने के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन करने की योजना बनाई। यह सम्मेलन बर्लिन में होना था और इसका विषय था कांगो और नाइजर नदियों में व्यापार की स्वतंत्रता तथा इसी तरह की अन्य औपनिवेशिक समस्याओं पर विचार करना था।

## 7.4 बर्लिन सम्मेलन

अफ्रीका के भविष्य में होने वाले बँटवारे और कांगो की तत्कालिक समस्या को लेकर हुए इस सम्मेलन में स्विट्जरलैण्ड को छोड़कर समस्त यूरोपीय देशों ने इसमें भाग लिया। यूरोपीय राष्ट्रों के अलावा संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी इसमें भाग लिया, इस सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने एक सम्मिलित अधिनियम पर हस्ताक्षर किए जिसे 'बर्लिन एक्ट' कहा जाता है, इस अधिनियम के अनुसार निम्न बातें तय की गईं –

(i) कांगो फ्री स्टेट पर अन्तरराष्ट्रीय अफ्रीकन सभा का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

(ii) कांगो घाटी में सभी राज्यों को व्यापार की स्वतंत्रता मान ली गई।

(iii) एक अन्तरराष्ट्रीय आयोग भी बनाया गया जिसका कार्य था कांगो नदी के यातायात और व्यापार संबंधी नियमों का कियान्वयन कराना।

(iv) नाइजर नदी के ऊपरी भाग पर ब्रिटेन और निचले भाग पर फ्रांस का अधिकार स्वीकार किया गया।

(v) अफ्रीका का बँटवारे या अन्य भागों पर अधिकार के प्रश्न पर यह निश्चित किया गया कि किसी भी क्षेत्र पर किसी राज्य का वास्तविक अधिकार होने पर ही उसके अधिकार को स्वीकार किया जाएगा।

## 7.5 फ्रांस और अफ्रीका

बर्लिन सम्मेलन के बाद यूरोप के सभी राज्यों ने अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना–अपना अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया, इस दिशा में फ्रांस ने बढ़–चढ़ कर भाग लिया। फ्रांस उत्तरी अफ्रीका के मिस्र, मोरक्को और ट्यूनिश में अपनी साम्राज्यवादी गतिविधियाँ चलाना चाहता था। इन क्षेत्रों में अपना प्रभाव स्थापित करने के प्रयत्न में उसे ब्रिटेन, इटली और जर्मनी के विरोध का सामना करना पड़ा। उसने सबसे पहले ट्यूनिश पर अपना अधिकार करने का प्रयत्न किया। ट्यूनिश का राजा बे अत्यन्त फिजूलखर्ची था जिसने ब्रिटेन, फ्रांस और इटली से कर्ज ले रखा था, इसके बाद तीनों देशों को अलग–अलग सुविधाएँ मिल गईं, परंतु बर्लिन सम्मेलन ने फ्रांस को वहाँ अधिकार करने की इजाजत दे दी। इटली भी इस क्षेत्र को अपने अधिकार में लेना चाहता था, परंतु जब फ्रांस को इस क्षेत्र में अधिकार करने की इजाजत मिल गई तो इटली ने फ्रांस को रोकने की कोशिश की, इसके बाद फ्रांस ने अपनी सेनाएँ ट्यूनिश भेज दीं तो वहाँ का राजा उसकी सैनिक शक्ति के सामने टिक नहीं सका और अन्ततः उसने बार्डो की संधि स्वीकार कर ली, इस संधि के द्वारा ट्यूनिश पर फ्रांस का अधिकार स्थापित हो गया।

## 7.6 मिस्र में फ्रांस और ब्रिटेन

मिस्र में 1882 में अराबी विद्रोह हुआ, इसके पहले वहाँ फ्रांस और ब्रिटेन का संयुक्त आधिपत्य था अतः दोनों ने वहाँ विद्रोह को दबाने के लिए सैनिक शक्ति का इस्तेमाल करने का निश्चय

किया, परंतु फ्रांस ने ब्रिटेन का सहयोग नहीं किया तो ब्रिटेन ने अकेले ही विद्रोह का दमन कर दिया और अब मिस्र पर उसका अधिकार हो गया। जर्मनी के चान्सलर ने ब्रिटेन का समर्थन किया, परंतु फ्रांस ने ब्रिटेन के अधिकार को चुनौती दी और इस तरह वहाँ फ्रांस और ब्रिटेन के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई।



**बोध प्रश्न**

1. अफ्रीका और यूरोपीय साम्राज्यवाद का वर्णन कीजिए?

..................................................................................................................................

..................................................................................................................................

..................................................................................................................................

2. अफ्रीका के विभाजन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये?

..................................................................................................................................

..................................................................................................................................

..................................................................................................................................

## 7.7 मोरक्को में फ्रांस

1880 में मोरक्को के संबंध में मैड्रिड में यूरोपीय राज्यों सम्मेलन हुआ, इसमें जर्मनी ने फ्रांस को बताया कि उसकी मोरक्को में कोई रुचि नहीं है अतः वह वहाँ फ्रांस का समर्थन करेगा। फ्रांस इसके पहले ट्यूनिश और गेम्बिया पर अधिकार कर चुका था और मोरक्को इनके बीच में स्थित था अतः वह उसे भी अपने अधिकार क्षेत्र में लाना चाहता था और अन्ततः फ्रांस का अधिकार मोरक्को पर हो गया।

**फ्रांस का अफ्रीका के अन्य क्षेत्रों पर आधिपत्य** – उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त फ्रांस ने 1896 में मेडागास्कर द्वीप, सेनीगल, फ्रेंच गिनी और आइवरी–कोस्ट पर अधिकार कर लिया, इसके अतिरिक्त सहारा के विशाल क्षेत्र पर भी उसका अधिकार स्थापित हो गया।

**अफ्रीका में ब्रिटेन का साम्राज्यवादी विस्तार** – अफ्रीका के बँटवारे में ब्रिटेन ने सबसे अधिक बढ़–चढ़ कर भाग लिया। उसने मिस्र, सूडान, दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया, पूर्वी अफ्रीका में केन्या, युगाण्डा, पश्चिमी अफ्रीका में नाइजीरिया, गोल्ड कोस्ट इत्यादि भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अपने साम्राज्य विस्तार के दौरान उसे जर्मनी और फ्रांस के विरोध का सामना करना पड़ा।

## 7.8 बोअर समस्या और ब्रिटेन

अफ्रीका के केपकालोनी क्षेत्र में डच बहुतायत में विद्यमान थे। 1814 में हालैंड ने जब यह क्षेत्र ब्रिटेन को सौंप दिया तो वहाँ बोअर किसानों और ब्रिटेन के निवासियों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। डच लोग वहाँ किसान थे और बोअर कहलाते थे। ये लोग बड़े कट्टर परम्परावादी थे जो कि अपने रीति–रिवाजों का पालन करते थे। अब जबकि यह क्षेत्र ब्रिटिश लोगों के हाथ में आ गया तो उन्होंने **बोअर** लोगों के ऊपर अपनी सभ्यता और रिवाजों को थोपना चाहा तथा उन्होंने वहाँ दास प्रथा का अन्त करने की कोशिश की। ब्रिटिश लोगों के इन कार्यों से बोअर लोग काफी परेशान हुए और उन्होंने केपकालोनी को छोड़ने का निश्चय किया। लगभग 1836 में वे केपकालोनी को छोड़ कर उत्तर की ओर बढ़ गए। जहाँ वे लोग पहुँचे वह क्षेत्र भयंकर जंगलों से भरा हुआ था। उन्होंने उस क्षेत्र को साफ करके वहाँ दाक उपनिवेश बसाये। ये उपनिवेश थे–नेटाल और औरेंज के स्वतंत्र राज्य। जब ब्रिटिश लोगों ने देखा कि

यह क्षेत्र विकसित हो गया तो उन्होंने उन पर भी अपना कब्जा करने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों ने नेटाल और ओरेंज के स्वतंत्र राज्य पर अधिकार कर लिया, परंतु बोअर लोग ब्रिटिश लोगों के अधिकार में नहीं रहना चाहते थे। अतः इन बोअर लोगों ने इन क्षेत्रों को छोड़कर एक नया उपनिवेश ट्रांसवाल वसाया। प्रारम्भ में यह उपनिवेश महत्वपूर्ण नहीं था, परंतु कुछ समय बाद जब यह पता चला कि इस क्षेत्र में सोने की खानें हैं तो स्थिति बदल गई और अंग्रेज इस क्षेत्र को पाने के लिए तत्पर हो गए, परंतु दोनों के बीच एक संधि हो गई और बोअरों को औरेंज का राज्य भी मिल गया, इस तरह चार उपनिवेशों में से दो ब्रिटिशों के पास और दो बोअरों के पास रह गए।

इसके बाद 1877 में जब डिजराइली ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बना तो उसने बोअरों की स्वतंत्रता को समाप्त करने की कोशिश की, इसी समय अंग्रेजों ने वहाँ के मूल निवासी जूलू लोगों का बहाना बनाकर हमला कर दिया तो बोअरों ने उनका विरोध किया और यह संघर्ष बहुत समय तक चलता रहा। प्रधानमंत्री ग्लोडस्टोन के समय में दोनों के बीच संधि हो गई, इसके कुछ समय बाद ही अंग्रेजों को यह ज्ञात हुआ कि ट्रांसवाल में सबसे बड़ी सोने की खाने हैं तो अंग्रेजों ने वहाँ अपनी संख्या बढ़ानी प्रारम्भ कर दी और धीरे–धीरे वहाँ वे इतनी अधिक संख्या में पहुँच गए कि बोअर लोग अल्पसंख्यक हो गए। अब अंग्रेजों ने वहाँ मतदान का अधिकार माँगा तो बोअरों ने इसके विरोध में कुछ कानून बनाए जिससे कि अंग्रेज उनकी सरकार बनाने में हस्तक्षेप न कर सकें।

परंतु ब्रिटिश सरकार बोअरों की स्वतंत्रता को समाप्त करके अपना उपनिवेश बनाना चाहता थी, इसी प्रश्न को लेकर दोनों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। 1899 में बोअर युद्ध प्रारम्भ हुआ और 1902 तक यह युद्ध चलता रहा, इसमें बोअर बहुत वीरता से लड़े, परंतु वे अंग्रेज सेना के सामने टिक ने सके और अन्ततः उन्हें अंग्रेजों की शर्तें माननी पड़ीं, इसके बाद बोअरों के दोनों प्रदेश भी अंग्रेजों के उपनिवेश बना दिए गए।

### बोध प्रश्न

1. बीअर समस्या का वर्णन कीजिए?

   ......................................................................................................

   ......................................................................................................

   ......................................................................................................

2. फ्रांस और अफ्रीका संबंध की व्याख्या कीजिए?

   ......................................................................................................

   ......................................................................................................

   ......................................................................................................

## 7.9 मिस्र में ब्रिटेन

अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार में सबसे कड़ा मुकाबला फ्रांस से था। अफ्रीका के मिस्र और सूडान में दोनों के हित आपस में टकराते थे। मिस्र मे ब्रिटेन की रुचि का कारण थी स्वेज नहर इस संबंध में प्रोफेसर देवेन्द्र सिंह चौहान लिखते हैं – "1869 में स्वेज नहर के बन जाने के बाद ब्रिटेन की मिस्र में रुचि बहुत बढ़ गई थी। 1875 में डिजराइली ने स्वेज नहर के बहुत से शेयर खरीद कर स्वेज नहर के नियन्त्रण में प्रभावशाली स्थान प्राप्त कर लिया, इसके पश्चात मिस्र की निरन्तर बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के कारण वहाँ पर इंग्लैण्ड और फ्रांस का द्वैध नियंत्रण स्थापित हुआ, किन्तु मिस्र का खेदीव स्माइल इंग्लैण्ड और फ्रांस के नियंत्रण का विरोध करने लगा, अतः दोनों ने मिलकर उसको सिंहासन छोड़ने को विवश किया और उसके

स्थान पर तौफीक को खेदीव बनाया। तौफीक के आने के बाद मिस्र के कुछ राष्ट्रवादियों ने विदेशी नियंत्रण का विरोध किया। उनका नारा था– **'मिस्र मिस्रवासियों का है।'** 1881 में मिस्र की सेना के एक अधिकारी अराबी ने खेदीव के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अराबी के विद्रोह के कारण मिस्र में गंभीर स्थिति उत्पन्न हो गई। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने मिलकर खेदीव को सुरक्षा का आश्वासन दिया, किन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस के हस्तक्षेप के कारण स्थिति और बिगड़ गई। जेन में विद्रोहियों ने अलेक्जेंड्रिया के यूरोपियन नागरिकों पर हमला कर दिया। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन ने सैनिक शक्ति का प्रयोग करने का निर्णय किया और फ्रांस ने भी सहयोग करने को कहा, किन्तु फ्रांस ने सैनिक शक्ति के प्रयोग का विरोध किया और अलेक्जेंड्रिया से अपने जहाज वापस बुला लिये। अतः ब्रिटेन को अकेले ही विद्रोह का दमन करना पड़ा। अलेक्जेंड्रिया पर बमबारी की गई और इस पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया, इसके बाद ब्रिटेन की सेना काहिरा की ओर बढ़ी और तेल–अल–कबीर के युद्ध में अराबी को हरा कर काहिरा पर अधिकार कर लिया, इस प्रकार अराबी के विद्रोह का दमन हो गया।" ब्रिटेन के इस अधिकार का फ्रांस ने विरोध किया परंतु जर्मनी ने उसका समर्थन किया।

## 7.10 सूडान का विद्रोह

मिस्र पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया था और वहाँ उसकी एक स्थायी सेना रहने लगी थी। फ्रांस इसका विरोध कर रहा था। पूर्वी सूडान जो दोनों के साम्राज्य विस्तार के लिए उपयोगी था, उस पर दोनों की निगाह गड़ी हुई थीं। ब्रिटेन मिस्र पर अधिकार करने के बाद सूडान पर भी अपना अधिकार समझ कर उसमें हस्तक्षेप करने लगा तो वहाँ के निवासियों ने इसका विरोध किया, इस स्थिति में सूडान के लोगों ने मोहम्मद अहमद के नेतृत्व में जिसे वहाँ के लोग मसीहा समझते थे, विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह 1885 में प्रारम्भ हुआ। खेदीव ने विद्रोह के दमन के लिए एक ब्रिटिश सेना भेजी, परंतु वह परास्त हो गई, इसमें ब्रिटिश सेनापति और अन्य सैनिकों की हत्या कर दी गई, इससे इस युद्ध की स्थिति बहुत गंभीर हो गई।

इसके बाद कुछ वर्षों तक ब्रिटेन सूडान पर ध्यान नहीं दे सका, परंतु उसने 1895–96 में लार्ड किचनर को सूडान पर अधिकार करने के लिए भेजा। इधर अफ्रीका के बँटवारे को लेकर यूरोपीय लोगों में यह प्रवृत्ति चल रही थी कि जो व्यक्ति जिस क्षेत्र पर सबसे पहले पहुँच कर अपने देश का झंडा गाड़ दे तो वह उस देश के अधिकार में चला जाता था, इसी प्रवृत्ति के कारण फ्रांस के मार्शा नामक व्यक्ति अफ्रीका के सूडान के फसौदा नामक स्थान पर पहुँच गया और उसने वहाँ फ्रांस का झंडा गाड़ दिया, इसके बाद वहाँ लार्ड किचनर पहुँचा तो उसने मार्शा से फ्रांस का झंडा उतारने के लिए कहा. इस प्रश्न पर ब्रिटेन और फ्रांस में युद्ध की स्थिति बन गई, परंतु यह युद्ध टल गया क्योंकि फ्रांस ने उस क्षेत्र को खाली कर दिया। 1904 की एक संधि के द्वारा फ्रांस ने मिस्र पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकार कर लिया।

अफ्रीका के बँटवारे में जर्मनी कुछ देर बाद शामिल हुआ। 1882 के बाद जर्मनी के एक व्यक्ति ल्यूडरिज ने एंग्रा पेक्वेना के क्षेत्र में कुछ भूमि प्राप्त कर ली और इस तरह अफ्रीका में जर्मन उपनिवेश का प्रारम्भ हुआ, इसके बाद जर्मनी ने अंगोला और केपकालोनी के बीच सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, इसके बाद जर्मनी ने पश्चिमी अफ्रीका के तटवर्ती क्षेत्र पर टोगोलैण्ड और केमरून को अपना उपनिवेश बनाया।

जब सभी बडे यूरोपीय राज्य अफ्रीका में अपने–अपने उपनिवेश स्थापित कर रहे थे तो इटली कैसे पीछे रह सकता था। ट्यूनिश पर अधिकार करने का उसका प्रयत्न बेकार हो गया था अतः अब उसने लाल सागर के तटवर्ती क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया और 1885 में मसोवा पर उसका अधिकार हो गया, इसके बाद उसने एरीट्रीया का उपनिवेश स्थापित कर लिया। 1911 में इटली ने ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया।

इसी तरह पुर्तगाल ने अंगोला और मोजाम्बिक पर अपना अधिकार स्थापित किया। स्पेन को सिर्फ टेंजियर का भाग ही मिल सका।

इस तरह अफ्रीका को यूरोपीय देशों ने बिना किसी युद्ध के बाँट लिया। अफ्रीका का यह बँटवारा विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है।

NOTES

## 7.11 सारांश

लियोपाल्ड द्वारा अफ्रीका में अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने के प्रयत्न से अफ्रीका में लूट–खसोट प्रारंभ हुई। इनकी गतिविधियों के कारण फ्रांस, पुर्तगाल, ब्रिटेन, इटली और जर्मनी, अफ्रीका के प्रदेशों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया।

## 7.12 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) अफ्रीका का विभाजन विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। समीक्षा कीजिए।

(2) अफ्रीका के बंटवारें में फ्रांस की भूमिका का वर्णन कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) अफ्रीका के बंटवारे में इंग्लैण्ड के हिस्से का वर्णन कीजिए।

(2) अफ्रीका के विभाजन पर एक निबंध लिखिए।

### विकल्प

1. स्वेजनहर का निर्माण हुआ था–

(अ) 1869 (ब) 1879 (स) 1859 (द) 1889

2. सूडान का विद्रोह हुआ था–

(अ) 1865 (ब) 1875 (स) 1865 (द) 1895

**उत्तर** 1. (अ), 2. (स)

## 7.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

# अध्याय–8 चीन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद
## (IMPERIALISM & COLONIALISM IN CHINA)

NOTES

## इकाई की रूपरेखा


8.0 उद्देश्य
8.1 परिचय
8.2 चीन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद
8.3 प्रथम अफीम युद्ध
8.4 आंग्ल–चीन युद्ध
8.5 चीन में सुविधाओं की माँग
8.6 चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद का विस्तार
8.7 चीन में बक्सर आंदोलन
8.8 विद्रोह का प्रारंभ और दमन
8.9 1911 की चीनी क्रांति
8.10 क्रांति के कारण
8.11 चीन में साम्यवाद का उदय एवं स्थापना
8.12 चीन में कुओमिन्तांग दल में विभाजन
8.13 साम्यवादियों का दमन और उनका महा प्रस्थान
8.14 साम्यवादियों और कुओमितांग के बीच समझौता
8.15 द्वितीय चीन जापान युद्ध 1937
8.16 द्वितीय विश्व युद्ध और चीन में साम्यवाद के विकास की स्थिति
8.17 चीन में लोकतंत्र की स्थापना के विदेशी प्रयास
8.18 चीन में साम्यवादी लोक गणराज्य की स्थापना
8.19 चीनी क्रांति का प्रभाव
8.20 सारांश
8.21 अभ्यास प्रश्न
8.22 संदर्भ ग्रन्थ सूची


## 8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. चीन की तात्कालिक पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. चीन में उपनिवेशवाद की स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. चीन में साम्राज्यवाद की स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
4. चीन की क्रांतियों का अध्ययन कर सकेंगे।

## 8.1 परिचय

चीन में विदेशियों का आना कब से प्रारंभ हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में यूरोपीय पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रांति के बाद से चीन में विदेशियों का आना प्रारंभ हुआ। विदेशियों में सर्वप्रथम पुर्तगाली ही चीन पहुँचे थे, परन्तु तत्कालीन चीन शासकों ने उन्हें अंदर नहीं घुसने दिया। वे चीन के बाहर कैंटन के पास ही एक द्वीप में बस गए थे और बाद में उन्होंने मकाओ में पुर्तगालियों की बस्ती स्थापित कर ली। पुर्तगालियों की सफलता इस बात में थी कि उन्होंने यूरोपियनों के लिए चीन के दरवाजे खोल दिए। यद्यपि वे स्वयं असफल रहे। चीन में अपने स्वार्थों को साधने के लिए अन्य यूरोपियन देशों ने भी चीन में आने का प्रयास किया, इस दिशा में सबसे पहले 1557 में स्पेन, 1604 में डच और 1637 में अंग्रेज चीन आये। इनके अलावा रूस ने भी स्थल मार्ग से चीन में प्रवेश किया। विदेशियों में सबसे अन्त में अमेरिका ने 1789 में चीन में प्रवेश किया या संबंध बनाए।

## 8.2 चीन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद
**(IMPERIALISM & COLONIALISM IN CHINA)**

### चीन में विदेशियों का आगमन

चीन की ओर से विदेशियों को व्यापारिक सुविधा देने का पहला प्रयास 1757 में मंचू सरकार के द्वारा हुआ। मंचू सरकार ने एक आदेश जारी किया जिसके द्वारा चीन में कैण्टन बन्दरगाह विदेशियों के व्यापार के लिए खोल दिया गया, इससे कैण्टन बन्दरगाह विदेशियों के व्यापार का केन्द्र बन गया, परन्तु इस समय भी विदेशियों को वहाँ बसने की अनुमति नहीं थी। चीन के स्थानीय व्यापारियों का विदेशियों के साथ सीधा संबंध नहीं था। व्यापार की सारी शर्तें चीनियों द्वारा निश्चित की जाती थीं, इसके बाद चीन ने दो संगठनों की स्थापना की – **'एम्परर् मर्चेन्ट'** और **'को–होग'**।

चीन सरकार की व्यापारिक नीति से विदेशी संतुष्ट नहीं थे अतः इसके खिलाफ उनकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था, इस प्रतिक्रिया के पीछे मूल कारण था करों का अनिश्चित होना और उनकी अधिकता, इसके अलावा विदेशियों की सामाजिक स्थिति भी संघर्ष का एक कारण थी। व्यापारिक सुविधा और मुद्रा के विनिमय की अपेक्षा वस्तुविनिमय में यूरोपीय माल की मुश्किलों को आसान बनाने के लिए अंग्रेजों ने चीन से अफीम व्यापार प्रारंभ किया। 1830 ई. तक चीन में इतनी अफीम आने लगी थी कि उसकी कीमत चीन से बाहर जाने वाली तमाम वस्तुओं से अधिक होती थी। अंग्रेजों ने अपने लिए अधिक सुविधाओं की माँग तथा राजनीतिक आर्थिक संबंधों को अधिक सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से अफीम के व्यापार का बहाना बना कर चीन के साथ संघर्ष प्रारंभ किया।

## 8.3 प्रथम अफीम युद्ध (FIRST OPIUM WAR)

1715 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से केन्टन में एक कारखाने की स्थापना हुई, इससे केन्टन के व्यापार का एक बड़ा हिस्सा इस कंपनी के नियंत्रण में आ गया। दूसरे व्यापारिक देश अंग्रेज कंपनी से लाइसेंस पाकर ही व्यापार कर सकते थे। विदेशी व्यापारी चीन से चाय, रेशम व चीनी मिट्टी के बर्तन आदि खरीदते थे, किन्तु चीन के व्यापारी इन विदेशियों से कुछ भी खरीदना पसंद नहीं करते थे अतः विदेशी व्यापारियों को इन वस्तुओं की कीमत सोने अथवा चाँदी के रूप में देनी पड़ती थी, इस कारण से धीरे–धीरे वस्तु विनिमय होने लगा, इस समय तक चीन में अफीम का माँग भी होने लगी थी और इसका श्रेय भी ब्रिटिश व्यापारियों को ही था। अंग्रेजों ने अफीम को एक मुद्रा के रूप में उपयोग करना प्रारंभ किया अर्थात् चीन से जो वस्तुयें खरीदी जाती थीं उनके बदले में अफीम दी जाती थी।

NOTES

## अफीम युद्ध के कारण

चीनी दृष्टिकोण से विवादग्रस्त प्रश्न सिर्फ अफीम के आयात का था, किन्तु चीन और ब्रिटेन के बीच जो युद्ध हुआ, अफीम उसका कारण नहीं, घटना मात्र थी। यद्यपि इस युद्ध को अफीम युद्ध की संज्ञा दी गई है, किन्तु युद्ध के बाद जो नानकिंग की संधि हुई थी उसमें भी अफीम के बारे में कोई समझौता नहीं हुआ था, इससे यह बात साफ होती है कि इस युद्ध के अन्य कारण भी थे –

**(1) व्यावसायिक संबंध असंतोषजनक** – उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चीन का साम्राज्य विदेशियों के लिए बंद था, विदेशी केवल केन्टन और मकाओ की खिड़की से झांक सकते थे। चीनी सरकार का मूलभूत सिद्धांत व्यापार विरोधी था। यही कारण था कि विदेशियों को चीन द्वारा लगाई गई सभी शर्तों को स्वीकार करके ही व्यापार करना पड़ता था। अंग्रेज व्यापारी व ब्रिटिश प्रतिनिधि समानता के आधार पर व्यापार करने के पक्ष में थे, इस युद्ध के कारणों में एक यह भी था।

**(2) अधिकार क्षेत्र के प्रश्न पर विवाद** – ब्रिटेन और चीन के बीच इस बात पर भी विवाद था कि केन्टन में निवास करने वाले ब्रिटिश लोग कानून की दृष्टि से चीन के अधीन हैं या नहीं। यह विवाद 1764 में उस समय उठा जब ब्रिटिश जहाजों के तोपची द्वारा सलामी दागने से दुर्घटनावश एक चीनी मारा गया। दबाव डालने पर वह तोपची चीनी अधिकारियों के हवाले कर दिया गया और चीनी अदालत ने उसे मृत्यु दण्ड दिया। ब्रिटिश जनता इससे बहुत नाराज हुई। अतः अधिकार क्षेत्र का प्रश्न भी इस युद्ध के मूल में एक कारण था।

**(3) व्यावसायिक असमानता** – 1757 तक चीन में यूरोपीय व्यापारियों को यह छूट थी कि वे चीन के तटवर्ती सभी बन्दरगाहों में व्यापार कर सकते थे, किन्तु इसके पश्चात् विदेशियों का व्यापार केवल केन्टन के बन्दरगाह तक सीमित कर दिया गया। यहाँ भी उन्हें पूरी छूट नहीं थी। विदेशी व्यापारी केन्टन में निवास नहीं कर सकते थे, व्यापार भी सिर्फ को–होग के सदस्यों के साथ ही किया जा सकता था और व्यापार की सभी शर्तें के व्यापारियों द्वारा ही तय होती थी। इतने प्रतिबंधों के होते हुए भी जब 1830 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी से व्यापार के समस्त अधिकार छीन लिए गए तो वे और अधिक नाराज हो गए।

**(4) कमिश्नर ली की कार्यवाही** – अफीम के व्यापार को रोकने के प्रयत्न में आयुक्त लिन–त्से–ह–सू ने 10 मार्च, 1830 को अपनी कार्यवाही केन्टन में आरंभ की। उसने एक आज्ञा जारी की कि व्यापारियों के पास जितनी अफीम हो वह सब चीनी अधिकारियों को सौंप दी जाए और भविष्य में अफीम के व्यापार को न करने की प्रतिज्ञा भी ली जाए। ब्रिटिश व्यापार अधीक्षक इलियट ने बचाव का कोई उपाय न देखकर ब्रिटिश व्यापारियों को यह सलाह दी कि वे अपने अफीम के बक्से चीनी अधिकारियों के हवाले कर दें और उन्होंने ऐसा ही किया, इसके बाद ब्रिटिश व्यापारी अधीक्षक ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश चीन से इस घटना का बदला अवश्य लेंगे।

## 8.4 आंग्ल–चीन युद्ध

अंग्रेजों द्वारा केन्टन की नाकेबन्दी से युद्ध की कार्यवाही प्रारंभ हुई। युद्ध की पहल अंग्रेजों के द्वारा की गई, अंग्रेजों ने चीनियों की 29 नौकाओं को जो कि अंग्रेजी युद्धपोतों पर आक्रमण हेतु वहाँ एकत्र हुई थीं, नष्ट कर दी गई, इसके बाद अंग्रेजों ने चुसानद्वीप पर 6 जुलाई को कब्जा कर लिया और अभोये और निगपों पर भी अधिकार कर लिया। 1841 में केन्टन पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार हो गया, इसके बाद अंग्रेजों की सेनाएँ निगपों से चिक्यांग और नानकिंग की ओर बढ़ी, इससे चीन के उत्तरी भाग का यातायात सम्पर्क दक्षिणी भाग से समाप्त हो गया इसके समझौते के प्रयास प्रारंभ हुए और दोनों पक्षों के बीच एक संधि हुई जिसे नानकिंग की संधि कहते हैं –

## नानकिंग की संधि

29 अगस्त, 1842 को नानकिंग में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए, इस संधि की शर्तें इस प्रकार थीं –

(i) हांगकांग का द्वीप हमेशा के लिए ब्रिटेन को दे दिया गया।

(ii) ब्रिटिश लोगों को पाँच बन्दरगाह केन्टन, अमोय, फुचाओ, निगपों और शंघाई में बसने और व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हुआ।

(iii) चीन ने 2 करोड़ 10 लाख डालर केन्टन में बरामद अफीम की कीमत के रूप में दिए गए।

(iv) को–होग को समाप्त कर दिया गया, अब ब्रिटिश व्यापारी किसी के भी साथ व्यापार कर सकते थे।

(v) आयात और निर्यात पर समान और नरम शुल्क पद्धति लागू करने का निर्णय लिया गया।

(vi) यह व्यवस्था की गई कि मुख्य ब्रिटिश प्रतिनिधि और चीनी अधिकारियों के बीच पत्र–व्यवहार को प्रार्थना न कह कर संदेश पत्र कहा जायेगा।

(vii) इस बात को भी स्वीकार किया गया कि अंग्रेजों पर मुकदमे उन्हीं के कानून के अनुसार चलाए जायेंगे।

(viii) चीन अन्य देशों को जो भी सुविधायें देगा वे सब अंग्रेजों को भी प्राप्त होंगी।

इस तरह अंग्रेजों को चीन में बहुत सी सुविधायें प्राप्त हो गईं, इस सफलता को देखकर दूसरे देश भी चीन में व्यापार करने की सुविधायें पाने का प्रयास करने लगे, इस दिशा में सबसे पहला प्रयास अमेरिका ने किया, इसके बाद 1844 में फ्रांस ने चीन के साथ एक समझौता किया और सुविधायें प्राप्त कीं।

## 8.5 चीन में सुविधाओं की माँग (DEMAND FOR CONCESSION IN CHINA)

नानकिंग की संधि के बाद चीन में यूरोपियों के लिए दरवाजा खुल गया था। अब वे चीन में और अधिक सुविधाओं की माँग करने लगे थे। सुविधाओं की इन माँगों के चलते चीन और ब्रिटिश व्यापारियों में दूसरा अफीम युद्ध 1856–60 के बीच हुआ।

प्रथम अफीम युद्ध के बाद भी ब्रिटेन को संतोष नहीं हुआ और चीन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनने लगीं जिससे द्वितीय अफीम युद्ध अनिवार्य सा हो गया था, इस तरह दो अफीम युद्धों के द्वारा चीन की लूट–खसोट का मार्ग प्रशस्त हो गया और चीन की अलग रहने की नीति को समाप्त कर दिया गया, इस तरह यूरोपीय साम्राज्यवाद चीन में अपने पैर पसारने लगा।

अक्टूबर, 1860 की पीकिंग संधि के बाद यूरोपीय देशों को चीन में काफी अधिकार मिल गए थे। यहाँ से चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद का प्रारंभ हुआ जो आगे चलकर चीनी तरबूज की बदरबाँट के रूप में सामने आयी। पार्गेरी काण्ड के बाद हुए चेफू समझौते से ब्रिटिश जनता को वे सारी सुविधायें मिल गईं जिनकी माँग वर्षों से की जा रही थी। उत्तर की ओर चीन में रूस द्वारा घुसपैठ प्रारंभ हुई। 1858 में वह चीन पर एगून की संधि लाद कर उसके भू–भागों पर आधिपत्य जमा चुका था। 1860 की पीकिंग संधि के द्वारा रूस और चीन ने अपनी सीमा निर्धारित करने का प्रयास प्रारंभ किया। 1871 ई. में चीन में रूस को अपने प्रसार का दूसरा तब मिला जब सिक्यांग में याकूब नामक एक व्यक्ति ने बेग उपाधि धारण कर अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी, इस मौके पर रूस ने इसी घाटी के चीनी इलाके पर कब्जा कर लिया। 1818 ई. में दोनों देशों के बीच सेंट पीटर्सबर्ग की संधि हो गई। रूस ने चीन से नब्बे लाख रूबल का हर्जाना लेकर इसी घाटी के भागों पर से अपना अधिकार हटा लिया। लेकिन बिना चुंगी दिए व्यापार करने का अधिकार रूस ने अपने पास रखा।

1894–95 के चीन जापान युद्ध में चीन की पराजय के बाद यूरोपीय देशों का हौसला बहुत बढ़ गया और चीन की असली लूट–खसोट अब प्रारंभ हुई।

## 8.6 चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद का विस्तार

NOTES

1895 के बाद चीन एशिया का बीमार मरीज के रूप में जाना जाने लगा। अब यूरोप के देश चीन के विभिन्न भागों पर अपना–अपना दावा प्रस्तुत करने लगे और चीन को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बाँटने लगे। ये देश चीन से अपने लिए बहुत सी सुविधाओं की माँग करने लगे और सुविधाओं की माँगों की टकराहट के कारण यूरोपीय देशों में आपस में संघर्ष भी हुआ जिसे सुविधाओं का युद्ध कहा जाता है।

**(1) फ्रांस का विस्तार** – चीन–जापान युद्ध के बाद चीन को युद्ध की क्षतिपूर्ति की रकम चुकाने के लिए फ्रांस से ऋण लेना पड़ा। फ्रांस ने ऋण दिया और साथ में यह वादा भी करवाया कि वह हैनान द्वीप किसी अन्य के लिए नहीं देगा। कुछ ही समय बाद फ्रांस को चीन में निम्न सुविधाएँ प्राप्त हो गईं –

- युन्नान, क्वांग्सी और क्वांगतुंग की खानों को खोदने का अधिकार फ्रांस को मिला।
- दक्षिणी चीन में अनाम रेलवे के विस्तार का अधिकार उसे मिल गया।
- दक्षिणी चीन में फ्रांसीसी माल पर चुँगी घटा दी गई।
- 1897–98 में फ्रांस को और भी कुछ सुविधाएँ प्राप्त हुईं।
- क्वांगचाऊ खाड़ी तथा उसके निकटस्थ प्रदेश फ्रांस को 99 साल के पट्टे पर मिले और युन्नान में रेलवे लाइन बिछाने का अधिकार भी उसे मिल गया।

**(2) रूस का विस्तार** – चीन को फ्रांस द्वारा कर्ज दिलाने में रूस ने गारंटी दी थी, इसका इनाम भी उसे मिलना चाहिए था। दिसम्बर, 1895 में रूस के वित्तमंत्री काउंट विटे ने रूसी–चीनी बैंक की स्थापना की. इस बैंक को अनेक विस्तृत अधिकार दिए गए। रेलवे निर्माण से संबंध कार्य के अतिरिक्त इसे तार बिछाने, सिक्का ढालने, कर वसूलने और चीन के वैदेशिक कर्जों के सूद भुगतान के कार्य मिले, इस तरह यह बैंक चीन के आर्थिक जीवन पर हावी हो गया। रूस मंचूरिया होकर ट्रांस साइबेरियन रेल मार्ग की एक लाइन बिछाना चाहता था, क्योंकि इससे साढ़े तीन सौ मील की दूरी बचती थी। ली लोबानोफ समझौते के माध्यम से यह तय हुआ कि यदि जापान हमला करे तो रूस और चीन एक दूसरे की मदद करेंगे और रूस चीन के बन्दरगाहों का उपयोग करेगा। साथ ही यह भी मान लिया गया कि रूस मंचूरिया होकर लाइन बिछा सकेगा। 8 सितम्बर, 1896 को रूसी–चीनी बैंक और चीनी सरकार में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार एक रूसी प्रबंधक के अधीन चीनी पूर्वी रेलवे कंपनी कायम की गई और इसे मंचूरिया की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर स्थित मनचूली से व्लाडीवोस्टक के पास सइफेनहों तक लगभग एक हजार मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाने का काम सौंपा गया। चीन ने मंचूरिया आने जाने वाले रूसी माल पर चुंगी की दरें कम कर दीं। मार्च, 1898 में जब जर्मनी ने शान्तुंग में अपना क्षेत्र बनाया तो, रूस ने चीन पर जोर दिया कि वह उसे पच्चीस वर्ष के लिए लिआओतुंग प्रायद्वीप का दक्षिणी छोर पट्टे पर दे दे। 1898 में रूस ने पोर्ट आर्थर नामक बन्दरगाह पर कब्जा करके अपना और क्षेत्र विस्तार कर लिया।

**(3) जर्मनी का विस्तार** – जर्मनी ने चीन के एक ऐसे टुकड़े पर अपना प्रभाव कायम किया जिस पर उसके जहाज आसानी से आ–जा सकें, इसी समय चीन में जर्मन चर्च के दो पादरियों की हत्या कर दी गई इसके मुआवजे के रूप में जर्मनी माँगों की एक सूची चीन के समक्ष पेश की जो इस प्रकार है –

- त्सिंगताओ नामक बन्दरगाह को, जो उत्तरी चीन में स्थित था, चीन 99 साल के लिए जर्मनी को पट्टे पर दे दे।

- ➢ शान्तुंग में रेलवे लाइन बिछाने का काम जर्मनी को मिले।
- ➢ शान्तुंग में जितनी भी खानें हैं उनकी खुदाई तथा विकास करने का अधिकार केवल जर्मनी की सरकार को हो।
- ➢ जर्मन पादरियों की हत्या का मुआवजा चीन जर्मनी की सरकार को दे।

चीन की सरकार ने मार्च, 1898 में एक राजनीतिक संधि के माध्यम से उपयुक्त समस्त माँगें मान लीं, इस तरह चीन में जर्मनी का औपनिवेशिक शोषण प्रारंभ हो गया।

**(4) ब्रिटेन का विस्तार** – वास्तव में चीन का द्वार खोलने को श्रेय ब्रिटेन को ही है। 1895 ई. के पूर्व चीन पर सर्वाधिक प्रभाव ब्रिटेन का ही था। जब उत्तर में रूस और जर्मनी ने अपने पैर जमाए और दक्षिण में फ्रांस ने अपना अधिकार कायम किया तो ब्रिटेन के लिए मध्य चीन में यांगत्सी घाटी के अलावा और कुछ भी शेष नहीं था। फरवरी, 1898 में ब्रिटेन ने चीन से यह वचन लिया कि वह इलाके में अपने अलावा किसी अन्य देश का अधिकार नहीं होने देगा। उसने कोलून से लगे प्रायद्वीप का 99 साल का पट्टा ले लिया और हाँग काँग के सामने के कुछ इलाकों पर भी दावा किया। चीन के विदेशी व्यापार का दो–तिहाई भाग अंग्रेजों के हाथ था, इसलिए उन्होंने यह माँग की कि चीन में जहाजी चुँगी का प्रधान निरीक्षक हमेशा कोई अंग्रेज नागरिक हो। चीन ने ब्रिटेन की सारी माँगों को मान लिया।

इस तरह चीन में साम्राज्य विस्तार के लिए यूरोपीय शक्तियों में जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हुई। चीन की सरकार ने अप्रत्यक्ष रूप से यह मान लिया कि चीनी साम्राज्य में कतिपय अन्य शक्तियों का भी प्रभुत्व है और उस क्षेत्र में उसी विदेशी शक्ति को विशेषाधिकार दिए जायेंगे, इस प्रकार फ्रांस के अधिकार में हैनान और टोन्किन की सीमा का प्रदेश आया, यांगत्सी घाटी ब्रिटेन के हाथों में रही। जापान का अधिकार फुकिएन पर हो गया तथा जर्मनी को शान्तुंग में विशेषाधिकार प्राप्त हुआ। रूस ने मंचूरिया, मंगोलिया और चीनी तुर्कीस्तान पर अपना प्रभाव फैलाया।

इस प्रकार चीन में एक बिलकुल नए ढंग का साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद ने अपना अधिकार कर लिया। अब चीन की मजबूत रक्षा चौकियाँ विदेशी ताकतों के हाथों में आ गईं थीं। उसका विदेशी व्यापार और चुंगी नियंत्रण भी विदेशी हाथों में था।

## 8.7 चीन में बाक्सर आंदोलन (1899—1900) (BOXER MOVEMENT IN CHINA)

चीन में सुधारवादियों का प्रथम प्रयास असफल रहा। अब प्रतिक्रियावादी तत्वों के हाथों में सत्ता आई और शीघ्र ही उन्होंने रूढ़िवाद को प्रश्रय देने के लिए कदम उठाए जिसके कारण चीन में एक भयंकर बाक्सर–विद्रोह प्रारम्भ हुआ, इस आन्दोलन को मुक्केबाजों का आन्दोलन भी कहते हैं। यह आन्दोलन मूलतः विदेशियों की लूट–खसोट एवं शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। जब विदेशियों ने चीन की बंदरबाँट प्रारम्भ की तो चीनियों में भयानक विद्वेष फैला। रूढ़िवादी और पुराणपंथी भी अपने आक्रोश को दबा नहीं सके। वे भी यूरोपियों को घृणा की नजर से देखने लगे। देश के सभी तबकों के लोग अपने देश की दुर्दशा के लिए मंचू शासन को दोषी ठहराने लगे।

चीनी सरकार की आलोचना से शासन पश्चिम के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाने का प्रयास कर रहा था, लेकिन उसके पास इसके लिए पर्याप्त ताकत नहीं थी। इन प्रयासों से वह विदेशियों के प्रति चीनी जनता के धधकते हुए क्रोध को शान्त नहीं कर सका। उल्टे इन गतिविधियों से पाश्चात्य विरोधी शक्तियों का साहस और भी बढ़ा और वे विदेशियों को निकाल बाहर करने के लिए कटिबद्ध हो गए। पश्चिमी देशों को हरजाना देते–देते चीन की हालत खस्ता हो गई थी इसके कारण जनता पर करों का भार बढ़ता गया। चीनी उद्योगों का दिवाला निकल गया। कारीगर और दस्तकार बेरोजगार हो गए। इन परिस्थितियों में जनता के असंतोष ने एक व्यापक आन्दोलन का रूप ले लिया जिसे **'बाक्सर विप्लव'** कहते हैं।

NOTES

इस विप्लव का मुख्य कारण चीन के लोगों के साथ ईसाई मिशनरियों का अपमानजनक व्यवहार था, इसका प्रमाण यह है कि जब विद्रोह प्रारम्भ हुआ तो विद्रोहियों ने सबसे पहला लक्ष्य इन मिशनरियों को बनाया। विदेशियों को चीन से बाहर निकालने के लिए कई संस्थाओं की स्थापना की। इनमें **'को लाओ हुई'**, **'ता लाओ हुई'** तथा **ई–हो–छुआन** प्रमुख थीं। **ई–हो–छुआन** के सदस्य मन और स्नायु को समन्वित करने के लिए तरह–तरह के आसन और व्यायाम करते और मुट्ठी बन्द कर अनेक शारीरिक प्रयोग करते थे, इससे उसका नाम मुक्केबाज पड़ गया था। प्रारम्भ में उनका नारा था **'मंचुओं को हटाओ'** और **'विदेशियों का नाश करो'** बाद में उनके नेता चूहेंग–तिंग ने नारा बदल दिया **'मंचू की रक्षा करो और विदेशियों का नाश करो।'**

जब इन बाक्सरों ने अपने आपको ठीक तरह से संगठित किया तो उन्होंने विद्रोह कर दिया, इस विद्रोह के निम्नलिखित कारण थे –

(i) चीन की विदेशियों द्वारा लूट–खसोट,

(ii) धार्मिक कारणों में ईसाई मिशनरियों द्वारा अपमानजनक व्यवहार,

(iii) चीन की मंचू सरकार की दुर्बलता,

(iv) चीन में विदेशियों को विशेष सुविधाएँ मिलना,

(v) चीन की कमजोर आर्थिक हालत,

(vi) पूर्व में किए गए सुधारों की असफलता।

## 8.8 विद्रोह का प्रारम्भ और दमन

चीन के इन मुक्केबाजों ने अपने आपको सुसंगठित करके 1899 में शान्तुंग प्रदेश से अपना विद्रोह प्रारम्भ किया, इसके बाद 1899 ई. के समाप्त होते–होते यह शान्सी, मंचूरिया तथा चरली में फैल गया। चीन के लोग खुले रूप में विदेशियों पर आक्रमण करने लगे। इनका मुख्य लक्ष्य पादरी वर्ग बनता था। शान्तुंग के गवर्नर ने मुक्केबाजों को और भड़काया और वहाँ कई विदेशियों को मार दिया गया। 1900 ई. के लगभग पीकिंग में यह विद्रोह प्रारम्भ हो चुका था। उन्होंने विदेशी दूतावासों को घेर लिया और जब उन्हें यह पता चला कि सैनिकों को बुलाया जा रहा है तो उन्होंने रेल की पटरियों को उखाड़ दिया, इसके अलावा यातायात के सभी साधनों को नष्ट कर दिया गया। 10 जून को बाक्सरों ने पीकिंग में घुसकर तीन्तसिन से आई सेना को मार भगाया। 11 जून को जापानी राजदूत की हत्या कर दी और 13 जून को सभी विदेशी दूतावासों पर हमले बोले गए।

बाक्सर विद्रोहियों का उत्साह और उनकी सफलता देखकर मंचू शासन को यह विश्वास हो गया कि ये लोग अब सफल हो जायेंगे। अतः उसने इनका साथ देना प्रारम्भ किया। अगले दिन चीनी शासन ने विदेशियों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी, इसके विरुद्ध विदेशियों ने संयुक्त सेना का गठन किया जिसमें, जापानी, रूसी, ब्रिटिश और अमेरिकी सैनिक शामिल किए गए। 14 जुलाई को उन्होंने विद्रोहियों के मुख्य गढ़ तीन्तसिन पर धावा बोला और कई दिनों की लड़ाई के बाद उस पर कब्जा कर लिया। अन्ततः विद्रोह को दबा दिया गया, इस विद्रोह की असफलता के मुख्य कारण थे – जनता में एकता का अभाव, चीन के विभिन्न प्रांतों के सूबेदारों ने विदेशियों का साथ दिया, मंचू शासन की अवसरवादिता इत्यादि।

### बाक्सर प्रोटोकाल

सात सितम्बर, 1904 में एक समझौता हुआ जिसे बाक्सर प्रोटोकाल कहा जाता है, इसकी निम्नलिखित शर्तें थीं –

(i) चीन विद्रोह में हुई हानि के हर्जाने के रूप में 33,30,00,000 डालर 391 वार्षिक किश्तों में अदा करेगा, इसकी अदायगी के लिए नमक कर और समुद्री व्यापार की चुंगी की जमानत देगा।

(ii) विद्रोह में भाग लेने वालों को मृत्यु दण्ड दिया जाएगा। जिन प्रान्तों में विदेशियों का कत्ले आम हुआ था, उन प्रान्तों के नागरिकों को सरकारी सेवा से वंचित करने के लिए पाँच वर्षों तक प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने से वंचित कर देना था।

(iii) पीकिंग में दूतावास की रक्षा के लिए स्थायी रूप से विदेशी सेना रहेगी। ताकू की किलाबन्दी तोड़ दी जाएगी।

(iv) संगुनी यामिन के बजाय विदेश कार्यालय खोला जाएगा और सम्राट से मिलने की औपचारिकता समाप्त कर दी जाएगी।

(v) विदेशी माल पर आन्तरिक चुंगी खत्म की जाएगी और उसकी जगह साढ़े सात प्रतिशत का अतिरिक्त कर लगाया जाएगा। खानों पर से पाबन्दी उठाई जाएगी जिससे विदेशी धन इस ओर आकृष्ट हो सके। सब देशी चुंगी की चौकियाँ विदेशीकर विभाग की निगरानी में काम करेगी।

(vi) मुकदेन और शान्तुंग में विदेशियों को रहने और व्यापार करने की पूरी सुविधा होगी और तीन्तसिन को चीन की सरकार खाली कर देगी और इसे विदेशियों के कब्जे में कर दिया जाएगा।

(vii) चीन सरकार प्रान्तीय गवर्नरों को अलग–अलग आज्ञप्तियाँ देगी जिसमें इस बात का आदेश दिया जाएगा कि वे विदेशी विरोधी किसी भी विद्रोह को तत्काल दबाने में सक्रिय कदम उठायेगी।

(viii) विदेशी राज्यों के साथ चीन ने जितनी संधियाँ की हैं इसमें समयानुसार परिवर्तन हो।

(ix) दो वर्षों के लिए चीन में हथियार, गोला बारूद और युद्ध सामग्री के आयात और निर्यात की मनाही रहेगी, इसे विदेशियों की इच्छा के अनुसार दो वर्ष के लिए आगे बढ़ाया जा सकता है।

(x) जर्मनी और जापान के राजदूतों की हत्या के लिए चीन की सरकार माफी माँगेगी और इसके लिए उसका एक प्रतिनिधि दल बर्लिन तथा टोक्यो जाएगा। जिस स्थान पर जर्मन राजदूत की हत्या हुई थी वहाँ उसका स्मारक बनाया जाएगा।

बाक्सर विद्रोह का जो तात्कालिक महत्वपूर्ण परिणाम हुआ वह यह कि चीन में रूस की सेनाओं को रुके रहने का बहाना मिल गया जो कि रूस जापान युद्ध का कारण बना, इसके अलावा दूसरा परिणाम 1911 की चीनी क्रान्ति के रूप में सामने आया, इसके बाद चीनी सरकार के प्रति जनता के विचार और अधिक उग्र हो गए। बाक्सर विद्रोह के नेता भूमिगत होकर अन्दर ही अन्दर क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे, इसके अलावा वहाँ की मंचू सरकार ने चीन में सुधारों की आवश्यकता को महसूस किया और राजमाता त्जु शी ने सुधारों का एक विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया, इसके दूरगामी परिणामों में चीन में साम्यवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

## 8.9 1911 ई. की चीनी क्रान्ति (CHINESE REVOLUTION - 1911)

चीन में जापान के साथ युद्ध के बाद से ही विदेशियों द्वारा शोषण और लूट का बाजार गर्म हो गया था। 1898 में चीनी सम्राट ने सुधारों के लिए कुछ आदेश जारी किए, परंतु यह स्वीकार्य नहीं हुए, इसके बाद वहाँ बाक्सर विद्रोह हुआ। यद्यपि विद्रोह दबा दिया गया, परंतु चीन में सुधारों की आवश्यकता शिद्दत के साथ महसूस की गई और मंचू शासन ने सुधारों का एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। 1908 में सरकार ने नौ वर्ष के सांविधानिक कार्यक्रम की घोषणा

NOTES

की, इसके माध्यम से शिक्षा तथा आर्थिक क्षेत्र में कुछ सुधार किए गए, परंतु इसी बीच साम्राज्ञी की मृत्यु हो गई और सम्राट भी उनके पहले मर चुके थे। शासन के नए संरक्षक ने शासन का मंचूकरण करना प्रारम्भ कर दिया, इससे चारों तरफ असंतोष फैल गया। देश में अराजकता का माहौल बन गया और अफरा–तफरी मच गई, इसी वातावरण में 1911 में वहाँ क्रान्ति हुई और इसके परिणामस्वरूप मंचू शासन का अन्त हो गया।

गरीबी, भुखमरी और अव्यवस्था जनता को क्रान्ति का सन्देश देती थी और सम्राट को हटाने के लिए प्रेरित करती थी। **कन्यूशियस** ने कहा था कि **"पाप और दुराचार की अवस्था में पुत्र का कर्तव्य पिता का विरोध और मंत्री का कर्तव्य राजा का विरोध करना है।"** मेन्शियस ने लिखा है कि "यदि राजा अपनी प्रजा को घास और मिट्टी समझे तो प्रजा को उसे दस्यु और शत्रु समझना चाहिए।" इस तरह के विचार चीनी जनता में हमेशा जागरूकता बनाए रखते थे और यही जागरूकता क्रांति और विद्रोह के रूप में प्रकट होती थी। 1911 ई. की क्रान्ति भी इसी जागरूकता का परिणाम थी।

### बोध प्रश्न

1. 1911 ई. की चीनी क्रांति का वर्णन कीजिए?

........................................................................................................................

........................................................................................................................

........................................................................................................................

2. चीन में नवम्बर आंदोलन का वर्णन कीजिए?

........................................................................................................................

........................................................................................................................

........................................................................................................................

## 8.10 क्रान्ति के कारण (CAUSES OF THE REVOLUTION)

**(1) मंचू शासन की असफलता और विदेशी शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया** – दो अफीम युद्धों के बाद चीन की हालत जर्जर हो चुकी थी। उसका सारा स्वाभिमान बिखर चुका था। यूरोपीय साम्राज्यवाद ने चीन की बंदरबाँट की और उस पर आर्थिक प्रभुत्व कायम किया। चीन में विदेशियों को कई विशेषाधिकर प्राप्त थे। जिनके कारण चीन की प्रभुता नाम मात्र की रह गई थी। चीन की देश भक्त जनता इस स्थिति से क्षुब्ध थी और वह समझ चुकी थी कि विदेशी हस्तक्षेप से मुक्ति के बिना चीन का शोषण नहीं मिट सकता, इसके विरुद्ध ताईपिंग विद्रोह हुआ जिसे दबा दिया गया था। उन्नीस वीं शताब्दी के अन्त में विदेशी शोषण के कारण चीनियों का जीवन असह्य हो गया था। अतः 1900 में बाक्सर विद्रोह हुआ – जिसका आधार विदेशी विरोधी भावना थी। जब यह विद्रोह भी दबा दिया गया तो अब चीनी जनता के पास एक व्यापक क्रान्ति के अलावा कोई चारा नहीं रह गया था।

इस सारी बदतर स्थिति के लिए वहाँ की सरकार जिम्मेदार थी। मंचू सम्राट एकदम निर्बल हो गए थे, इस समय चीन की शासन व्यवस्था पूर्णतः विकृत हो चुकी थी। पीकिंग सरकार एकदम निर्बल थी और चीनी साम्राज्य के विविध प्रान्तों पर नाममात्र के लिए भी उसका नियंत्रण नहीं था, इस स्थिति में सरकार को बदलना ही एक मात्र उपाय था और यह कार्य बिना क्रान्ति के सम्भव नहीं था।

**(2) सुधारों की असफलता** – चीन में सुधारों के लिए कई दिनों से संघर्ष हो रहा था, लेकिन साम्राज्ञी त्जु–शी एक प्रतिक्रियावादी शासिका थी और वह शासन व्यवस्था में किसी

तरह का सुधार नहीं चाहती थी। बाक्सर विद्रोह के उपरांत चीन के सुधारवादियों ने साम्राज्ञी को कुछ सुधार कार्य लागू करने को तैयार किया, इसके द्वारा शिक्षा और सैनिक संगठन में कई सुधार किए गए। यह सुधार कार्य अत्यन्त धीमी गति से लागू हो रहे थे, इसी बीच साम्राज्ञी की मृत्यु हो गई और उनके बाद शासन का मंचू करण होने लगा, इससे जनता में व्यापक असंतोष फैला और अब इस शासन को समाप्त करने के लिए क्रान्ति के अलावा कोई चारा नहीं रहा।

**(3) नए क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव –** चीन की शिक्षा पद्धति में सुधार के कारण चीनी युवकों का यूरोप तथा अमेरिका के देशों में जाना प्रारम्भ हुआ वे वहाँ के विचारों से प्रभावित हुए, इस समय तक जापान में कई चीनी युवक निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे। जापान में इन लोगों ने क्रान्तिकारी संगठन कायम किए। चीन के जो विद्यार्थी जापान जाते थे, उनका संबंध इन क्रान्तिकारी संगठनों से अनिवार्य रूप से होता था और जब वे स्वदेश लौटते थे तो क्रान्तिकारी विचारों से ओत–प्रोत होते थे। **लियोग–छी–छाओ** ने जापान में रहकर पाश्चात्य विद्याओं का अध्ययन किया और व्यक्तिवाद, नागरिकता, उद्योग, व्यापार और सम्राट की जगह राष्ट्र के प्रभुत्व, पारिवारिक कानूनों की जगह सार्वजनिक कानूनों का महत्व, संसद और संविधान तथा लोकतान्त्रिक सरकार का समर्थन और प्रतिपादन किया। इन विचारों के प्रसार के लिए उसने **'छिंग–ई–पाओ'** (लोकमत), **'शिन मिन त्सुंग–पाओ' (लोकोद्धार) और 'कुओ फेंग–पाओ' (राष्ट्रीय आत्मा)** नामक पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, इसके अलावा उसने 1907 में **'चेंग–वेन–शे'** नामक संस्था बनाई। इनके अतिरिक्त **थांग त्साई–छांग** ने होनान में **'त्जू–ली हुई' (स्वतंत्र समाज)** कायम किया, इस युग में पश्चिमी साहित्य की अनेक कृतियों का चीनी अनुवाद हुआ और लोगों ने उनसे प्रेरणा ग्रहण की तथा नए विचारों नें चीनियों को विद्रोह और क्रान्ति के लिए उत्साहित किया।

**(4) आर्थिक शोषण और चीनियों की दुर्दशा –** चीन की क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण था चीन का आर्थिक शोषण और देश की दुर्दशा। चीन की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी लेकिन सरकार भोजन का इन्तजाम नहीं कर पा रही थी, इसके साथ प्राकृतिक प्रकोप दुर्भिक्ष तथा बाढ़ों से फसलें खराब हो रही थीं। विदेशी प्रभुत्व वाले क्षेत्रों में अत्यधिक कर वसूले जाते थे। 1910–1911 में चीन की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ आई, इससे फसल तो नष्ट हुई, हजारों गाँवों में पानी भर गया। ऐसा कहा जाता है कि कान्ति के एक वर्ष पहले ही लगभग तीन लाख जनता गरीबी और भुखमरी से मर गई थी। सरकार ने इस स्थिति में जनता की सहायता का कोई प्रबन्ध नहीं किया, इस स्थिति में जनता का क्रान्ति करने पर उतर आना स्वाभाविक ही था।

**(5) चीन के मजदूर वर्ग का प्रभाव –** आर्थिक दुर्दशा से उत्पन्न बेरोजगारी और आजीविका के साधनों के अभाव में चीन का मजदूर वर्ग सबसे पहले अमेरिका पहुँचने लगा। जब बहुत अधिक संख्या में चीनी अमेरिका में बसने लगे तो अमेरिका ने उनका आगमन प्रतिबंधित कर दिया, इसके बाद वे आस–पडोस के देशों में जाकर बसने लगे, इससे वे सब पश्चिमी देशों तथा विचारों के सम्पर्क में आए, इस सम्पर्क से चीनियों में क्रान्ति की भावना बढ़ने लगी।

**(6) क्रांतिकारी प्रवृत्तियों का विकास –** चीन में बाक्सर विद्रोह के तुरंत बाद नई क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ जन्म लेने लगी थीं। इन गतिविधियों में सबसे महत्वपूर्ण डॉ. सनयात सेन के कार्य थे। चीन के क्रांतिकारियों को संगठित करने में डॉ. सेन का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ था। उसने हवाई द्वीप में प्रवासी चीनियों को **'शिंग चुंग हुई'** में संगठित किया और इसके द्वारा चीनी क्रांति के लिए धन इकट्ठा करना प्रारम्भ किया। चीन के नवयुवक छात्रों पर डॉ. सेन का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। 1901 में टोकियो में रहने वाले चीनी छात्रों ने अपना एक संगठन बनाया और उसके माध्यम से प्रान्तीय अधिकारियों को केन्द्रीय शासन से अलग होने की घोषणा करने की प्रेरणा दी।

सितम्बर, 1905 में चीन के अट्ठारह प्रान्तों में कई सौ छात्रों ने मिलकर उसके नेतृत्व में **'शुंग मेंग हुई'** पार्टी की स्थापना की , इस पार्टी के माध्यम से चीन में तेजी से क्रांतिकारी

भावनाओं का विकास हुआ। अप्रैल 1911 में लगभग सौ क्रांतिकारियों ने कैण्टन के वायसराय के दतर पर धावा बोल दिया। अन्त में क्रांतिकारी पकड़े गए और उनकी हत्या कर दी गई, इस घटना को **'वृहत्तर वीरों का बलिदान'** कहते हैं, इसने राष्ट्रीय मानस को आलोडित कर दिया और अनेक युवकों को क्रांति में शामिल होने की प्रेरणा दी।



**तात्कालिक कारण** – इस समय पीकिंग की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध प्रान्तीय शासकों में विरोध की भावना विकसित हो रहीं थी। विदेशी चीन में तेजी से रेलवे लाइन बिछा रहे थे, परंतु चीन के कई प्रान्तपति चाहते थे कि उन्हें ही रेलवे लाइनों के निर्माण का अधिकार मिले, इस विषय पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच मतभेद बहुत बड़ा गया, इसी समय जब एक विदेशी कम्पनी को रेलवे लाइन बनाने का अधिकार दे दिया गया तो क्रांति की लहर चारों ओर फैल गई।

**हाँको की घटना और क्रांति का विस्फोट–** 10 अक्टूबर, 1911 को हाँको की रूसी बस्ती में एक घर में एक बम फट गया। यह घर क्रांतिकारियों का अड्डा था, जहाँ बम बनाने का काम होता था। यहीं से क्रांति की शुरुआत हुई।

**क्रांति की प्रमुख घटनाएँ** – चीन की यह क्रांति सुनियोजित नहीं थी। पूरे देश में अलग–अलग विद्रोह हुए, परंतु वे आपस में संबद्ध नहीं थे। अतः इसे स्वतंत्र विद्रोहों की एक श्रंखला माना जाता है, इसका प्रारम्भ 10 अक्टूबर, 1911 को हाँको में एक बम फटने से हुआ था। पुलिस ने जब उस घर की तलाशी ली तो वहाँ क्रांतिकारियों की एक सूची भी मिल गई, इस डर से कि पुलिस अब आगे कार्यवाही करेगी बूचांग स्थिति सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। इन सैनिकों ने अपने सेनापति कर्नल **ली युआन–हुँग** को विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए तैयार कर लिया, इस तरह चीन की यह क्रांति बूचांग से प्रारम्भ हुई और शीघ्र ही अन्य प्रदेशों में फैल गई। बूचांग के विद्रोही सैनिकों ने बुचांग, हैनयांग तथा हांको पर अधिकार कर लिया।

क्रांति के विस्तार और नेतृत्व के संबंध में डॉ. दीनानाथ वर्मा लिखते हैं – "विद्रोह की आग तुरंत ही सम्पूर्ण देश में फैल गई। फ्रांति की ज्वाला तेजी से यांगत्सी तट पर ऊपर, नीचे तथा दक्षिण की ओर फैलने लगी। दक्षिण में कुछ समय के लिए शान्तुग प्रान्त ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी, यद्यपि वह शीघ्र ही केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आ गया। चिहली में भी विशेषकर सैनिकों में विद्रोह की भावना फैली, किन्तु यांगत्सी के उत्तर में शान्सी प्रान्त को छोड़कर, केन्द्रीय शासन के प्रति निष्ठावान रहे और वहाँ शासन सुदृढ़ रहा। पूरा आन्दोलन एकाएक और स्वतंत्र रूप से दुए विद्रोहों की श्रंखला लगता था, सुनियोजित क्रांति नहीं, इसका एक कारण यह था कि क्रांतिकारी पहले विभिन्न केन्द्रों में क्रांतिकारी भावनाओं को उभारना चाहते थे। इन छिट–पुट विद्रोहों का एक दूसरा कारण यह भी था कि क्रांति के समर्थकों के गुट अनिवार्यतः स्थानीय स्तर पर बनाए गए थे, राष्ट्रीय स्तर पर नहीं और उनकी योजनाएँ भी स्थानीय स्तरों पर बनी थीं। यह दावा भी किया गया कि बाद में किसी तिथि को एक साथ सभी क्रांतिकारी गुटों के विद्रोह कर देने की योजना बनी थी, किन्तु हाँको में बम फटने और उसके बाद की पुलिस कार्यवाही के कारण विद्रोह कर देना अनिवार्य हो गया। जो भी हो यही तथ्य सामने आया कि क्रांति का कोई केन्द्रीय निर्देशन एक बहुत बाद की तिथि तक नहीं हो रहा था। मूल नेतृत्व बूचांग में केन्द्रित था, यद्यपि इसका अन्य स्थानीय गुटों की कार्यवाहियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। अन्ततः, आन्दोलन को सुनियोजित करने के लिए सभी स्वतंत्र प्रान्तों से अपने–अपने प्रतिनिधि बूचांग भेजने का अनुरोध किया गया, ताकि एक क्रांतिपरिषद की स्थापना हो सके। एक प्रतिज्ञा पत्र भी तैयार किया गया, जो बाद में गणतंत्र के अस्थायी संविधान के आधार–रूप में नानकिंग में स्वीकृत हुआ।"

12 फरवरी, 1912 को एक समझौता हुआ जिसमें गणतंत्र की स्थापना पर बल दिया गया, इस क्रांति के बाद केन्द्रीय सरकार और क्रांतिपरिषद के बीच जो समझौता हुआ उसके अनुसार–

1. मंचू शासन की समाप्ति,

2. मंचू राजवंश को वित्तीय सहायता का वचन दिया गया,
3. इस राजवंश के लोगों की सुरक्षा का वचन दिया गया।

इस समझौते के बाद **युआन–शि–काई** को चीनी गणतंत्र का अस्थायी राष्ट्रपति चुना गया, इस तरह अब चीन में मंचू राजवंश के शासन का अन्त हो गया।

## 8.11 चीन में साम्यवाद का उदय एवं स्थापना

डॉ. सनयात के प्रयासों से चीन में 1911 में राज्य क्रांति सम्पन्न हुई, किन्तु उनके पद त्याग के पश्चात् यूआनशिकाई ने स्वेच्छाचार शासन स्थापित करने का प्रयास किया। डॉ. सनयात सेन ने अपने तीन सिद्धांतों – **राष्ट्रीयता, जनतंत्र और समाजवाद** के आधार पर चीन का निर्माण करने का प्रयास किया था, किन्तु 12 मार्च, 1925 को उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के दो महत्वपूर्ण किन्तु परस्पर विरोधी परिणाम हुए। प्रथम डॉ. सनयात सेन रातों–रात राष्ट्रीय चीन व कुओमिन्तांग दल के जननायक बन गए, उनका वसीयतनामा दल के लिए पवित्र सिद्धांत बन गया और **"जनता के तीन सिद्धांत"** राष्ट्रवादियों का धर्म ग्रन्थ हो गया।

इसका दूसरा परिणाम भी प्रकट हुआ, वह यह था कि उनकी मृत्यु से दल के नेतृत्व के लिए सैद्धांतिक मतभेद आरंभ हो गए। इन सैद्धांतिक मतभेदों का कारण डॉ. सेन द्वारा अपनी बातों को सामान्य या आम ढंग से कहना था, जिससे उन्हें लागू करने में व्याख्या भेद की गुंजाइश रह जाती थी, इस मतभेद में दल का वामपक्ष अधिक सुविधाजनक स्थिति में था और इसे साम्यवादी सदस्यों का समर्थन भी प्राप्त था, इसके अलावा दल के केन्द्रीय संगठन पर इसको नियंत्रण भी प्राप्त था। क्वांगतुक के कुलीनों व केण्टन के व्यापारियों के विरुद्ध संघर्ष में विजयी होने के कारण केण्टन पर इनका कब्जा था। दल के भीतर के संघर्ष की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि रूस के साथ किस तरह के संबंध रखे जाएँ। डॉ. सनयात सेन ने 1924 में कोदो में दिए अपने अन्तिम भाषण में कहा था कि – **"विश्व के सभी अविकसित देशों के दलित लोगों को रूस की मिसाल पर चलने की जरूरत है।"** किन्तु चीन में जब साम्यवादी प्रचार आरंभ हुआ तो वहाँ फूट, संघर्ष और प्रतिक्रिया के दर्शन होने लगे। रूस की सहायता से यद्यपि कुओमिन्तांग दल ने चीन में भारी सफलताएँ प्राप्त की, किन्तु साथ ही वहाँ आतंकवाद और प्रतिआतंकवाद का दौर आया जिसके कारण चीन की सहानुभूति साम्यवाद से हटने लगी।

## 8.12 चीन में कुओमिन्तांग दल में विभाजन

चीन में कुओमिन्तांग दल में विभाजन का मूल कारण था रूस के द्वारा साम्यवादी और बोल्शेविक कार्यक्रम चलाने का प्रयास करना, इससे कुओमिन्तांग दल के नेता रूस के विरुद्ध हो गए और उनमें आपसी मतभेद प्रारंभ हो गए। जो लोग रूस के विरुद्ध थे वे लोग ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी ताकतों का सहारा लेने लगे, इससे कुओमिन्तांग दल में विभाजन होने की स्थिति उत्पन्न हो गई। नवम्बर, 1925 में कुओमिन्तांग दल के व्यापारी और जमींदार वर्ग के लोगों ने पीकिंग के पश्चिमी पहाड़ियों में बैठक की और रूसी सलाहकारों और साम्यवादी सदस्यों को संस्था से निकालने का कार्यक्रम बनाया, इस संस्था के दूसरे सम्मेलन में साम्यवादियों को दल से अलग कर दिया। 1927 में जब कम्युनिस्ट लोग दल से अलग हो गए, तो उन्होंने चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। 1931 में उनकी शक्ति का प्रधान केन्द्र कियात्सी था। यह प्रांत क्वांगतुग प्रांत के उत्तर में स्थित था, इसमें कम्युनिस्ट लोगों ने अपनी सरकार की सत्ता स्थापित कर ली थी। धीरे–धीरे वे फूकिएन, हूनान व आन्हुई प्रांतों के अनेक भागों में भी अपनी सत्ता का विस्तार करते रहे। क्यांगसी की कम्युनिस्ट सरकार नानकिंग को कुओमिगतांग सरकार को स्वीकार नहीं करती थी, इस समय वहाँ च्वांगकाईशेक सत्ता में था।

1932 में चीन की कम्युनिस्ट सरकार के अधीनस्थ प्रदेशों का क्षेत्रफल, 3,30,000 वर्ग मील के लगभग था और उनमें निवास करने वालों की संख्या 9 करोड़ थी, इससे चीन में कम्युनिस्टों की बढ़ती हुई शक्ति को जाना जा सकता है। 1931 ई. में प्रथम **"अखिल चीनी सोवियत सम्मेलन"** आयोजित किया गया, इसमें चीन सोवियत गणतंत्र का संविधान स्वीकार किया गया, इसी सम्मेलन में एक केन्द्रीय समिति बनाई गई, इस समिति का अध्यक्ष माओत्से तुंग को बनाया गया और इसमें 61 सदस्य थे।

## 8.13 साम्यवादियों का दमन और उनका महाप्रस्थान

चुंगकिंग या नानकिंग की च्यांगकाईशेक की सरकार क्यांग्सी की साम्यवादी सरकार को परास्त करने की योजना बनाने लगी, इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर च्यांगकाईशेक ने 1933 में चार बार साम्यवादियों पर आक्रमण किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। 1934 में उसने पूरी ताकत साम्यवादियों के दमन करने में झोंक दी। च्वांगकाईशेक जिस ढंग से साम्यवादियों पर अत्याचार कर रहा था उससे अब यह संभव नहीं था कि वे कियांग्सी प्रान्त व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अपने प्रभाव को स्थापित रख सके। 1934 में लाखों साम्यवादियों को मौत के घाट उतार दिया गया था। अतः साम्यवादियों ने यही उचित समझा कि वे च्वांग काईशेक की सेनाओं का मुकाबला करने की अपेक्षा उत्तर की ओर शेन्सी प्रान्त की ओर प्रस्थान कर दें और वहाँ जाकर अपनी शक्ति का पुनर्गठन करें। जब च्यांग काईशेक को साम्यवादियों के प्रस्थान की सूचना मिली तो उसने उनके दमन का यह स्वर्ण अवसर समझा और इस **"मृत्यु प्रस्थान"** की संज्ञा से नवाजा। साम्यवादियों द्वारा क्यांग्सी से शेन्सी तक की यह यात्रा **"महाप्रस्थान"** के नाम से जानी जाती है। लगभग 6 हजार मील की यह यात्रा 16 अक्टूबर, 1934 से प्रारंभ हुई और 20 अक्टूबर, 1935 में समाप्त हुई। साम्यवादी लोग शेन्सी पहुँच गए। साम्यवादियों की इस ऐतिहासिक यात्रा का नेतृत्व **माओत्से तुंग** और **कमाण्डर सूते** को जाता है। **यहाँ येनान नगर को अपनी राजधानी बनाकर उन्होंने अपनी सरकार का पुनर्गठन किया।** शेन्सी प्रांत का उत्तरी भाग और कान्सू प्रांत का उत्तर पूर्वी भाग उनके अधिकार में आ गया था। अपने राज्य में साम्यवादियों ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की ओर च्यांगकाईशेक की कुओमिन्तांग सरकार से संघर्ष की तैयारी आरंभ की दी।

साम्यवादियों का यह नया राज्य जापान द्वारा अधिकृत उत्तरी चीन के निकट था, इसलिए उनका ध्यान चीन पर निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने यह महसूस किया कि चीनी लोगों को आपसी मतभेद भुलाकर परस्पर मिलकर जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबला करना चाहिए। 1936 में साम्यवादी सरकार ने अपने उद्देश्यों को इस प्रकार प्रकट किया–

(i) विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला मिलकर करना।

(ii) जनता को शासन संबंधी अधिकार प्रदान करना।

(iii) देश की आर्थिक उन्नति करना।

साम्यवादियों के लक्ष्यों से चीन की जनता आकर्षित हुई और चीन में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा।

## 8.14 साम्यवादियों और कुओमिन्तांग के बीच समझौता

चीन में साम्यवादियों और कुओमिन्तांग दलों के बीच समझौते की स्थिति तो बाद में बनी इसके पूर्व चीन को गृह युद्ध की परिस्थिति को झेलना पड़ा था। वास्तव में च्याग काईशेक साम्यवादियों के साथ कोई भी समझौता नहीं करना चाहता था। उसकी कोशिश थी कि सम्पूर्ण चीन में शेन्सी प्रान्त सहित कुओमिन्तांग दल का ही शासन हो। उसका सोचना था कि जापान

से युद्ध करने से पहले साम्यवादियों को समाप्त किया जाना चाहिए, इससे राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकेगी। च्यांगकाईशेक ने साम्यवादियों के दमन के लिए अपनी सेना को भेजा, परन्तु साम्यवादी अपने ही चीनी भाइयों के साथ नहीं लड़ना चाहते थे, इसलिए उन्होंने च्यांग काईशेक की सेना को आपस में युद्ध न करने के लिए तैयार कर लिया। जब इस बात का पता च्यांग काईशेक को चला तो वह स्वयं एक सेना लेकर शेन्सी प्रान्त की ओर गया तब उसके द्वारा पूर्व में भेजी गई सेना के सेनापति ने साहसपूर्वक कदम उठाते हुए च्यांग काईशेक को गिरफ्तार कर लिया। उसने च्यांग काईशेक के सामने कुछ शर्तें प्रस्तुत कीं, परन्तु वह किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्त में 25 दिसम्बर, 1936 ई. को उसे रिहा कर दिया गया, इसके बाद ही चीन में गृहयुद्ध बन्द हो सका, इसके अतिरिक्त चीन की जनता भी आपसी लड़ाई की अपेक्षा जापान से युद्ध करने के अधिक पक्ष में थी।

इस परिस्थिति में दोनों दलों के बीच समझौते की बातचीत प्रारंभ हुई। अब च्यांग काईशेक भी साम्यवादियों की इस बात से सहमत हो गया कि इस समय आपसी मतभेद भुलाकर मिलकर जापान का मुकाबला करना चाहिए, इस स्थिति में ही दोनों के बीच एक समझौता हो सका। यह समझौता 10 फरवरी, 1937 को हुआ, इसके अनुसार –

(i) इस समझौते की पहली शर्त साम्यवादियों के पक्ष में थी कि उनका जिन प्रदेशों पर शासन इस समय था वह यथावत रहेगा।

(ii) इन प्रदेशों में साम्यवादियों का स्वतंत्र एवं पृथक राज्य होगा। यद्यपि यह राज्य चीन के अन्तर्गत ही रहेगा तथापि वह प्रशासन की दृष्टि से साम्यवादियों के अधिकार में होगा।

(iii) साम्यवादियों की सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक अंग स्वीकार कर लिया गया, इस सेना को आठवीं सेना का नाम दिया गया और जापान के साथ युद्ध में साम्यवादियों की सेना च्यांग काईशेक के आदेशों के अनुसार कार्य करेगी।

### बोध प्रश्न

1. चीन में साम्यवाद के उदय का वर्णन कीजिए?

.................................................................................................

.................................................................................................

.................................................................................................

2. साम्यवादियों के दमन का वर्णन कीजिए?

.................................................................................................

.................................................................................................

.................................................................................................

## 8.15 द्वितीय चीन–जापान युद्ध – 1937 (SINO - JAPANESE WAR-II)

यह वह समय था जबकि जापान में साम्राज्यवाद का विकास तेजी से हो रहा था। सैनिकवादी शासन चल रहा था। इधर चीन में कुओमिन्तांग और साम्यवादियों में संघर्ष चल रहा था। जापान के लिए यह संघर्ष उसकी साम्राज्य विस्तार की नीति को पूरा करने का सुनहरा अवसर था। अतः उसने अपनी तैयारी चालू रखी। वह अपनी कूटनीति और सैनिक तैयारियाँ करता रहा, परंतु जापान में भी सैनिक और असैनिक शासन को लेकर नेताओं में आपसी मतभेद थे। सैनिकवाद के समर्थक नेताओं में तथा असैनिक नेताओं में एक समझौता हुआ और विस्तृत कार्यक्रम की घोषणा की गई, इसमें साम्राज्य विस्तार को मुख्य लक्ष्य के रूप में रखा गया, इसके अलावा जापान ने जर्मनी और इटली से संधियाँ करके अपनी अन्तरराष्ट्रीय स्थिति को मजबूत बना लिया और

NOTES

अपनी दिशा एक बार फिर से साम्राज्यवाद के विकास की ओर कर ली, इसके बाद उसने चीन को जीतने का संकल्प कर लिया।

इधर चीन में 1936 में कुओमिन्तांग और साम्यवादियों के बीच जापान से संघर्ष करने के लिए समझौते पर बातचीत होने लगी, इससे जापान को चिन्ता होने लगी क्योंकि उसका लाभ दोनों दलों के बीच संघर्ष होते रहने में ही था, इस कारण उसने चीन पर तुरंत सैनिक कार्यवाही का निर्णय किया।

## युद्ध का प्रारम्भ

जुलाई, 1937 में जापान और चीन के बीच एक घटना घट गयी जिससे युद्ध का आरम्भ माना जाता है। यह घटना थी मार्कोपोलो पुल की घटना। जापानी सेना पीकिंग के पास एकत्र हो रही थी। एक रात जापान की सेना ने अपने अधिकृत क्षेत्र से बाहर निकलकर युद्ध का अभ्यास किया, इस अभ्यास के दौरान उनका एक सैनिक गायब हो गया। उन्हें यह शक हुआ कि वह वानपिंग नगर में है और उसने उस शहर में जाने की अनुमति माँगी तो चीनी अधिकारियों ने मना कर दिया। इन दोनों के बीच था मार्कोपोलो नामक पुल। जापानी सेना ने इसे पार करने की कोशिश की तो चीनी सेना ने उन्हें रोका और जवाब में जापानी सेना ने गोलीबारी करना प्रारम्भ कर दी। यहाँ जापान का लक्ष्य था इस क्षेत्र पर अपना अधिकार करना, इसके बाद 25 जुलाई को जापानी सेना ने लांगफांग और वानपिंग में चीनी सेना से युद्ध किया, इसके दूसरे ही दिन टोक्यो सरकार ने पीकिंग–तीन्तसिन क्षेत्र पर अपना कब्जा जमाने का प्रस्ताव किया और वहाँ की सरकार द्वारा विरोध करने पर उसने युद्ध की धमकी दी। 29 जुलाई, को जापानी सेना ने तीन्तसिन क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और आठ अगस्त को पीकिंग पर भी जापान ने अधिकार कर लिया। 13 अगस्त, को जापानी सेना ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया और इस तरह यॉगत्सी घाटी में भी युद्ध प्रारम्भ हो गया।

चीन के उत्तरी क्षेत्र में जापान की सेनाओं ने वहाँ के रेल मार्गों से बढ़ना प्रारम्भ किया, इस रास्ते पर जापानी सेनाओं का सामना साम्यवादियों ने किया और उन्होंने कई जगह सफलताएँ अर्जित कीं। इधर चीन ने जापानी आक्रमण की शिकायत राष्ट्रसंघ में की, परंतु राष्ट्रसंघ इस मामले में भी कुछ नहीं कर सका। 5 नवम्बर को जापान की एक सेना हांगचो में पहुँच गयी और दिसम्बर में नानकिंग में दोनों के बीच भयंकर युद्ध हुआ, इस संघर्ष में कुओमिन्तांग दल की सेना लगभग समाप्त हो गई। 13 दिसम्बर को जापान की सेना ने नानकिंग पर कब्जा कर लिया, इसके बाद हांगचो भी जापानियों के अधिकार में चला गया।

नानकिंग पर जापानियों का अधिकार हो जाने के बाद दोनों के बीच समझौते की बातचीत प्रारम्भ हुई। चीन ने जापान की संधि शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया तो जापान ने अपने समर्थन वाली एक कठपुतली सरकार बनाने की योजना बनाई, इस योजना के आधार पर जापान ने नानकिंग में एक कठपुतली सरकार बना दी और अपना विजय अभियान जारी रखा। फरवरी तक पीकिंग, हांको और कैण्टन रेखा से पहले तक का सारा क्षेत्र जापान के अधिकार में आ चुका था।

इस युद्ध में जापान द्वारा चीन की पराजय के बाद च्यांग काईशेक ने चुंगकिंग में अपनी राजधानी बनाई और वहाँ से देश का संचालन किया।

## 8.16 द्वितीय विश्वयुद्ध और चीन में साम्यवाद के विकास की स्थिति

जिस समय द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हुआ उस समय चीन में तीन तरह की सरकारें थी–

(i) मंचूरिया में एक स्वतंत्र व पृथक राज्य था, जिसे मंचूकाओं कहा जाता था। यह राज्य जापान के प्रभाव में था और नानकिंग को राजधानी बनाकर वहाँ एक स्वतंत्र चीनी सरकार की स्थापना हो चुकी थी।

(ii) दूसरी चीनी सरकार महासेनापति च्वांग काईशेक के नेतृत्व में **"राष्ट्रीय सरकार"** कहलाती थी, इसकी राजधानी चुंगकिंग थी।

(iii) तीसरी सरकार साम्यवादियों की थी जो उत्तर पश्चिमी चीन में स्थित थी, इसकी राजधानी येनान थी, इसका नेतृत्व माओत्से तुंग कर रहे थे।



इन तीन तरह की सरकारों द्वारा शासित चीन बड़ी ही विचित्र स्थिति में फँसा हुआ था। यद्यपि साम्यवादी सरकार चुंगकिंग की सरकार की अधीनता में रहते हुए जापान के विरुद्ध युद्ध में सहयोग देने को तैयार थी, परन्तु च्यांगकाईशेक जापान के विरुद्ध संघर्ष की अपेक्षा चीन की आन्तरिक राजनीति को अधिक महत्व देता था। चीन के सम्पूर्ण समुद्र तट पर जापान का अधिकार हो जाने के कारण च्यांगकाईशेक सरकार की अन्य देशों के साथ कोई सीधा संबंध नहीं रह गया था। अतः अमेरिका और ब्रिटेन ने उसे वायुयान द्वारा सहायता पहुँचाने का प्रयास किया। ये देश यह नहीं चाहते थे कि जापान या रूस का प्रभाव चीन में बढ़े। हिमालय की उच्च पर्वतमाला को पारकर अमेरिका और ब्रिटेन के हवाई जहाज भारत से चुंगकिंग जाने लगे।

इस विकट स्थिति में भी येनान की साम्यवादी सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील थी कि जापान के विरुद्ध लड़ाई में चुंगकिंग सरकार के साथ सहयोग करे, किन्तु च्यांगकाईशेक और कुओमिन्तांग दल के सदस्य साम्यवादियों के साथ सहयोग की अपेक्षा उनके विरुद्ध संघर्ष को अधिक महत्व देते थे। यही कारण था कि चुंगकिंग तथा येनान की सरकारों में सहयोग निरन्तर कम होता जा रहा था और च्यांगकाईशेक की सेनाएँ जापान के विरुद्ध लड़ाई में न लगाकर साम्यवादियों के विरुद्ध युद्ध करने में अपनी शक्ति का उपयोग करने में लगे थे।

### दोनों पक्षों में समझौते के प्रयास

द्वितीय विश्वयुद्ध को अपने पक्ष में करने के लिए यूरोप और अमेरिका जो मित्र राष्ट्र बनकर युद्ध कर रहे थे, ने यह प्रयास किया कि चीन में आन्तरिक कलह न हो क्योंकि इससे जापान को चीन में सफल होने की संभावना अधिक हो जाती थी। अतः अमेरिका और ब्रिटेन ने चुंगकिंग सरकार को अपने पक्ष में करने के लिए 11 जनवरी, 1943 को च्यांगकाईशेक के साथ एक संधि की, जिसके अनुसार एक्स्ट्रा टेरिटोरिएलिटी की पद्धति का चीन में अन्त कर दिया गया, इसके अतिरिक्त इन दोनों देशों को चीन में जो अन्य अनेक प्रकार के विशेषाधिकार दिए गए थे उन्हें भी समाप्त कर दिया गया। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि चीन राजनीतिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों के समकक्ष है और संसार का एक प्रमुख व शक्तिशाली राज्य है, इसीलिए जब बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ का गठन किया गया तो उसकी सुरक्षा परिषद में चीन को भी स्थायी रूप से सदस्यता प्रदान की गई। मित्र राज्य इस बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक थे कि च्यांगकाईशेक की सरकार जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रखे और किसी भी प्रकार उसके साथ समझौता नहीं करे। अमेरिका की ओर से जो सेनाएँ चीन में विद्यमान थीं वे चाहती थीं कि चीन की राष्ट्रीय सेनाएँ येनान की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध युद्ध न करके जापान से युद्ध करें तथा साम्यवादी सरकार भी जापान के विरुद्ध च्यांगकाईशेक की सरकार की मदद करे। अमेरिका के प्रधान अधिकारी जनरल स्टिलवेल और उसके बाद अमेरिकी राजदूत श्री हर्ले ने बहुत प्रयास किया कि चीन की च्यांग काईशेक की सेनाएँ तथा साम्यवादियों में समझौता हो जाए किन्तु अमेरिका के ये समझौता प्रयास असफल रहे।

इसी बीच अगस्त, 1945 में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और महायुद्ध का अन्त हो गया।

## 8.17 चीन में लोकतंत्र की स्थापना के विदेशी प्रयास

1945 में जापान द्वारा आत्मसमर्पण करने के बाद अमेरिका और ब्रिटेन ने चीन में लोकतंत्र की स्थापना के प्रयास प्रारंभ कर दिए जिससे वहाँ साम्यवादी सफल न हो सकें, इसी कार्य को

अंजाम देने के लिए दिसम्बर, 1945 में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमेन ने जनरल मार्शल को विशेष रूप से चीन इसी उद्देश्य से भेजा था कि वह चीन के दोनों प्रमुख दलों में समझौता कराए। उन्हें यह भी कार्य सौंपा गया कि वे चीन के दोनों दलों को वहाँ लोकतंत्र की स्थापना के लिए तैयार करे। जनरल मार्शल 10 जनवरी, 1946 को एक संधि कराने में सफल हुए, जिसमें यह तय किया गया कि दोनों पक्षों की सेनाएँ आपसी संघर्ष समाप्त करें और चीन का जो प्रदेश जिस सेना के अधिकार में है, वह उसी सेना के अधिकार में रहेगा। साम्यवादियों ने संचार साधनों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया और मंचूरिया पर सरकार द्वारा पुनः कब्जा करने का अधिकार स्वीकार किया, इस प्रकार के प्रयत्न से चीन का गृह युद्ध कुछ समय के लिए स्थगित हो गया।

इस समझौते के अन्तर्गत चीन की वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ था। चीन में स्थायी शान्ति के लिए यह आवश्यक था कि वहाँ ऐसी सरकार स्थापित हो जाए जो लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आधारित हो, राजनीतिक दल की सेनाओं के स्थान पर एक राष्ट्रीय सेना का पुनर्गठन किया जाए जिसका किसी दल से कोई संबंध न हो, किन्तु इन बातों को क्रियान्वित करना असंभव था। 7 जनवरी, 1947 को जनरल मार्शल ने अमेरिका लौटने पर एक वक्तव्य में कहा था **"शान्ति स्थापना में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही कि कुओमिन्तांग और चीनी साम्यवादी दल एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक सन्देह रखते हैं।"**

अमेरिका के अथक प्रयासों के बावजूद भी कुओमिन्तांग और साम्यवादियों के बीच कोई समझौता नहीं हो सका, किन्तु जापान के आत्मसमर्पण करते ही जब उत्तरी व पूर्वी चीन पर पुनः अधिकार करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ तो चुंगकिंग और येनान सरकारों के पारस्परिक विरोध ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। कुछ ही समय बाद दोनों दलों की सेनाओं में गृहयुद्ध आरंभ हो गया और अन्त में इस युद्ध में साम्यवादियों ने सफलता हासिल की।

## 1.18 चीन में साम्यवादी लोक गणराज्य की स्थापना

एक लंबे संघर्ष के बाद एक अक्टूबर, 1949 को 'नए साम्यवादी सलाहकार सम्मेलन' द्वारा किए गए निर्णयों की घोषणा कर दी गई और इस घोषणा के द्वारा चीन में साम्यवादी राज्य की स्थापना हो गई। सबसे पहले सोवियत संघ ने इसे मान्यता दी। 1950 ई. तक लगभग 50 देशों ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता दे दी थी।

## 1.19 चीनी क्रांति का प्रभाव (IMPACT OF CHINESE REVOLUTION)

सन् 1949 और 1950 में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने पूर्व–पश्चिम संबंधों को और भी बिगाड़ दिया। शीत युद्ध उस समय तक यूरोप तथा अमेरिका तक ही सीमित था और संयुक्त राष्ट्र भी इसके रणक्षेत्र में था। अब यह एशिया में भी पहुँच गया। कई वर्षों से चीन में चले आ रहे गृह युद्ध में 1949 के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रवादी सरकार की पराजय हुई और साम्यवादी निश्चित रूप से विजयी हुए। जनरल च्यांग काईशेक की राष्ट्रवादी सरकार को चीन की मुख्य भूमि छोड़कर भाग जाना पड़ा और वह फार्मोसा के द्वीप पर कब्जा बनाए रखने मात्र में सफल हो सकी। च्यांग सरकार की अकुशलता और उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार सर्वविदित था। माओ त्से–तुंग के नेतृत्व में लाल सेना की विजय हुई तथा अक्टूबर 1949 में मुख्य भूमि पर माओ के नेतृत्व में चीन के जनवादी गणराज्य की औपचारिक स्थापना हुई।

चीन में साम्यवादियों की विजय अमेरिका की करारी हार मानी गई। अमेरिका ने दो दशाब्दियों से अधिक साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इनकार किया, परंतु चीन की क्रांति सोवियत संघ की वैचारिक और राजनीतिक विजय थी। अमेरिका ने जनवादी चीन को अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके संयुक्त राष्ट्र में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं करने दिया। सोवियत संघ ने कुछ समय

के लिए संयुक्त राष्ट्र का बहिष्कार किया, इस प्रकार चीन की प्रतिनिधित्व की समस्या शीत युद्ध का एक प्रमुख मोहरा बन गई।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संकल्प था कि संयुक्त राष्ट्र में च्यांग काईशेक की सरकार को ही प्रतिनिधित्व मिलता रहे। साम्यवादी चीन को बाहर रखने के लिए अमेरिका द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग ने शीत युद्ध में आहुति का कार्य किया। शीत युद्ध में इसका किस तरह प्रभाव हुआ यह हमने देखा।

NOTES

चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना से एशिया भी प्रभावित हुआ और अफ्रीका के राष्ट्रवादियों को भी इससे बल मिला।

## 8.20 सारांश

चीन में साम्यवादियों की विजय अमेरिका की करारी हार मानी गई। अमेरिका में दो दशाब्दियों से अधिक साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इन्कार किया, परन्तु चीन की क्रांति सोवियत संघ की वैचारिक और राजनीतिक विजय थी।

## 8.21 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) चीन में हुए बाक्सर आंदोलन के कारण, स्वरूप और परिणाम का विवरण दीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) चीन की 1911 की क्रांति पर एक निबन्ध लिखिए।

(2) द्वितीय चीन जापान युद्ध पर एक टिप्पणी लिखिए।

### विकल्प

1. अखिल चीनी सोवियत सम्मेलन आयोजित किया गया–

(अ) 1915 (व) 1931 (स) 1945 (द) 1960

2. वाक्सर प्रोटोकाल का समय है–

(अ) 1904 (ब) 1910 (स) 1920 (द) 1930

**उत्तर** 1. (ब), 2. (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

## 8.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

●●●

NOTES

# अध्याय–9 जापान में पश्चिमी शक्तियाँ, मेईजी पुनर्स्थापना, आधुनिकीकरण एवं सैन्यवाद

## (WESTERN POWER, MEIJI RESTORATION, MODERNISATION & IMPERIALISM IN JAPAN)

### इकाई की रूपरेखा


9.0 उद्देश्य

9.1 परिचय

9.2 जापान के आधुनिकीकरण की पृष्ठभूमि

9.3 मेईजी पुनःस्थापना

9.4 जापान के आधुनिकीकरण का प्रारम्भ

9.5 आधुनिकीकरण का दूसरा चरण या साम्राज्यवाद का विकास

9.6 प्रथम जापान–चीन युद्ध

9.7 रूस जापान युद्ध (1904–05)

9.8 युद्ध का प्रारंभ और प्रमुख घटनाएँ

9.9 रूस–जापान युद्ध का महत्व और परिणाम

9.10 जापान में साम्राज्यवाद के विकास का दूसरा चरण

9.11 साम्राज्यवाद के विकास के कारण

9.12 मंचूरिया पर आक्रमण

9.13 जापान का राष्ट्रसंघ से अलग होना

9.14 मंगोलिया में जापानी विस्तार

9.15 द्वितीय चीन जापान युद्ध 1937

9.16 युद्ध का प्रारंभ

9.17 जापान और द्वितीय विश्व युद्ध

9.18 अमेरिका के साथ जापान के संबंध

9.19 सारांश

9.20 अभ्यास प्रश्न

9.21 संदर्भ ग्रन्थ सूची


### 9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इसे योग्य हो सकेंगे कि–

1. जापान की आधुनिकीकरण का पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।
2. आधुनिकीकरण एवं सैन्यवाद का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. जापान की तात्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।

4. मंचूरिया आक्रमण एवं विभिन्न ~~निम्न सामाजिक~~ घटनाक्रम का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

NOTES

## 9.1 परिचय

पूर्वी एशिया के दो देश चीन और जापान उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक शेष दुनिया से अलग एकाकीपन का जीवन बिता रहे थे। जापान तो विदेशियों से सम्पर्क करना भी उचित नहीं समझता था। जापान में प्राचीन परंपरागत शासन प्रणाली से जीवन चल रहा था। उन्नीसवीं शती के मध्य में विदेशियों ने जापान के एकाकी जीवन में गतिरोध डालना प्रारम्भ किया। पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण से चीन और जापान दोनों ही प्रभावित हो रहे थे। जापान ने आगे की ओर देखते हुए पश्चिमी जीवन शैली, विज्ञान और तकनीक, युद्ध प्रणाली तथा विचारों को अपनाने का निर्णय किया और इस विचारधारा वाले वर्ग की जीत हुई, इस तरह जापान ने अपने को पश्चिमी सभ्यता के मुकाबले खड़ा कर लिया और शीघ्र ही वह एक शक्तिशाली और आधुनिक राष्ट्र बन गया।

## 9.2 जापान के आधुनिकीकरण की पृष्ठभूमि

**(THE BACKGROUND MODERNISATION OF JAPAN)**

### जापान में प्राचीन शासन और उसका विरोध

मध्यकाल में जापान में सामन्ती प्रथा का उदय हुआ। क्षेत्रीय प्रशासन के अधिकारी धीरे–धीरे वंशानुगत होते गए। बारहवीं शताब्दी के लगभग उन्होंने अपनी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ली और जापान में सामन्ती प्रथा ने जड़ें जमा लीं। ये सामन्त अपने क्षेत्र में स्वतंत्र शासकों जैसा व्यवहार करने लगे और इन्होंने अपनी सेना का गठन भी कर लिया। इन सैनिकों को **सामूराई** कहा जाता था। ये सामन्त राजदरबार में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए सक्रिय होने लगे। जापान के सम्राट ने एक सैनिक सामन्त को 1192 में **शोगून (प्रधान सेनापति)** नियुक्त किया। आगे कुछ समय तक शोगून सम्राट ही नियुक्त करता रहा, परंतु धीरे–धीरे यह पद भी वंशानुगत हो गया। शोगून व्यवस्था में सम्राट तो नाम मात्र का होता था। शासन के सारे सूत्र शोगून के हाथों में ही होते थे। 1603 से 1867 के बीच में तोकुगावा शोगूनों ने अपनी शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि कर ली थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जापान में इन तोकुगावा शोगून के शासन व्यवस्था के विरुद्ध सम्पूर्ण समाज में असंतोष व्याप्त था। जापान के अन्य सभी सामन्ती घराने तोकूगावा शोगून के विरुद्ध हो गए थे। सामूराई भी अपनी स्थिति से असंतुष्ट थे और प्राचीन शासन व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। जापान के व्यापारी वर्ग की स्थिति सामन्तों के समक्ष अत्यन्त निम्न थी। सामन्तों का उनके प्रति उपेक्षा और हीनता का भाव उन्हें अखरता था जिससे वे भी परिवर्तन चाहते थे। व्यापारी के साथ–साथ कृषक वर्ग भी असंतुष्ट था, इस प्रकार सम्पूर्ण जापानी समाज तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध था तथा सभी इस व्यवस्था का अन्त चाहते थे।

### विदेशियों का आगमन

इसी समय पश्चिमी लोगों का आना प्रारम्भ हुआ। सभी विदेशी इन्हीं तोकुगावा शोगूनों से ही संधि करते थे। जापान में इन विदेशियों का विरोध हुआ, इस विरोध का लक्ष्य बनी शोगून व्यवस्था। वहाँ हिंसक उपद्रव बढ़ने लगे। विदेशियों का यह विरोध राजनीतिक आन्दोलन में बदल गया। जापान के सामन्तों ने विदेशियों के प्रति शोगूनों की सहयोगपूर्ण नीति के आधार पर जनमत को उनके विरुद्ध खड़ा किया, इसी समय जापान में विदेशियों को बाहर निकालने का आन्दोलन भी तीव्र होता जा रहा था। विरोधियों के पक्ष में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि जापान का सम्राट भी उनके पक्ष में हो गया और उसने शोगून को आदेश दिया कि जून 1863 तक सभी विदेशियों को बाहर निकाल दिया जाए। **चोशू सामन्त** और **सातसूमा सामन्तों** को विदेशियों

NOTES

के सामने सबसे अधिक अपमानित होना पड़ता था। अतः उन्होंनें अपनी सैनिकों शक्ति को बढ़ाया और सामान्य जनता को भी सेना में भर्ती किया। शोगूनों ने चोशू सामन्तों का दमन करने की नीति अपनाई, इस कारण दोनों में संघर्ष हुआ, इस संघर्ष में चोशू और सातसूमा सामन्त एक दूसरे के नजदीक आ गए और दोनों में एक गुप्त संधि हुई जिसमें यह निश्चय किया गया कि शोगून शासन का अन्त कर देना चाहिए।

एशिया के अन्य देशों की तरह जापान में भी सबसे पहले पुर्तगाली ही आये। 23 सितम्बर, 1543 को सबसे पहले पुर्तगालियों ने जापान में प्रवेश किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जापान के प्रशान्त महासागर में रूस और इंग्लैण्ड के जहाजों को आना जाना बढ़ गया था। रूस ने जापान के साथ घनिष्ट संबंध बनाने का प्रयास किया। 1792 ई. में एक रूसी दल जापान गया तो उसे नागासाकी में उतरने की इजाजत दी गई। रूस के बाद इंग्लैण्ड ने जापान में प्रवेश पाने का प्रयास किया। जापान में प्रवेश पाने के प्रयास में जापानी और बिंटिश नाविकों के बीच झड़प हो गई, इसके बाद जापान ने आदेश दिया कि कोई भी विदेशी जहाज जापान में उतरेगा तो उसे गोली मार दी जाएगी।

जापान में विदेशियों का वास्तविक प्रवेश अमेरिका की ओर से प्रारंभ हुआ। अमेरिका को प्रशान्त महासागर में कुछ बन्दरगाहों पर कब्जा करना इसलिए आवश्यक था ताकि उसके व्यापारिक जहाज वहाँ आराम कर सकें, इसी प्रयत्न में वह जापान में अपनी रुचि दिखाने लगा। 20 जुलाई, 1846 को अमरिकी नौसेना का अधिकारी कोमोडोर जेम्स दो जहाज लेकर जापान आया। उसने जापान के एक बन्दरगाह पर अपने जहाजों को उतारा और जापान से व्यापारिक संबंध बनाने की प्रार्थना की परन्तु जापान ने इसकी स्वीकृति नहीं दी, इसके बाद वह 1849 में जापान आया और 15 अमेरिकी नाविकों को छुड़ाने का प्रयास किया परन्तु इस दौरान उसने व्यापार संबंधी कोई बात नहीं की, इसके बाद 1853 में कोमोडोर पेरी जापान आया। पेरी दूसरी बार 1854 में पुनः जापान आया और उसने जापान से संधि करने का प्रयास किया क्योंकि रूस अमेरिका के प्रभाव को जापान में नहीं बढ़ने देना चाहता था। दोनों पक्षों के बीच संधि वार्ता प्रारंभ हुई और मार्च, 1854 को कानागावा की संधि हो गई, इस संधि के बाद अमेरिकी जहाजों को जापान के कुछ बन्दरगाहों पर उतरने की स्वीकृति मिल गई।

इस तरह अमेरिका के प्रयासों से जापान का द्वार विदेशियों के लिए खुल गया, इसके बाद इंग्लैण्ड ने जापान के साथ संधि की। 1855 में रूस के साथ भी संधि हो गई और इसी क्रम में डचों के साथ जापान की संधि हो गई। इन संधियों के परिणाम स्वरूप जापान में विदेशियों की घुसपैठ प्रारंभ हो गई और वहाँ भी साम्राज्यवाद ने अपने पैर पसारने प्रारंभ कर दिए।

## 9.3 मेईजी पुनःस्थापना

### शोगून शासन का अन्त

जापान में शोगून शासन के अन्त को और एक नई व्यवस्था के जन्म को **मेईजी पुनःस्थापना** का कहा जाता है। जनवरी, 1867 में तोकुगावा केईकी शोगून बना। वह उदारवादी विचारधारा का था, इस कारण चोशू और सातसूमा सामन्तों ने उसे हटाने के लिए प्रयत्न किया, इसी बीच जापान के सम्राट का निधन हो गया। उसके स्थान पर मूतसुहीतो जो कि पन्द्रह वर्ष का था, सम्राट बना, इस नए सम्राट को चोशू और सातसूमा सामन्तों ने अपना प्रभाव जमा लिया। 3 जनवरी, 1868 को शोगून विरोधी सामन्तों ने शाही महल पर अधिकार कर लिया और शक्ति की पुनःस्थापना की। नए सम्राट ने **'मेईजी' (शानदार)** की उपाधि धारण की। जापान में इस घटना को **'मेईजी पुनःस्थापना'** के नाम से जाना जाता है, इसके बाद का काल 'मेईजी काल' के नाम से जाना पुकारा जाता है। तोकुगावा शोगूनों ने इसे स्वीकार करके राजधानी को छोड़कर जाना चाहा, परंतु अन्य तोकुगावा सामन्तों ने इसका विरोध किया और युद्ध करने का निश्चय किया, परंतु वे शाही फौजों के सामने टिक नहीं सके, इसके बाद तोकुगावा केईकी शोगून ने

अपना इस्तीफा भेज दिया, इस प्रकार जापान में शोगून प्रथा का अन्त हो गया और सम्राट के शासन का आरम्भ हुआ।

NOTES

जापान के आधुनिकीकरण का प्रारम्भ **'मेईजी पुनःस्थापना'** से हुआ था, इसके बाद जापान में कई सामाजिक परिवर्तन हुए। जापान से सामन्ती प्रथा का पूर्णतः अन्त हो गया यहीं से जापान की उन्नति का द्वार खुल गया।

## 9.4 जापान के आधुनिकीकरण का प्रारम्भ (THE BEGNING OF MODERNISATION OF JAPAN)

जापान में नए युग का आरम्भ शोगून शासन के अन्त और सम्राट के शासन के आरम्भ से होता है, इस नयी व्यवस्था के बाद जापान ने अभूतपूर्व उन्नति की और वह कुछ ही समय में एक अत्याधुनिक और शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। नई शासन व्यवस्था की वर्षावधि को **'मेईजी'** अर्थात **'विकासोन्मुख शान्ति'** कहा जाता है, इस युग का आरम्भ 25 जनवरी, 1868 से होता है और 30 जुलाई, 1912 को मुतसुहितो की मुत्यु के साथ समाप्ति। नए शासन के आरम्भ के बाद भी विदेशियों को बाहर निकालने का कार्य शेष था, इस समय जापान के लोगों ने दूरदर्शिता से काम लिया और चीन की दुर्दशा से सीख ली, इसका अर्थ था कि उन्होंने इस बात पर विचार किया कि यदि जापान को एक आधुनिक और पश्चिमी राष्ट्रों के समान शक्तिशाली बनना है तो उसे उनके साधन, तकनीक, ज्ञान–विज्ञान और सैनिक व्यवस्था को अपनाना चाहिए। क्योंकि वे यह समझ गए थे कि पश्चिमी साम्राज्यवाद का मुकाबला आधुनिक और शक्तिशाली बन कर ही किया जा सकता है, इस विचार को स्वीकार करके ही उन्होंने जापान के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया और जापान में आमूल–चूल परिवर्तनों का एक दौर आरम्भ हुआ, इस प्रक्रिया में जो सुधार या परिवर्तन किए गए उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

**(1) प्रशासन का केन्द्रीकरण** – जापान के आधुनिकीकरण की दिशा में बढ़ते हुए प्रशासन का विकेन्द्रीकरण किया गया, इस दिशा में सर्वप्रथम देश की राजधानी को 'क्योतो' से हटाकर 'येडो' में स्थापित किया गया और उसका नाम रखा गया 'टोकियो' पूर्वी राजधानी रखा गया। 1868 में चीन के अनुकरण पर एक मंत्रिमण्डल या परिष्द का गठन किया गया। परिषद के तीनों अधिकारी विधायनी परिषद को हस्तान्तरित हो गए। वास्तविक शक्ति राज्य परिषद में निहित थी, इसके अतिरिक्त राज्य के मंत्रियों तथा उनके अधिकारियों की भी व्यवस्था की गई, इस संगठन के कारण शक्ति एक ही संगठन में केन्द्रित हो गई।

**(2) सामन्ती प्रथा का अन्त** – शोगून व्यवस्था के दौरान जापान में सामन्ती प्रथा बहुत शक्तिशाली थी। बडे–बडे सामन्त ही अपने क्षेत्र में शासन करते थे। ये अपनी सेना भी रखते थे, इस व्यवस्था के कारण जापान का विकास सम्भव नहीं था। मेईजी पुनःस्थापना के बाद जापान के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न था कि एक केन्द्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना कैसे की जाए, इस व्यवस्था में सबसे बड़ी बाधा थे वहाँ के सामन्त। जब तक सामन्ती सरदारशाही शासन और व्यक्तियों के बीच थे तब तक सत्ता का प्रभावकारी केन्द्रीकरण नहीं हो सकता था। अतः 1868 में यह आदेश जारी किया गया कि प्रत्येक सामन्ती सरदार के क्षेत्र में केन्द्रीय प्रशासन के प्रतिनिधि के रूप में नागरिक अधिकारी की नियुक्ति होगी, इस प्रकार टोक्यो द्वारा नियंत्रित शासन व्यवस्था आरंभ हुई। सामन्ती व्यवस्था का अन्त क्रमशः हुआ। कुछ सामन्त सम्राट के सामने स्वयं ही झुकने लगे। 1869 को सातसूमा, चोशू, तोसा, और डोम्यो ने एक प्रार्थना पत्र भेजकर अपनी रियासतों को सम्राट के प्रति समर्पित कर दीं और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, इस तरह लगभग सभी रियासतें सम्राट के अधीन हो गई और रियासतों को जिले का रूप दे दिया गया। 29 अगस्त, 1871 को सरकार ने आदेश निकाला जिसके द्वारा सभी रियासतों को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। रियासतों को समाप्त करके सम्पूर्ण देश को तीन नगरीय प्रदेशों में विभाजित कर दिया। ये प्रदेश इस प्रकार थे – **(i) फू – इसमें तीन शहर थे–**

**ओसाका, क्योतो और टोकियो, (ii) केन – इसमें बहत्तर प्रदेश थे जिन्हें केन कहा जाता था, केन (प्रदेश) को जिला, शहर, कस्बा, और गाँव में बाँटा गया था।** प्रत्येक प्रदेश केन्द्रीय शासन द्वारा नियुक्त अधिकारी जिसे गवर्नर कहा जाता था, के नियंत्रण में रहता था।



इस तरह जापान में सामन्ती व्यवस्था और सामन्तों का अन्त हो गया, परंतु कुछ सामन्तों ने इसके विरुद्ध विद्रोह भी किया परंतु वे शाही फौजों के द्वारा कुचल दिए गए। सम्पूर्ण राष्ट्र से सामन्तों का अस्तित्व खत्म हो गया और जापान मध्ययुगीन अन्धकार से बाहर आ गया और आधुनिक मूल्यों और व्यवस्था की नई रोशनी से आलोकित होने लगा। सामन्तवाद के अन्त का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव किसानों पर हुआ।

**(3) सांविधानिक सरकार की स्थापना की दिशा में प्रयत्न** – सभी सुधारक सामन्तवाद की समाप्ति तथा राजा के अधिकारों की पुनः स्थापना की माँग पर एकमत थे, किन्तु जहाँ एक वर्ग नौकरशाही के माध्यम से देश का शासन निरंकुश शासन द्वारा चलाना चाहता था, वहीं दूसरा वर्ग देश के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाने के पक्ष में था। यह दल आम जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सभा के गठन की माँग कर रहा था साथ ही वह चाहता था कि राज्य के मन्त्रियों को इस प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए, इस राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व कीड़ो, इटागाकी और ओकूबो ने किया।

**(i) प्रतिनिधि संस्थाओं की माँग** – इटागाकी पुनः स्थापना आन्दोलन के नेताओं में से एक था, किन्तु साइगो ने 1874 में प्रतिनिधि सभा की माँग की। 1878 ई. में सरकार ने राज्यपालों व स्थानीय शासकों को उनके कर्त्तव्यों की पूर्ति में सहायता देने के लिए प्रान्तीय सभाओं के संगठन का निर्णय लिया।

**(ii) संविधान के लिए वचन** – उदारवादियों के बार–बार माँग करने पर 1877 ई. में संविधान निर्माण करने के लिए आन्दोलन हुआ। 1881 ई. में राजा की ओर से प्रशासन ने वचन दिया कि 1890 ई. तक संविधान का निर्माण हो जाएगा।

**(iii) संविधान की घोषणा** – सरकार ने संविधान निर्माण के लिए ईटो के नेतृत्व में कुछ व्यक्तियों के साथ संविधान निर्माण की तैयार प्रारम्भ की। इन्होंने विदेशों की यात्रा करके संविधान का प्रारूप तैयार किया। 11 फरवरी, 1889 को एक भव्य समारोह में सम्राट ने इस संविधान की घोषणा कर दी।

## संविधान की विशेषताएँ –

(i) संविधान सम्राट की ओर से उपहार था न कि जनता द्वारा निर्मित।

(ii) संविधान में संशोधन का अधिकार सिर्फ सम्राट को था। साथ ही दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक थी।

(iii) संविधान की व्याख्या करने का अधिकार सिर्फ न्यायालयों को दिया गया।

(iv) सम्राट का महल और और उसके उत्तराधिकार संबंधी निर्णय संविधान के अधीन नहीं था।

(v) संविधान के द्वारा दो वैधानिक संस्थाओं का निर्माण किया गया – मंत्रिपरिषद और प्रिवी कौंसिल।

(vi) संविधान के द्वारा डाइट की रचना को अभिप्रमाणित किया गया।

(vii) डाइट में दो सदन बनाए गए – उच्च सदन और निम्न सदन।

(viii) जनता को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए, जैसे भाषण करने की स्वतंत्रता, संस्था बनाने, एकत्र होने तथा अपने लिए किसी भी धर्म को अपनाने की स्वतंत्रता।

**(iv) नई विधि संहिता** – टोकियो शाही विश्वविद्यालय से सम्बद्ध जर्मन विद्वान हरमन राणेसरा संविधान प्रारूप समिति का परामर्शदाता था। उसने जापान के लिए स्थानीय सरकार की प्रशा में चलने वाली पद्धति की रूप रेखा तैयार की, इसी के आधार पर जापान में स्थानीय कानून का ढाँचा तैयार हुआ। जिन शारीरिक दण्डों को नृशंस समझा गया उन्हें हटा दिया गया। ज्यूरी द्वारा अभियोगों की जाँच की पद्धति को भी स्वीकार किया गया। जापान के सम्राट ने 1890 में इस विधि संहिता को स्वीकार कर लिया।

**(v) कानूनी समानता की स्थापना** – सामन्ती व्यवस्था के अन्त के बाद सामन्तों और सामान्य जनता में जो असमानताएँ विद्यमान थीं वे अधिक दिनों तक नहीं चल सकती थीं। अतः अब कानून के समक्ष सबकी समानता के लिए कानून बनने लगे। सबसे पहले सरकारी तथा व्यावसायिक नौकरियों पर पाबंदियाँ हटा दी गई। अब सभी वर्गों के लोग इस नौकरियों का पा सकते थे। 1880 के पूर्व तक अपने पारिवारिक नाम धारण करने का अधिकार सिर्फ सामन्तों का ही था। 1880 में एक कानून के द्वारा यह अधिकार सभी नागरिकों को मिल गया। 1871 में समाज के सबसे निम्न वर्ग को सभी के समान समानता का अधिकार दे दिया गया। सामन्तों को विशेष पहचान चिन्ह के रूप में दो तलवारें रखने का अधिकार था, परंतु 1876 में कानून द्वारा इसे समाप्त कर दिया गया, इस तरह सामन्तों के विशेष अधिकारों को समाप्त करके सभी नागरिकों को समान अधिकारों से नवाज दिया गया।

**(vi) सैनिक व्यवस्था में सुधार** – 1867 के पूर्व जापान की सेना सामन्तीय स्वरूप में थी, परंतु जब सामन्त प्रथा का अन्त हो गया तो सेना का सामन्तीय रूप भी समाप्त कर दिया गया। अब जापान के सभी वर्गों के लिए सैनिक सेवा के द्वार खोल दिए गए। 1870 में जापान की सरकार ने थामागाटा और सैगो को यूरोप के देशों में सैनिक संगठन के प्रशिक्षण लिए भेजा गया। 1873 में जापान में सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई और इसी वर्ष सेना का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। अब हर व्यक्ति के लिए चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति और धर्म का हो सेना में भर्ती हो सकता था, इसी तरह नौ सेना के आधुनिकी करण की भी व्यवस्था की गई। 1871 में टोकियो, सेनडाई, ओसाका और कुमामोटा नामक स्थानों पर नौ–सैनिक अड्डे बनाए गए। सेना के स्वरूप में हुए इन परिवर्तनों से जापान के राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। आगे चलकर जापान में सैनिकवाद का विकास हुआ और जापान साम्राज्यवादी नीति पर चल पड़ा।

**(vii) आर्थिक विकास** – जापान की आर्थिक उन्नति का मुख्य कारण था उसकी अनुशासित और परिश्रमी जनता और उनका सादा रहन–सहन, इसके अलावा सरकार द्वारा औद्योगिक और व्यापारिक विकास के लिए किए गए प्रयत्न। आर्थिक विकास निम्न कार्यों द्वारा किया गया –

- यूरोपीय आर्थिक नियंत्रण की समाप्ति,
- औद्योगिक विकास के लिए सरकारी प्रयत्न,
- बैंकिंग प्रणाली का विकास,
- यातायात के साधनों का विकास,
- कृषि में सुधार,

**(a) यूरोपीय आर्थिक नियंत्रण की समाप्ति** – जापान में अधिकांश व्यापार में विदेशी पूँजी लगी हुई थी, इससे अधिकांश लाभ विदेश चला जाता था। जापान की सरकार ने आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी स्वयं उधार लेकर निजी उद्योगों को सहायता दी और उद्योग मंत्रालय की स्थापना की गई, इसके अलावा विदेशी व्यापार पर यूरोपीय नियत्रण समाप्त करने के लिए विनिमय केन्द्र स्थापित किए गए।

**(b) औद्योगिक विकास के लिए सरकारी प्रयत्न** – जापान ने नए युग के आरम्भ होने के साथ ही देश को विकसित करने के लिए और आर्थिक सुदृढ़ता कायम करने के लिए

NOTES

देश में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। जापान के लोगों ने पश्चिमी ढंग के कारखानों को अपनाया। औद्योगिक विकास के लिए यूरोप तथा अमेरिका से मशीनों का आयात किया गया। अब जापान के कारखानों में कपड़ा, रेशम और लोहे के सामान बनने लगे। जापान की सरकार ने आधारभूत उद्योगों को अधिक विकसित किया। चूँकि जापान का लक्ष्य सैनिकवाद की और बढ़ना था अतः वहाँ सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्योगों का विकास किया गया। खानें खोदी गईं, लोह–इस्पात के उत्पादन को विकसित किया गया। वाष्प शक्ति का विकास हुआ और धीरे–धीरे वहाँ के अधिकांश कारखाने वाष्प्य से ही चलने लगे। जापान की सरकार ने टोकियो और ओसाका में बन्दूक, तोप और गोला बारूद जैसे युद्धोपयोगी सामान के कारखाने खोले। 1869 में हीजन में आधुनिक तकनीक पर आधारित कोयले की खान प्रारम्भ की गई, इस तरह चहुँमुखी औद्योगिक विकास ने जापान को पश्चिमी देशों के समक्ष ला खड़ा किया।

**(c) बैंकिंग प्रणाली का विकास** – आर्थिक विकास का सबसे महत्वपूर्ण घटक है बैंकिंग प्रणाली का सुनियोजित होना। जापान ने भी अपने देश में बैंकिंग प्रणाली को विकसित किया। चूँकि व्यापार के विकास के साथ–साथ मुद्रा का संग्रह भी बढ़ता जा रहा था। अतः सरकार ने मुद्रा विनिमय व बैंक की समस्या को सुलझाने के लिए 1872 में पहला कदम उठाया। संयुक्त राज्य अमेरिका की पद्धति पर एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई, इस बैंक को अपरिवर्त्य नोट जारी करने का अधिकार दिया गया। 1881 में जापान ने एक बड़े केन्द्रीय संस्थान की स्थापना की जिसे आगे चलकर बैंक ऑफ जापान कहा गया। 1896 में राष्ट्रीय बैंकों को निजी बैंकों में परिवर्तित कर राष्ट्रीय बैंक प्रणाली समाप्त की गई। 1887 में पहला योकोहामा सोना–चाँदी बैंक स्थापित हुआ। 1894 के पश्चात औद्योगिक व कृषि बैंकों की स्थापना हुई।

**(d) यातायात के साधनों का विकास** – व्यापार के विकास के लिए यातायात के साधनों का विकास किया, इसमें रेल, डाक, तार सड़क परिवहन तथा समुद्री परिवहन का विकास शामिल है। 1872 में रेल लाइन डालने का काम प्रारम्भ किया गया। सबसे पहले टोकियो और योकोहामा के बीच 19 मील लंबी रेल लाईन बिछायी गई। 1890 तक सरकारी रेल लाइनों की लम्बाई 551 मील तथा वैयक्तिक रेल 898 मील हो गई थी। समाचारों के शीघ्र आदान–प्रदान के लिए डाक–तार विभाग का भी संगठन किया गया। जहाजों का विकास भी किया गया।

**(e) कृषि क्षेत्र में सुधार** – सामन्तीय प्रथा के समाप्त होने का सबसे अधिक लाभ मिला कृषि क्षेत्र को। अब कृषकों को ही भूमि का स्वामी मान लिया गया और बेगार प्रथा को समाप्त कर दिया गया। अनेक कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। पशुओं की अच्छी नस्ल का विकास किया गया। 1907 ई. तक धान की पैदावार दो गुनी और गेहूँ, जौ तथा रेशम के कीड़ों की पैदावार ढाई गुनी हो गई थी। कृषकों को सरकारी सहायता प्रदान की गई तथा कृषि से संबंधित नई तकनीक भी उन्हें उपलब्ध करवायी गई।

**(vii) बौद्धिक जागरण** – मेईजी की 1868 ई. की शपथ घोषणा में कहा गया था कि **"साम्राज्य की नीति को सुदृढ़ करने के लिए विश्व के समस्त भागों से बुद्धि और ज्ञान प्राप्त किया जाए।"** इस नीति के कारण जापान में शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई –

(a) **शिक्षा क्षेत्र में सुधार** – शिक्षा के विकास के लिए 1871 ई. में एक शिक्षा विभाग की स्थापना की गई। कानून के द्वारा यह तय किया गया कि राष्ट्र के सभी नागरिक शिक्षा ग्रहण करें। अब प्राथमिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी गई। जापान ने अमेरिका की प्रारंभिक तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पद्धति अपना ली और विश्वविद्यालयों का गठन फ्रांस के अनुकरण पर किया गया। व्यावसायिक शिक्षा के लिए जर्मनी का अनुकरण किया गया।

(b) **विश्वविद्यालयों की स्थापना** – जापान ने विश्वविद्यालयीन शिक्षा के लिए फ्रांस का अनुकरण किया था। 1877 में टोकियो विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

1886 तक इसमें सभी संकाय प्रारम्भ कर दिए गए, इसके बाद 1897 में क्योतो, 1907 में सेन्दाई, 1910 में फूकूओका तथा 1918 में साप्पोरा विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई।

(c) **स्त्री शिक्षा** – जापान में लड़कियों के लिए प्राथमिक शिक्षा लड़कों के समान ही थी, परंतु उनके लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था 1902 के बाद ही की गई। 1913 में एक महिला विश्वविद्यालय स्थापित हो गया था। शिक्षा के विकास से जापान का नागरिक शिक्षित हुआ और जापान प्रगति के पथ पर बढ़ने लगा। सामाजिक क्षेत्र में शिक्षा के विकास ने अन्ध परंपराओं और रूढ़ियों से मुक्ति का रास्ता बनाया। नई शिक्षा पद्धति ने नए आधुनिक राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

**(viii) जीवन के अन्य क्षेत्रों का विकास** – आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने पूरे देश की जीवन शैली में भी कई परिवर्तन ला दिए। जापान के लोगों का रहन–सहन बदल गया। पाश्चात्य ढंग की पोशाकें पहनी जाने लगीं। हाथ मिला कर अभिवादन किया जाने लगा। केश सज्जा में भी पुराने तरीकों को त्याग किया गया। बिजली का प्रयोग 1887 से प्रारम्भ हो गया, अब मकान भी पश्चिमी ढंग से बनने लगे। सम्पूर्ण जापानी जीवन पर आधुनिकता का रंग दिखाई देने लगा।

**(ix) धार्मिक जीवन में बदलाव** – मेईजी पुनःस्थापना के बाद जापान के धार्मिक जीवन में भी बहुत परिवर्तन हुआ, इसके पहले बौद्ध धर्म का पालन किया जाता था लेकिन अब वहाँ शितो धर्म को अपनाया गया और यही राष्ट्रीय धर्म भी बन गया, इस धर्म को अपनाने से जापान में राष्ट्रीयता के विकास में अधिक सहायता मिली।

जापान के जीवन में आए इस बदलाव के कई परिणाम हुए, इसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भविष्य में जापानी साम्राज्यवाद के विकास का रास्ता खुल गया। दूसरा परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी देशों ने जो उससे असमान संधियाँ की थीं अब वे उसके अनुरोध पर समानता के आधार पर होने लगीं। जापान के आधुनिकीकरण का प्रथम चरण यहाँ पूर्ण होता है, इसके बाद जापानी साम्राज्यवाद के विकास का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है जो कि उसके आधुनिकीकरण का दूसरा चरण माना जा सकता है।

## 9.5 आधुनिकीकरण का दूसरा चरण या साम्राज्यवाद का विकास
### (THE SECOND FACE OF MODERNISATION OF JAPAN)

जापान में नए युग का आरम्भ मेईजी पुनः स्थापना के बाद प्रारम्भ हुआ था। आधुनिकीकरण के इस दौर में जापान ने अपना यूरोपीयकरण कर लिया था। पश्चिमी करण तथा सुधारों की लहर ने कुछ ही वर्षो में जापान का कायाकल्प कर दिया। अब जापान परंपरागत राष्ट्र की जगह एक अत्याधुनिक राष्ट्र बन गया था। अब उसकी तुलना किसी भी पश्चिमी राष्ट्र से की जा सकती थी। जापान ने अपना आधुनिकीकरण अपनी आत्मरक्षा के लिए करना प्रारम्भ किया था। उसका मानना था कि जब–तक वह अपने जीवन को यूरोपीय ढंग से नहीं जियेगा तब तक यूरोप के राज्यों का मुकाबला नहीं कर सकता और यूरोप के राष्ट्र उसका शोषण करते रहेंगे। मेईजी युग के प्रारम्भ के बाद लगभग बीस वर्षो में उसका यह लक्ष्य पूर्ण हो गया। लेकिन अब जापान प्रत्येक क्षेत्र में यूरोप का अनुकरण करने लगा। यह अनुकरण न केवल राष्ट्रीय जीवन तक हुआ बल्कि वह यूरोप के साम्राज्यवाद का भी अनुकरण करने की ओर अग्रसर हुआ। जापान के साम्राज्यवादी देश बनने के कुछ महत्वपूर्ण कारण थे, इसी साम्राज्यवादी नीति के कारण उसे चीन से युद्ध करना पड़ा और बाद में रूस से भी उसने युद्ध किया और उसे पराजित किया। उसके साम्राज्यवादी नीति को अपनाने के कारणों का परीक्षण करने के बाद इन दो युद्धों का विवरण प्रस्तुत है –

NOTES

## साम्राज्यवाद के विकास के कारण

**(1) औद्योगिक विकास** – जापान के आधुनिकीकरण के दौरान उसका औद्योगिक विकास बहुत अधिक हुआ था। कारखानों के द्वारा उत्पादन बहुत तीव्र गति से बढ़ रहा था। यूरोप में जो साम्राज्यवाद का विकास हुआ उसका मुख्य कारण था वहाँ हुई औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप हुए औद्योगिक विकास और जनसंख्या का बढ़ना। औद्योगिक विकास का मूल आधार होता है कच्चा माल और उत्पादित माल के लिए एक बड़ा और मुनाफेदार बाजार का होना। जापान में भी यही हुआ और उसे भी साम्राज्यवादी नीति अपनाना पड़ी। दीनानाथ वर्मा के अनुसार – "जापान के आधुनिकीकरण का सबसे महत्वपूर्ण पहलू उसका अपूर्व औद्योगिक विकास था। जापान में बड़े–बड़े कल कारखाने खुले और बहुत बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन होने लगा, इस तरह जापान का औद्योगिकीकरण हुआ और वह एक उद्योग प्रधान देश बन गया। आधुनिक औद्योगिकीकरण साम्राज्यवाद का सबसे महत्वपूर्ण प्रेरक तत्व रहा है। एक औद्योगिक देश को कई तरह की चीजों की आवश्यकता होती है। उद्योग धंधे चलाने के लिए सर्वप्रथम कच्चे माल की आवश्यकता होती है। फिर, कच्चे माल से सामान तैयार कर उन्हें बेचने के लिए बाजार की भी आवश्यकता होती है। जापान एक छोटा सा देश है और उसके औद्योगिक साधन अत्यन्त सीमित हैं। अपने उद्योग–धन्धों के लिए वह स्वयं अपने देश में प्राप्त कच्चे माल से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था; क्योंकि वह बहुत ही अपर्याप्त था। कच्चे माल के लिए वह दूसरे देशों पर आश्रित था। यही बात औद्योगिक चीजों को बेचने के लिए बाजार के साथ भी था। जब उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा तो चीजों के खपत की समस्या आई। इन दोनों चीजों के लिए जापान को दूसरों पर निर्भर करना था। कच्चे माल और बाजार की उपलब्धि के लिए साम्राज्यवादी जीवन का आरम्भ आवश्यक हो गया।"

**(2) सैनिकवाद का विकास** – जापान में आधुनिकीकरण के साथ–साथ सैनिकवाद का विकास भी हुआ था। उसने यह अनुभव किया था कि जब–तक उसकी सैन्य शक्ति मजबूत नहीं होगी तब–तक वह पश्चिम के सामने सिर उठाकर नहीं जी सकेगा, इसलिए जापान में सैनिकवाद का विकास हुआ था और जब सैनिकवाद पर आधारित जीवन शैली अपना ली गई तो अब साम्राज्यवाद का विकास अनिवार्य सा हो गया था।

**(3) बढ़ती हुई जनसंख्या और पश्चिमी साम्राज्यवाद का भय** – जापान के सामने एक और समस्या थी – जापान की बढ़ती हुई आबादी। आधुनिकीकरण के बाद जापान की जनसंख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। वहाँ के क्षेत्रफल के हिसाब से जापान में एक वर्गमील में चीन की अपेक्षा चौगुनी आबादी रहती थी। अतः जापान ने अपनी आबादी को उपनिवेशों में बसाने का प्रयत्न किया। साम्राज्यवादी नीति अपनाने का एक कारण यह भी था।

इसके अलावा यह वह समय था जबकि यूरोपीय राष्ट्र एशिया में तथा जापान के आरा–पारा अपने उपनिवेश स्थापित कर रहे थे अतः जापान के सामने यह भय था कि यदि वह स्वयं साम्राज्यवादी नीति नहीं अपनाता तो यूरोपीय राष्ट्र उसे अपने साम्राज्यवादी शिकंजे में कस लेंगे, इस भय से भी उसने साम्राज्यवादी नीति अपनायी।

जापान की इसी साम्राज्यवादी नीति के परिणाम स्वरूप उसे दो बड़े युद्धों का सामना करना पड़ा।

### बोध प्रश्न

1. जापान के आधुनिकीकरण के प्रारंभ का वर्णन करो?

.................................................................................................

.................................................................................................

.................................................................................................

2. मेईजी पुनःस्थापना का वर्णन कीजिए?

..........................................................................................

..........................................................................................

..........................................................................................

NOTES

## 9.6 प्रथम जापान–चीन युद्ध (1894–95 ई.)

### (THE FIRST SINO - JAPANES WAR)

जापान की साम्राज्यवादी नीति के कारण उसे सबसे पहले चीन से एक युद्ध करना पड़ा। चीन में यूरोपीय देशों ने अपनी लूट खसोट बहुत पहले से मचा रखी थी, अब जापान भी उसमें शामिल हो गया। उसने चीन के बोनिन, कुरील, और रिंकु पर अपना अधिकार कर लिया था। उसके बाद उसने कोरिया पर ध्यान दिया।

### प्रथम जापान–चीन युद्ध के कारण

(1) **कोरिया समस्या** – जापान ने सबसे पहले अपनी साम्राज्यवादी नीति का विस्तार चीन में करना प्रारम्भ किया और उसके सामने चीन में प्रवेश करने का सबसे अच्छा रास्ता था कोरिया। कोरिया की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी जिसके कारण वह चीन और जापान दोनों के लिए महत्वपूर्ण था। जापान बहुत पहले से ही कोरिया पर अपना अधिकार करना चाहता था और सोलहवीं शताब्दी में दोनों के बीच युद्ध भी हो चुका था जिसमें जापान की पराजय हो चुकी थी। जापान का सोचना था कि यदि कोरिया पर किसी और का अधिकार रहा तो जापान की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती थी, इस कारण उसने कोरिया पर अधिकार करने के लिए चीन से युद्ध किया।

(2) **कोरिया में जापान के आर्थिक स्वार्थ** – जापान में औद्योगिकीकरण के परिणाम स्वरूप उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होने लगा था, अतः उसके सामने अधिशेष उत्पादन को बेचने की समस्या थी। कोरिया उसके लिए एक अच्छा बाजार हो सकता था, इसके अलावा उसे अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल की भी आवश्यकता थी जो कि चीन और कोरिया से पूरी हो सकती थी। कोरिया चावल का बहुत बड़ा उत्पादक था और जापान को चावल की आवश्यकता थी अतः कोरिया पर अधिकार करने से उसकी यह समस्या भी हल हो सकती थी, इस तरह जापान के आर्थिक स्वार्थों ने उसे कोरिया पर अधिकार करने के लिए प्रेरित किया।

(3) **कोरिया में जापान का राजनैतिक स्वार्थ और हस्तक्षेप** – चीन कोरिया में कोई हसतक्षेप नहीं करता था, परन्तु वहाँ हमेशा ही राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती थी और इस बात की सम्भावना थी कि यूरोपीय देश उसमें हस्तक्षेप करते, इस सम्भावना के कारण जापान ने कोरिया में राजनैतिक हस्तक्षेप किया। रूस ने कोरिया की उसरी नदी पर अधिकार कर लिया था। इंग्लैण्ड कोरिया से रूस के प्रभाव को समाप्त करना चाहता था इस कारण उसने हैमिल्टन बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। रूस और इंग्लैण्ड के हस्तक्षेप के कारण कोरिया की अखण्डता को खतरा उत्पन्न हो गया, इस स्थिति में जापान ने कोरिया में राजनैतिक हस्तक्षेप किया।

(4) **कोरिया की स्वतंत्रता को जापान द्वारा मान्यता** – 1875 में जापान के एक जहाज पर कोरिया ने गोलीबारी कर दी, इस बात को लेकर जापान की सरकार पर दबाव पड़ने लगा कि वह कोरिया पर आक्रमण करे परन्तु जापान ने कोरिया एक दूत मंडल भेजकर संधि की बात प्रारम्भ की और कोरिया ने भी जापान से संधि करने में ही अपनी भलाई समझी, इस संधि के परिणाम स्वरूप जापान को कोरिया में अनेक सुविधाएं मिल गई। सियोल में जापानी दूतावास खोल दिया गया। कई बन्दरगाह उसके लिए खोल दिए गए। अब जापान ने कोरिया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी, इसके बाद कई अन्य यूरोपीय राष्ट्रों ने भी कोरिया से संधियाँ

कर लीं, इससे कोरिया का महत्व बढ़ने लगा तो चीन को यह लगा कि अब वह उसका करद राज्य नहीं रहेगा, इस स्थिति में जापान और चीन आमने–सामने हो गए।



**(5) कोरिया का आन्तरिक विद्रोह** – कोरिया में इस समय दो दल प्रमुख थे। एक दल चीन का समर्थक था और दूसरा जापान का। वहाँ कैथोलिक धर्म का प्रचार भी था अतः चीन समर्थक राजनीतिक दल ने उनके विरोध के लिए एक दल का गठन किया, इस दल ने दक्षिण कोरिया में सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 1882 में कोरिया के रूढ़िवादी दल ने जापानी दूतावास पर हमला कर दिया, इस हमले के विरुद्ध जापान ने तीखी प्रतिक्रिया बताई और कोरिया से हर्जाना वसूल किया तथा अपने दूतावास की रक्षा के लिए सेना रखने की स्वीकृति प्राप्त कर ली, इसके बाद 1884 में पुनः चीन और जापान कोरिया को लेकर आमने–सामने आ गए थे, इसके बाद 1891 में जब रूस ने फ्रांस से कर्ज लेकर ट्रांस साइबेरियन रेलवे लाइन बनाने का अड्डा कोरिया को बनाना चाहा तो जापान सतर्क हो गया, इसी बीच वहाँ पुनः विद्रोह हो गया, इस विद्रोह को दबाने के लिए कोरिया ने चीन से सहायता माँगी। चीन ने अपने सैनिक वहाँ भेज दिया और जापान को यह सूचना दी कि जैसे ही वहाँ से सैनिकों की आवश्यकता समाप्त हो जायगी वह सैनिकों को वापस बुला लेगा, इस सूचना के मिलते ही जापान ने भी अपने आठ हजार सैनिक कोरिया में भेज दिए, परंतु चीन की सरकार ने दोनों देशों की सेना के पहुँचने से पहले ही विद्रोह को दबा दिया।

**(6) युद्ध के प्रारम्भ होने की परिस्थिति** – यद्यपि कोरिया का विद्रोह दबा दिया गया था, परंतु वहाँ चीन और जापान की सेनाएँ डटी रहीं। दोनों के बीच समझौते की बातचीत भी हुई, परंतु वह सफल नहीं हो सकी। जापान ने कोरिया में स्वयं अपने दम पर सुधार करने का कार्य प्रारम्भ किया। इन सुधारों के विरुद्ध जब वहाँ की सरकार ने प्रतिक्रिया व्यक्त की तो जापान ने वहाँ के राजा को कैद कर लिया, इसके बाद जुलाई, 1894 में चीन का एक जहाज चीनी सैनिकों के साथ कोरिया की ओर जा रहा था जिसे जापान ने रास्ते में ही आक्रमण करके डुबो दिया, इस घटना के बाद चीन ने एक अगस्त को जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

## चीन जापान युद्ध और चीन की पराजय

चीन और जापान का यह युद्ध लगभग नौ माह तक चलता रहा जिसमें जल और थल दोनों ही युद्ध में चीन को हार का मुँह देखना पड़ा। देखने में चीन बहुत बड़ा था परंतु सैनिक दृष्टि से जापान और चीन का कोई मुकाबला ही नहीं था। जापान की सेना प्रशिक्षित और सर्व सुविधा सम्पन्न थी। उसे समय पर वेतन और रसद तथा युद्ध सामग्री मिलती थी। उसके जनरल बहुत ही योग्य और अनुभवी थे। यह उसकी जीत का सबसे महत्वपूर्ण पहलू था, इसके विरुद्ध चीन की सेना न तो ठीक से प्रशिक्षित थी और न उसके पास कोई हथियार थे। उसका प्रशासन भी भ्रष्ट था।

इस युद्ध में चीन की पराजय का विवरण देते हुए डॉ. **दीनानाथ वर्मा** लिखते हैं – "वस्तुतः, युद्ध के प्रारम्भ से अन्त तक कभी भी चीन को कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। सितम्बर के अन्त तक चीनी सेना को कोरिया से भागना पड़ा और यालू नदी की मुठभेड़ में चीनी बेड़े की भीषण पराजय हुई। जापान की एक सेना ने मंचूरिया पर और दूसरी ने लियाओतुंग प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया। किंगचाउ और टांकिन का पतन हो गया और नवम्बर में पोर्ट आर्थर पर भी जापान का कब्जा हो गया। 1895 ई. के प्रारम्भ में जापान की सेनाएँ शांतुंग जा पहुँची जो कोरिया के दूसरे छोर पर स्थित था। फरवरी के मध्य तक वेईहाईवेई का भी पतन हो गया। उत्तर में कई चीनी रखा चौकियों पर जापान ने अधिकार जमा लिया और इसके उपरांत जापान की सेनाएँ चीन की राजधानी को घेरती हुई आगे बढ़ने लगीं, इस हालत में चीन की सरकार ने जापान के साथ कर लेना ही उचित समझा और इसके लिए प्रस्ताव रखा।"

**शिमोनोस्की की संधि** – इस युद्ध में चीन की पराजय हो चुकी थी और उसने जापान से संधि करने का प्रस्ताव रखा, इसके आधार पर 17 अप्रैल, 1895 को दोनों के बीच शिमोनोस्की में एक संधि की गई जिसकी निम्न शर्तें थीं –

(1) कोरिया को एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया और उस पर चीन ने अपना सम्पूर्ण अधिकार छोड़ दिया।

(2) चीन ने कुछ क्षेत्र जापान को दे दिए जिनमें लिआओतुंग, फारमोसा तथा पेस्काडारे द्वीप शामिल थे।

(3) चीन को युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में 20 करोड़ चीनी मुद्रा जापान को देना पड़े।

(4) चीन और जापान के मध्य एक व्यापारिक संधि भी हुई जिसके तहत चीन को कई बन्दरगाह जापान के व्यापार के लिए खोलना पड़े।

**यूरोपीय देशों की प्रतिक्रिया और जापान का लिआओतुंग द्वीप छोड़ना** – चीन जापान युद्ध के बाद हुई संधि पर रूस ने कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त की क्योंकि वह लिआओतुंग प्रायद्वीप पर किसी अन्य का अधिकार नहीं देख सकता था। अतः उसने यूरोपीय देशों के माध्यम से यह दबाव डलवाया कि जापान उस द्वीप पर से अपना अधिकार छोड़ दे। रूस की इस माँग का समर्थन फ्रांस और जर्मनी ने भी किया। जापान इस समय इन तीन देशों का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था। अतः उसने उस द्वीप पर से अपना अधिकार छोड़ दिया।

**जापान–चीन युद्ध का महत्व और परिणाम** – चीन और जापान युद्ध का विश्व इतिहास में बहुत अधिक महत्व है। जापान एक छोटा और कुछ वर्षों पहले तक एक परंपरागत राष्ट्र था, इस युद्ध में विजय के बाद जापान का अन्तरराष्ट्रीय महत्व स्थापित हो गया। अब सारी दुनिया को जापान की ताकत का पता चल गया। अब उसकी गिनती यूरोपीय महाशक्तियों में होने लगी और उसने पूर्व में की गई असमान संधियों से मुक्ति प्राप्त कर ली। जापान में विदेशियों के जो राज्यक्षेत्रातीत अधिकार थे वे अब समाप्त कर दिए गए, इस प्रकार जापान अब यूरोपीय देशों के समकक्ष आ गया था।

इस युद्ध का दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम हुआ कि चीन का महत्व बिल्कुल समाप्त हो गया, इस युद्ध के बाद चीन की ताकत और प्रशासन की पोल खुल गयी। अब यूरोपीय ताकतों ने खुलकर उसकी लूट–खसोट प्रारम्भ कर दी।

इस युद्ध का महत्व इस बात में भी है कि इसके बाद जापानी साम्राज्यवाद को एक विश्वास और विकसित होने का आधार मिल गया, इस युद्ध के आधार पर ही जापान का साम्राज्यवाद आगे विकसित हुआ। जापान के आधुनिकीकरण के बाद उसने जो शक्ति संचय की थी उसका सफल परीक्षण हो गया था, इस सफलता ने ही उसे वह शक्ति दी जिसने अगले दस वर्षों में एक यूरोपीय देश को पराजित किया।

## 9.7 रूस जापान युद्ध (1904– 05) (RUSSO - JAPANESE WAR)

### रूस–जापान युद्ध के कारण

**(1) रूस की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा** – रूस यूरोप का एक विशाल देश था और सुदूरपूर्व में उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा थीं। चीन जापान युद्ध के बाद हुई संधि में जापान को लिआओतुंग द्वीप मिला था, परंतु रूस ने उसे उस पर अधिकार नहीं करने दिया था, क्योंकि वह स्वयं उस पर अपना अधिकार करना चाहता था। रूस चीन में अपने विस्तार के लिए प्रयत्नशील था और यूरोपीय देशों द्वारा चीन की लूट–खसोट में वह सबसे आगे था। जापान रूस की इस विस्तारवादी नीति के कारण चिन्तित था, इस समय जापान का मित्र ब्रिटेन था। जापान ने अपने नए मित्र के बल पर रूस को चुनौती दी। जापान – रूस का यह युद्ध इसी चुनौती का परिणाम था।

**(2) रूस से बदला लेने की भावना** – चीन जापान युद्ध के बाद जो संधि हुई थी उसके द्वारा जापान को लिआओतुंग का प्रायद्वीप मिला था, परंतु रूस तथा फ्रांस और जर्मनी

के विरोध के कारण उसे उस द्वीप पर से अपना अधिकार छोड़ना पड़ा था। अपनी इस हानि का कारण वह रूस को मानता था और उससे बदला लेना चाहता था, इस युद्ध के कारणों में यह भी एक था।

**(3) रूस का चीन में हस्तक्षेप और मंचूरिया का प्रश्न** – मंचूरिया चीन का समृद्ध प्रदेश था। यहाँ कोयला, लोहा और सोना प्रचुर मात्रा में मिलता था। रूस और जापान दोनों ही इस प्रदेश पर अपना अधिकार करना चाहते थे। रूस और चीन में एक संधि हुई जिसके अनुसार रूस को मंचूरिया में ब्लाडीवोस्टक तक एक हजार मील लंबी रेल लाईन बिछाने का ठेका मिल गया, इसके अलावा पोर्ट आर्थर का क्षेत्र 25 वर्ष के लिए रूस को पट्टे पर मिल गया, इस कारण रूस ने इस क्षेत्र की किले बन्दी करना प्रारम्भ कर दी। रूस ने अपने प्रदेश की सुरक्षा के लिए वहाँ अपनी सेनाएँ उतारना भी प्रारम्भ कर दी। जापान रूस के इन कार्यों से बहुत सशंकित हो गया क्योंकि वह स्वयं इस प्रदेश पर अपना अधिकार करना चाहता था। मंचूरिया में प्रभुत्व स्थापना की इस लड़ाई का परिणाम युद्ध हुआ।

**(4) बाक्सर विद्रोह** – चीन में 1900 में एक विद्रोह हुआ जिसे बाक्सर आंदोलन कहते हैं। रूस अधिकृत मंचूरिया में भी इस विद्रोह का विस्तार हुआ तो रूस ने अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के बहाने वहाँ सेना उतार दी और यह कहा कि जैसे ही विद्रोह समाप्त होगा वह अपनी सेना को वापस बुला लेगा, परंतु उसने ऐसा नहीं किया, इससे उसके इरादे स्पष्ट हो गए थे। अतः जापान और रूस में संघर्ष अनिवार्य हो गया था।

**(5) कोरिया पर प्रभुत्व की समस्या** – चीन जापान युद्ध के बाद कोरिया पर जापान का अधिकार हो गया था, परंतु रूस ने इस क्षेत्र में भी हस्तक्षेप किया तो जापान का अधिकार क्षेत्र सीमित हो गया था। इधर कोरिया का राजा भी जापान का विरोध कर रहा था इसलिए जापान के सैनिकों ने उसकी हत्या करने का प्रयास किया। राजा भाग गया और रूस ने उसकी रक्षा की, इस घटना से जापान बहुत नाराज हुआ। कोरिया में जापान और रूस की यह संयुक्त दिलचस्पी दोनों के बीच युद्ध का कारण बनी। इन दोनों के बीच एक संधि हुई जिसके तहत दोंनों ने कोरिया में हस्तक्षेप न करने और उसकी स्वतंत्रता को मानने का वचन दिया, परंतु इस संधि के वावजूद कोरिया की समस्या का समाधान नहीं हो सका। रूस ने इसके खिलाफ कार्य करने प्रारम्भ कर दिए। रूस की इस विस्तारवादी नीति के कारण इंग्लैण्ड भी चिन्तित था। अतः उसने जापान से एक संधि कर ली, इस संधि के बाद रूस ने कोरिया में अपनी गतिविधियाँ तेज कर दीं और यालू नदी के किनारे पर एक बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया, इसके बाद भी जापान ने एक संधि द्वारा कोरिया की स्वतंत्रता को मानने के लिए रूस से कहा, परंतु उसने मानने से इन्कार कर दिया, इससे स्पष्ट होता है कि वह मंचूरिया में अपना प्रभुत्व नहीं छोड़ना चाहता था। अब रूस जापान के बीच युद्ध अनिवार्य सा हो गया था।

## 9.8 युद्ध का प्रारम्भ और प्रमुख घटनाएँ
### (THE BEGINNING OF WAR & MAIN EVENTS)

मंचूरिया और कोरिया के प्रश्न पर जापान और रूस के बीच युद्ध की सम्भावना दिखाई देने लगी थी। जापान को अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास था और इंग्लैण्ड भी उसके साथ था, इस कारण उसने कोरिया के प्रश्न को युद्ध के द्वारा ही निपटाने का निर्णय किया। 1904 तक दोनों के बीच बात–चीत समाप्त हो गई और कूटनीतिक संबंध भी टूट गए। अन्ततः 10 फरवरी को रूस जापान युद्ध प्रारम्भ हो गया।

युद्ध की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करते हुए **डॉ. दीनानाथ वर्मा** लिखते हैं – "इस युद्ध की सबसे अनहोनी बात यह थी कि महान यूरोपीय शक्ति की पराजय एक पूर्वी शक्ति द्वारा हुई – वैसी शक्ति जो पच्चीस तीस वर्ष पहले केवल धनुषबाणों से युद्ध किया करती थी। जहाँ

तक दोनों के आकारों और साधनों का संबंध था, यह युद्ध वस्तुतः 'बौने और दानव' के बीच था। स्थल युद्ध में तो यही प्रतीत होता था कि एक बौना केवल अपने अदम्य साहस तथा अद्भुत रण कौशल से भारी भरकम दानव को पछाड़ रहा था। मई, 1904 में दोनों पक्षों के बीच भयंकर युद्ध हुआ। जापानियों ने रातोंरात नदी पर पुल बना लिया और पौ फटते ही वे नदी के उस पार पहुँच गए। रूसियों में सन्नाटा छा गया। जापानी 'बान्जाई' 'बान्जाई' का नारा लगाते हुए रूसियों पर टूट पड़े। घमासान लड़ाई हुई, जिसमें जापान को निर्णायक विजय मिली। अगस्त में लियाओतुंग पर नौ दिन तक भीषण युद्ध हुआ। अक्टूबर में दस दिनों तक शा–हो में भयंकर रक्तपात हुआ। पोर्ट आर्थर लम्बे समय तक जापान के घेरे में पड़ा रहा फरवरी, 1905 में मुकदेन का कठिन युद्ध हुआ। अन्त में, जापानी सफल हुए और रूस को मुकदेन छोड़ना पड़ा। मंचूरिया में भी जापान का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। मुकदेन की लड़ाई के बाद स्थल पर कोई युद्ध नहीं हुआ, क्योंकि जापान का साधन स्रोत कम हो गया था और रूस की हिम्मत पस्त हो चुकी थी।''

रूस और जापान के युद्ध का निर्णायक मोर्चा समुद्र की मार था। रूस के जहाजी बेड़े प्रशान्त महासागर में मौजूद थे, जिनमें एक पोर्ट आर्थर और दूसरा ब्लाडीवोस्टक में लंगर डाले हुए था। जापान किसी तरह इन बेड़ों को अलग–अलग रखना चाहता था और इस उद्देश्य की पूर्ति में उसे सफलता भी मिली। अक्टूबर, 1904 में रूस का बाल्टिक सागर का जहाजी बेड़ा पूर्व की ओर चल पड़ा। इंग्लैण्ड द्वारा स्वेज नहर का रास्ता बन्द कर दिए जाने पर इसके पैंतालीस जहाज अफ्रीका का चक्कर काटकर 27 मई, 1905 की त्सूशीमा के समुद्र में घुस गए, वहाँ एडमिरल तोगो के जंगी जहाजों ने उनका डटकर मुकाबला किया और दो दिनों में रूस के बत्तीस जहाज डुबो दिए और दो जहाजों तथा एक बमवर्षक पर कब्जा कर लिया। केवल चार जहाज ब्लाडीवोस्टक पहुँच सके; शेष जहाजों ने तटस्थ देशों के बन्दरगाहों पर शरण ली। रूसियों की सैन्यशक्ति चकनाचूर हो गई। अब युद्ध का अन्त निकट हो गया।''

**युद्ध का अन्त और अमेरिकी राष्ट्रपति का हस्तक्षेप** – युद्ध को और अधिक लम्बा चलाना दोनों ही देशों के वश में नहीं था। संधि करने के लिए पहले जापान ने ही पहल की। मई, 1905 में जापान ने अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट से मध्यस्थता करने के लिए कहा। अमेरिकी राष्ट्रपति ने रूस को एक पत्र लिखा जो रूस ने स्वीकार कर लिया। अब अमेरिका मध्यस्थता करने के लिए तैयार हो गया। 10 अगस्त को अमेरिका के पोर्टस्माउथ नामक स्थान दोनों के बीच संधि प्रस्ताव रखा गया।

## पोर्टस्माउथ की संधि

यह संधि पाँच सितम्बर, 1905 को हुई, इसके अनुसार निम्न बातें तय की गई–

(i) कोरिया में जापान के हितों – आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक – को सर्वोपरि मान्यता प्रदान की गई।

(ii) मंचूरिया के संबंध में निर्णय हुआ कि दोनों ही उसे खाली कर देगें।

(iii) लिआओतुंग प्रायद्वीप में रूस ने जापान के अधिकारों को स्वीकार कर लिया।

(iv) सखलीन द्वीप का दक्षिणी भाग जापान को मिल गया।

(v) रूस और जापान दोनों ने एक दूसरे के युद्धबन्दियों का खर्चा देना स्वीकार कर लिया।

(vi) दोनों देशों को मंचूरिया में हथियारबन्द रेलवे रक्षक रखने का अधिकार मिल गया।

(vii) इसमें यह भी निश्चित किया गया कि चीन मंचूरिया में उद्योग एवं व्यापार के विकास के लिए ऐसे कदम उठायेगा जिससे सब देशों को समान लाभ होगा।

## 9.9 रूस–जापान युद्ध का महत्व और परिणाम

### (THE RESULT & IMPORTANCE OF RUSSO - JAPANESE WAR)

इस युद्ध का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जापान का अन्तरराष्ट्रीय महत्व स्थापित हो गया। अब जापान का साम्राज्यवादी दृष्टिकोण और अधिक मजबूत हो गया। रूस की पराजय से जापानी साम्राज्यवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। पूर्वी एशिया की राजनीति में वह एक कदम और आगे बढ़ गया। जापान किसी तरह चीन तक पहुँचना चाहता था, इसी उद्देश्य से उसने 1894 ई. में उसने चीन के साथ युद्ध किया था, इस युद्ध में उसे अपनी उद्देश्य पूर्ति में पूरी सफलता मिली थी। लेकिन, उस समय तीनों राज्यों के हस्तक्षेप के कारण उसके सारे किए कराए पर पानी फिर गया था। रूस–जापान युद्ध में जापान की विजय से इस क्षति की पूर्ति हो गई, इस कारण जापान को चीनी क्षेत्र में घुस जाने का अच्छा अवसर मिल गया। जापान को इस युद्ध से इतने लाभ हुए थे, जिनकी कल्पना उसने स्वयं नहीं की थी, इस युद्ध का सबसे बड़ा लाभ जापान को यह हुआ कि उसे कोरिया को हड़प लेने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

## 9.10 जापान में साम्राज्यवाद के विकास का दूसरा चरण

### (SECOND FACE OF IMPERIALISM IN JAPAN)

### वाशिंगटन सम्मेलन

**साम्राज्यवाद के विकास की पृष्ठभूमि : वाशिंगटन सम्मेलन** – प्रथम चीन–जापान युद्ध के बाद से जापान साम्राज्यवादी देश के रूप में उभरने लगा था। 1895 ई. तक जापान ने अपना साम्राज्य–विस्तार कर लिया था और उसकी प्रादेशिक भूख बहुत हद तक शान्त हो चुकी थी। चीन में उसे कई तरह के विशेषाधिकार मिल चुके थे, इस प्रकार, जापान की महत्वाकांक्षा बहुत हद तक पूरी हो चुकी थी। प्रथम विश्वयुद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान साथी अवश्य थे, किन्तु इससे उनकी पूर्वी एशियाई नीति में कोई फर्क नहीं आया था। दोनों एक–दूसरे से सशंक थे और उनका आपसी मनमुटाव ज्यों–का–त्यों बना हुआ था।

### संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान का सम्बन्ध

अमेरिका और जापान के बीच तनावपूर्ण संबंधों का प्रारंभ 1905 ई. से शुरू हुआ था, इसके कई कारण थे –

(1) 1890 ई. के बाद बहुत से जापानी हवाई द्वीपों और अमेरिका में प्रशान्त तट पर (विशेषतः कैलीफोर्निया में) बसने लगे थे। 1900 ई. में हवाई में अस्सी हजार के लगभग जापानी रहते थे, जो वहाँ की जनसंख्या का चालीस प्रतिशत भाग थे। 1890 ई. में अमेरिका में दो हजार के लगभग जापानी रहते थे, लेकिन 1900 ई. में संख्या चौबीस हजार तक पहुँच गई थी।

(2) पेरिस के शांति सम्मेलन में जापान ने माँगें रखीं कि उत्तर प्रशांत महासागर में स्थित भूतपूर्व जर्मन द्वीप उसे दे दिए जाएँ तथा शान्तुंग प्रशांत–जो पहले जर्मन अधिकार में था – पर उसका अधिकार मान लिया जाए। चीन ने दूसरी माँग का विरोध किया और संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन का समर्थन किया।

(3) पेरिस के शान्ति सम्मेलन से जापान में निराशा उत्पन्न हुई, इस संबंध में जापान का कहना था कि शान्ति सम्मेलन में जापान के हितों को बड़ी क्षति पहुँची है और इसके लिए एकमात्र जिम्मेवार संयुक्त राज्य अमेरिका है। उसके दबाव के कारण जापान के अनेक दावों की शान्ति सम्मेलन में अवहेलना हुई थी।

(4) शांति सम्मेलन के बाद जापान के नेताओं में यह विश्वास जम गया कि संसार में केवल शक्ति को ही मान्यता मिलती है। जब तक जापान सैनिक दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली

और अजेय शक्ति नहीं हो जाता, तब तक पश्चिम के महान राज्य उसकी भावना का आदर नहीं करेंगे।

(5) युद्धोत्तर स्थिति में जापान का सारा गुस्सा संयुक्त राज्य अमेरिका पर था। वह उसे ही अपना विरोधी मानता था। जापान जानता था कि उसे अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी–न किसी दिन संयुक्त राज्य अमेरिका से संघर्ष करना ही होगा। अतः वह अपनी नौ सैनिक शक्ति बढ़ाना आवश्यक मानता था। अब जापान अपनी नौसेना को नए ढंग से पुनर्गठित करने लगा और 1920 ई. के अन्त तक उसने संसार की नविक शक्तियों में तीसरा स्थान प्राप्त कर लिया।

NOTES

**(6) याप द्वीप का झगड़ा** भी जापान और अमेरिका के बीच तनाव का कारण था। पश्चिमी कैरोलाइन द्वीपसमूहों में यह टापू पहले जर्मनी के कब्जे में था। युद्ध के समय जापान ने इस पर अपना अधिकार कर लिया था। याप द्वीप एक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थल था। यह गुआम से मनीला तथा इण्डोनेशिया से शंघाई जाने वाले समुद्री तारों का केन्द्र था। संयुक्त राज्य अमेरिका नहीं चाहता था कि इस पर स्थायी तौर से जापान का अधिकार कायम हो जाए। अतः पेरिस के शान्ति सम्मेलन में अमेरिकी प्रतिनिधि दल ने यह प्रस्ताव रखा कि याप द्वीप का अन्तरराष्ट्रीयकरण कर दिया जाए तथा इस पर राष्ट्रसंघ का नियंत्रण कायम हो। लेकिन, जापानी प्रतिनिधिदल ने इसका बड़ा उग्र विरोध किया और उसने द्वीप पर से जापानी अधिकार हटाने से साफ–साफ इन्कार कर दिया। पेरिस सम्मेलन ने अन्ततः याप द्वीप पर जापान के अधिकार को स्वीकार कर लिया। फिलिपाइन्स द्वीपसमूहों से संयुक्त राज्य अमेरिका को समुद्री तार द्वारा जोड़ने का महत्त्वपूर्ण केन्द्र जापान के नियंत्रण में चला जाए, यह अमेरिकी शासन को मंजूर नहीं था, इस परिस्थिति में दोनों के बीच तनाव उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

**(7) आँग्ल–जापानी संधि** – 1920 ई. में ब्रिटेन और जापान के बीच जो सन्धि हुई थी उसके कारण भी जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका का सम्बन्ध खराब होता जा रहा था। यह सन्धि मुख्यतः रूस और अंशतः जर्मनी का विरोध करने के लिए की गई थी। लेकिन युद्ध के बाद पूर्वी एशिया की परिस्थिति बदल गई थी और अमेरिका का कहना था कि इस बदली हुई परिस्थिति में आँग्ल–जापानी संधि का कायम रहना एकदम जरूरी नहीं है।

**(8) नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता–** प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और जापान दोनों ने एक दूसरे को दृष्टि में रखकर अपनी नौसेना में वृद्धि कर दी। इधर प्रशांत महासागर में जापानी प्रभुत्व कायम करने की दिशा में जापानी नेता संयुक्त राज्य अमेरिका को अपना प्रबल विरोधी मानते थे, इस प्रकार कुछ ही समय में जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच भयंकर रूप से नाविक प्रतिस्पर्धा शुरू हुई।

इस तनावपूर्ण और विषैले वातावरण में संबंधों को संतुलित करने के लिए वाशिंगटन में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया।

## वाशिंगटन सम्मेलन का आयोजन

उपर्युक्त तनाव के वातावरण का परिणाम सभी को मालूम था। अतः 16 मार्च, 1921 को ब्रिटिश नौसेना के प्रधान लॉर्ड ली ने सार्वजनिक रूप से प्रस्ताव रखा कि ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक नौसेना के संबंध में समझौता हो। 5 जुलाई, 1921 को ब्रिटिश विदेश सचिव लॉर्ड कर्जन ने अमेरिकी राजदूत के समक्ष सुझाव रखा कि राष्ट्रपति हार्डिज प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाएँ जिसमें पूर्वी एशिया और प्रशांत महासागर के विषय के सभी आवश्यक प्रश्नों पर विचार किया जाए और इस तरह का समझौता किया जाए, जिससे शान्तिपूर्ण स्थापित हो शस्त्रास्त्रों की प्रतिद्वन्द्विता का अन्त हो। ब्रिटेन ने यह सुझाव जापान तक भी पहुँचा दिया।

NOTES

जापान ने इसका स्वागत नहीं किया क्योंकि जापान जानता था कि सम्मेलन बुलाने का एक लक्ष्य जापान की प्रसारवादी नीति पर अंकुश लगाना है। फिर भी जापान ने सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया। 11 अगस्त, 1921 को सम्मेलन के लिए अनौपचारिक निमंत्रण भेजे गए। अतिथि देशों की सूची में नौ नाम थे – बड़े राष्ट्रों में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और अमेरिका थे एवं छोटे देशों में बेल्जियम, चीन, हॉलैण्ड और पुर्तगाल के नाम थे। सम्मेलन की बैठक 12 नवम्बर, 1921 को शुरू हुई और 6 फरवरी, 1922 को इसका अन्त हुआ, इस सम्मेलन में हुए समझौते इस प्रकार हैं –

**1. पाँच–राष्ट्रीय नौसैनिक सन्धि–** इस सन्धि द्वारा अमेरिका के पास अधिक से अधिक 5,25,000 टन के बड़े जंगी जहाज, ग्रेट ब्रिटेन के पास 5,25,000 टन के जहाज, जापान के पास 3,15,000 टन के जहाज, फ्रांस के पास 1,75,000 टन के जहाज और इटली के पास 1,75,000 टन के जहाज रखा जाना निश्चित हुआ, इससे इनकी नौसैनिक शक्ति का अनुपात 5: 5: 3: 1. 67 :1.67 निश्चित हुआ। वायुयान वाहक जहाजों के लिए निम्नलिखित टनों की मात्रा तय हो गई–अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन 1,35,000 टन, जापान 81,000 टन, फ्रांस और इटली 60,000 टन। वायु एवं स्थल की सेना घटाने के सम्बंध में कोई समझौता नहीं हुआ, किन्तु महाशक्तियों ने उपर्युक्त अनुपात बनाए रखने के लिए अपने चालीस प्रतिशत अधिक जहाज नष्ट करने और दस वर्ष तक नया नौसैनिक निर्माण बन्द करने का निश्चय किया। यह निश्चित किया गया कि दस हजार टन से बड़ा युद्धपोत तथा 27,000 टन से बड़ा तथा आठ इंच से बड़ी तोपों वाला जहाज न बनाया जाए, इसी प्रकार प्रशांत महासागर के नौसैनिक अड्डों के सम्बंध मे यह तय हुआ कि जापान, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका संधि मे उल्लिखित अड्डों के अतिरिक्त नए अड्डे न बनाएँ।

इस तरह वाशिंगटन सम्मेलन की मुख्य उपलब्धि रही कि नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता कम–से कम दस वर्ष के लिए रुक गई, यद्यपि अन्य प्रकार के जहाज के निर्माण में प्रतिस्पर्धा चलती ही रही, इसके अतिरिक्त इस संधि ने ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान को पूर्वी एशिया में नए नौसैनिक अड्डे बनाने या प्राप्त करने का निषेध किया और वर्तमान अड्डों में अधिक किलेबन्दी और शस्त्रीकरण को रोका।

**2, नौ–राष्ट्रीय उन्मुक्त–द्वार सन्धि** – सम्मेलन में शामिल नौ राज्यों के बीच एक दूसरी सन्धि हुई जिसे नौ राष्ट्रीय उन्मुक्त–द्वार सन्धि कहते हैं, इसमें निम्नलिखित निर्णय हुए–

1. चीन की सम्प्रभुता, स्वतंत्रता, प्रादेशिक एवं प्रशासनिक अखण्डता का सम्मान करेंगे।
2. चीन में प्रभावकारी और स्थायी शासन की स्थापना के लिए उसे पूरा और सम्मानपूर्ण अवसर प्रदान करेंगे।
3. चीन में सभी प्रदेशों को वाणिज्य और उद्योगों के लिए समान अवसर देने के सिद्धान्त की प्रभावकारी स्थापना के उद्देश्य से अपने प्रभाव का उपयोग करेंगे।
4. चीन की स्थिति से लाभ उठाएँगे जिससे कि अन्य मित्रदेशों के नागरिकों अथवा प्रजा अधिकार का हनन करने वाले विशेष अधिकार प्राप्त हो सकें उन देशों की सुरक्षा के विरुद्ध होने वाले कार्यों का विरोध करेंगे।
5. आपस में व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से कोई भी ऐसा सन्धि समझौता नहीं करेंगे जिससे उपयुक्त वर्णित सिद्धान्तों का उल्लंघन अथवा हनन हो।
6. सभी देशों के वाणिज्य और उद्योग के लिए चीन में उन्मुक्त द्वार अथवा समान अवसर के सिद्धान्त लागू करने के उद्देश्य से चीन के अतिरिक्त अन्य देशों ने सहमति प्रकट की कि वे स्वयं अथवा अपने नागरिकों को निम्नांकित कार्य को करने से रोकेंगे–
   (i) कोई ऐसा प्रबन्ध जिससे चीन के किसी प्रदेश में व्यापारिक अथवा आर्थिक विकास के सम्बन्ध में अपने हितों के लिए विशेष अधिकारों की स्थापना की जा सकें।

(ii) ऐसा कोई एकाधिकार जिससे चीन के किसी और देश के नागरिकों को चीन में वैध व्यापार अथवा उद्योग आरम्भ करने के अधिकार से अथवा चीन सरकार या किसी स्थानीय अधिकारी के साथ किसी सार्वजनिक उद्योग में भाग लेने से वंचित होना पड़े।

NOTES

**(3) दूसरी नौ–शक्ति सन्धि –** चीन ने अपने ऊपर लगे प्रतिबन्धों को हटाने की माँग की, लेकिन पश्चिमी राष्ट्र चीन में प्राप्त राज्यक्षेत्रातीत अधिकार समाप्त करने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए उन्होंने टालमटोल की नीति अपनाई और चीन को केवल इतने ही आश्वासन से सन्तुष्ट होना पड़ा कि चीन की न्याय–व्यवस्था की जाँच के लिए एक आयोग नियुक्त होगा जो राज्यक्षेत्रातीत अधिकार के सम्बन्ध में सिफारिश करेगा। यह जाँच 1925 ई. तक चलती रही और बाद में गृह–युद्ध छिड़ जाने से इसके काम में और बाधा पड़ी।

इस सम्मेलन में चीन ने यह भी माँग की कि उसे सीमाशुल्क निर्धारित करने का पूरा अधिकार दिया जाए, लेकिन चीन की इस माँग को भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया, इस सम्बन्ध में एकत्र नौराष्ट्रों के बीच एक दूसरी सन्धि हुई जिसने सीमाशुल्क आश्वासन न देते हुए दरों में पर्याप्त वृद्धि की, इसके फलस्वरूप चीन के राजस्व में वृद्धि की सम्भावना हो गई, इस सन्धि में व्यवस्था की गई कि शुल्क की दर तत्काल इस प्रकार संशोधित कर दी जाए कि चीन को विदेशी व्यापार के मूल्य का पाँच प्रतिशत मिलने लगे। यह व्यवस्था भी की गई कि सन्धि के अनुमोदन के तीन महीने के भीतर एक विशेष सम्मेलन बुलाकर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त जाने वाले माल पर लगने वाली चुंगी तथा उसकी समाप्ति पर विचार किया जाए और सम्मेलन इसकी जगह ढाई प्रतिशत तक का सामान्य कर लगाए और कुछ विलास सामग्री पर पाँच प्रतिशत तक का कर लगा दे तथा जल और स्थल की सीमाओं पर लगने वाले करों में एकरूपता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए जिससे दक्षिण में फ्रांस से तथा उत्तर में रूस और जापान से होने वाले व्यापार को वे रियायतें न रहें जो समुद्र द्वारा आने वाले व्यापारियों को प्राप्त नहीं हैं।

**4. चतुःशक्ति शान्ति सन्धि–** 13 दिसम्बर, 1921 को जापान, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस के बीच एक सन्धि हुई जिसे चतुःशक्ति शान्ति सन्धि कहते हैं, इस सन्धि की अवधि दस वर्षों की रखी गई। आँग्ल–जापानी सन्धि रद्द करते हुए चार राष्ट्रों के बीच एक सन्धि हुई, जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव थे –

(i) हस्ताक्षरकर्ता देश प्रशांत महासागर में एक–दूसरे के टापुओं तथा वशवर्ती प्रदेशों का सम्मान करेंगे।

(ii) प्रशांत महासागर में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में कूटनीति द्वारा तय न हो सकने वाले प्रश्नों का निर्णय सम्मेलन द्वारा किया जाए।

(iii) सन्धि करने वाले देशों को यह अधिकार हो कि यदि किसी महाशक्ति की आक्रामक कार्यवाही द्वारा उनके अधिकारों को क्षति पहुँचने की सम्भावना हो तो वे एक दूसरे के साथ इस विषय में पूरा पत्र–व्यवहार कर सकते हैं।

इस प्रकार, इस सन्धि द्वारा आँग्ल–जापान सन्धि समाप्त कर दी गई, इससे पूर्वी एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका की चिन्ता तथा आशंका का एक बहुत बड़ा कारण दूर हो गया।

**5. शान्तुंग के सम्बन्ध में चीन–जापान समझौता–** 4 फरवरी, 1922 को इस सम्बन्ध में चीन और जापान के बीच एक सन्धि हो गई जिसके अनुसार क्याऊ–चाऊ चीन को वापस मिल गया, लेकिन, त्सिनान तिसंगताओ रेलवे पर 15 वर्ष के लिये जापान का नियंत्रण स्वीकार कर लिया गया।

**6. याप द्वीप के सम्बन्ध के अमेरिका–जापान सन्धि–** याप द्वीप प्रशांत महासागर में कैरोलाइन द्वीपसमूह के पश्चिम में अस्सी वर्गमील का चार टापुओं का समूह है। प्रशांत महासागर

में से होकर जाने वाले समुद्री तारों का केन्द्र होने से वह बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इण्डोनेशिया के साथ सम्बन्ध का केवल यही मार्ग था और चीन के साथ सम्बन्ध के दो तारमार्गों में एक यहाँ से गुजरता था। जापान शंघाई जाने वाले इस तारमार्ग को एक दूसरे टापू नावा पर ले जाना चाहता था। संयुक्त राज्य अमेरिका पेरिस के समझौते द्वारा जापान को दिए गए, इस टापू पर अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण कायम करना चाहता था, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिल सकी थी। वाशिंगटन वार्ता के फलस्वरूप 11 फरवरी, 1922 को अमेरिका और जापान में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार अमेरिका ने उत्तरी प्रशांत महासागर में स्थित भूतपूर्व जर्मन द्वीपों पर जापान का अधिकार मान्य कर लिया और बदले में जापान ने याप स्थित अमेरिका नागरिकों को निवास तार और रेडियो से सम्बद्ध अधिकार प्रदान किए।

इस प्रकार वाशिंगटन सम्मेलन के द्वारा जापान और अमेरिकी संबंधों को सहज करने में मदद मिली और कुछ समय के लिए नौ–सैनिक प्रतिस्पर्धा में कमी आई, लेकिन इससे जापानी साम्राज्यवाद के विकास में कोई खास फर्क नहीं आया।

### बोध प्रश्न

1. रूस–जापान युद्ध का वर्णन कीजिए?

 ..........................................................................................

 ..........................................................................................

 ..........................................................................................

2. प्रथम चीन–जापान युद्ध का वर्णन कीजिए?

 ..........................................................................................

 ..........................................................................................

 ..........................................................................................

## 9.11 साम्राज्यवाद के विकास के कारण

वाशिंगटन सम्मेलन के बाद लगभग एक दशक तक जापान का साम्राज्यवादी कार्यकलाप शिथिल पड़ा रहा और वह शान्तिवादी नीति का अवलम्बन करता रहा। लेकिन उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ अन्दर ही अन्दर सुलग रही थीं और वह इस मौके की तलाश में था कि अनुकूल परिस्थिति पाकर इस प्रवृत्ति को फिर से जीवित किया जाए। उसे यह अवसर शीघ्र ही 1930 ई. में मिल गया और इस समय जापान की नीति ने पुनः एक नया मोड़ लिया और कुछ ही दिनों के भीतर जापानी साम्राज्यवाद का द्वितीय चरण प्रारम्भ हो गया। जापानी साम्राज्यवाद के इस पुनरुद्भव के कई कारण थे जो इस प्रकार हैं –

(1) **नया सैन्यवाद** – यह वह समय था जब जापान में सैन्यवादियों के प्रभाव में वृद्धि हो रही थी। 1928–29 से जापान में सैनिकवादियों ने पुनः अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारंभ किया। सितम्बर 1930 में **लेफ्टीनेण्ट कर्नल होशीमोतो किंगशोरी** ने **साकूराकाई** नाम की एक संस्था बनाई जिसका उद्देश्य राजपलटी कर–सैनिक शासन कायम करना था, इसमें उसके साथ थे – लेफ्टीनेण्ट जनरल कोईसी कूनीआकी और मेजर जनरल तातेकावा योशीतसूगू। ये सब आक्रामक नीति का अवलम्बन कर देश की राजनीति में संकट पैदा कर उथल–पुथल मचाना चाहते थे, इस कार्य में उन्हें जापानी पूँजीपतियों, उद्योगपतियों और इजारेदारों का पूरा समर्थन प्राप्त था। जापान और चीन संबंधों के कारण जापानी पूँजीपतियों और उद्योगपतियों को काफी नुकसान हो रहा था। अतः इन दोनों वर्गों ने सैनिकवाद को समर्थन दिया। ये दोनों वर्ग के लोग चाहते थे कि जापान की सरकार चीन के प्रति उग्र नीति का अनुसरण करे। नागरिक प्रशासन से यह सम्भव नहीं था, इस कारण जापानी पूँजीपति और उद्योगपति वर्ग सैनिक शासन की

स्थापना का प्रबल समर्थक बन गया, इस तरह कुछ ही दिनों में सैनिकवादी असैनिकवादियों पर हावी हो गए और राज्य की नीति निर्धारण में उन्होंनें उन्हें एकदम प्रभावहीन बना दिया, इस स्थिति में जापान ने पुनः साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना शुरू किया।

**(2) विकृत राष्ट्रवाद का उदय** – जापान में साम्राज्यवादी नीति या सैनिक शासन के विकसित होने में विकृत राष्ट्रवाद के उदय ने बहुत अधिक सहयोग दिया, इसी समय एक जापानी संस्था **कोकरयूकाई** ने 1930 ई. में अपनी तीसवीं वर्षगाँठ मनाई और इस अवसर पर दो भागों में कोरिया के विलय का एक गुप्त इतिहास प्रकाशित किया, इसके परिशिष्ट में कहा गया था कि जापान के लोगों को पूर्वी संस्कृति की महान पद्धति का विस्तार करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए, इसमें यह भी कहा गया था कि जापान को अपनी कूटनीति तेज कर विदेश में अपने विस्तार की ओर ध्यान देना चाहिए, इस विचारधारा को लेकर जापान में कई संस्थाएँ, समितियाँ और गोष्ठियाँ स्थापित हुईं। इन्होंने विशिष्ट व्यक्तियों–विशेषकर वैसे लोग जो नरम विदेशनीति के समर्थक थे–की हत्या करना अपना परमधर्म बताया। 1930 ई. में एक नवयुवक ने प्रधानमंत्री हामागुची को गोली मार दी। 1932 ई. में फिर कुछ युवक सैनिक पदाधिकारियों ने टोकियो में आंतक फैलाकर प्रधानमंत्री की हत्या कर दी, इस तरह जापान में अत्यंत विकृत राष्ट्रवाद का उदय हुआ जिसने जापानी साम्राज्यवाद को एक नया जीवन प्रदान किया।

**(3) चीन की राजनीति** – उग्रवादी जापानी नेता चीन की राजनीति में नई प्रवृत्तियों को देखकर घबरा गए। 1926 ई. में जब च्यांग काईशेक का नानकिंग सरकार पर प्रभाव कायम हुआ तब से चीन में राजनीतिक एकता कायम करने की दशा में प्रबल प्रयास किया गया। च्यांग काईशेक ने सैनिक सरदारों का सफाया कर दिया और कम्युनिस्टों के साथ घोर मतभेद के बावजूद चीन की राजनीति एकता बहुत हद तक कायम कर ली। उसने चीन विदेशी पट्टे रद्द करने का भी प्रयास किया। चीनी राष्ट्रवाद की इन उपलब्धियों से जापानी नेता घबरा गये। जापान के सैनिकवादियों तथा पूँजीवादियों का यह ख्याल था कि उनके हित में चीन का विभाजन और कमजोर बना रहना ही अच्छा है, लेकिन उन्होंने देखा कि जिस रफ्तार से चीन अपनी राजनीतिक एकता प्राप्त करता जा रहा था, वह क्रम जारी रहा तो जापान को चीन में मिली हुई सारी सुविधाओं का परित्याग कर देना पड़ेगा। अतएव, राजनीतिक दृष्टिकोण से चीन के शक्तिशाली होने के पूर्व ही जापानी नेता चीन पर आक्रमण कर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देना चाहते थे, जिससे चीन में पूर्ण एकता स्थापित न हो सके।

**(4) बोल्शेविकवाद का भय**– जापान में सैनिकवाद के उदय में रूस के बोल्शेविकवाद के विस्तार के भय ने भी सहयोग किया। उसे बोल्शेविकवाद के विस्तार का भय दो तरफ से महसूस हो रहा था –

(i) जब कुओमिन्तांग दल का नेतृत्व च्याग काईशेक के हाथ आया तो सोवियत रूस और चीन का सम्बन्ध बिगड़ने लगा। 1929 ई. में मंचूरिया सीमान्त पर दोनों देशों की सेनाएँ जमा हो गईं। नवम्बर में रूसी सेना ने मंचूरिया पर हमला कर दिया। चीनी फौज इसका विरोध न कर सकी और तितर–बितर होकर पीछे हटने लगीं। 3 दिसम्बर को मंचूरिया के प्रशासक चांग शुएलिआंग ने रूसी शर्त मान ली। 22 दिसम्बर को नानकिंग में रूसी चीनी सन्धि पर दस्तखत हो गए और रूसी नेता जो चाहते थे उन्हें वह मिल गया। मंचूरिया में उनके दतर और कर्मचारी काम करने लगे, इसका प्रभाव तुरन्त जापान की नीति पर पड़ा। जापान ने तुरन्त यह अनुभव किया कि चीन सरकार अब भी बेकार है और रूसियों का सामना करने में समर्थ नही है। जापान जानता था कि चीन की सरकार मंचूरिया को नही बचा सकती है और मंचूरिया में जापान के अपने स्वार्थ थे। जापानी लोग यह गँवारा नहीं कर सकते थे कि बोल्शेविक रूसी मंचूरिया में अपना प्रभाव कायम कर लें। अतः जापान ने तुरन्त ही आक्रामक नीति का अवलम्बन कर मंचूरिया पर आधिपत्य करने का निश्चय किया।

(ii) जापान को एक दूसरी ओर से भी बोल्शेविकवाद का खतरा महसूस हो रहा था। वह था चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ना। उसके नेतृत्व में मजदूरों और किसानों का आन्दोलन सशक्त हो गया था और चीनी कम्युनिस्ट अपने देश की राजनीति के प्रमुख तत्व बनते जा रहे थे। जापान जानता था कि कुओमिन्तांग तथा कम्युनिस्टों के संघर्ष में कम्युनिस्ट विजयी हो गए तो चीन में उसका प्रभाव समाप्त हो जाएगा, इसलिए उसने आक्रमण करके चीन में ऐसी आन्तरिक परिस्थिति उत्पन्न कर देना चाही जिससे चीन का कम्युनिस्ट आन्दोलन दब जाए। 1931 ई. को जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो यह कहते शुरू किया कि इसका उद्देश्य पूर्वी एशिया को साम्यवाद से बचाना है। उसने ऐसा इसलिए कहा ताकि पश्चिमी देशों का समर्थन प्राप्त हो जाए और इसमें उसे पूरी सफलता मिली, इस स्थिति पर जब राष्ट्र संघ में विचार हुआ तो यूरोप के महान पूँजीवादी साम्राज्यवादी साम्राज्यों ने जापान का ही समर्थन किया, क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि जापान का अन्तिम लक्ष्य बोल्शेविकवाद का विनाश ही है।

**(5) 1930 ई. का आर्थिक संकट** – 1929–1932 के विश्व व्यापी आर्थिक संकट ने विश्व के कई देशों में राजनीतिक परिवर्तन कराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। जर्मनी में नाजीवाद का उदय और इटली में फासीवाद की विजय इसी स्थिति की देन थी, इसी तरह 1931 ई. में जापानी साम्राज्यवाद के पुनरुद्भव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण भी 1930 ई. को विश्वव्यापी आर्थिक संकट था। उग्र सैनिकवाद और आक्रामक विदेशनीति का अवलम्बन कर ही इस आर्थिक संकट से उबरा जा सकता था, इस प्रकार जापानी साम्राज्यवाद के पुनरुद्भव में 1930 ई. को आर्थिक संकट की निर्णायक की भूमिका रही।

**(6) बढ़ती हुई आबादी की समस्या** – जिस तरह यूरोप के कई देशों ने अपनी बढ़ती हुई आबादी की समस्या से निपटने के लिए उपनिवेशवाद का सहारा लिया था उसी प्रकार जापान ने भी अपनी लगातार बढ़ती हुई आबादी जो कि इस समय लगभग नौ लाख प्रतिवर्ष की भीषण गति से बढ़ रही थी, को बसाने के लिए साम्राज्यवाद का सहारा लिया, इस बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए जापान जगह ढूँढ़ रहा था, इस समस्या का समाधान विदेशों में प्रवास था, अर्थात् जापानी लोग विदेशों में जाकर बसे।

**(7) विस्तृत आर्थिक क्षेत्र की खोज** – औद्योगिक क्रांति का विकास जापान में भी हो गया था और इस समय तक जापान में औद्योगिक क्रांति की बड़ी प्रगति हो गई थी। उसे अपने उत्पादित माल के लिए बाजार और कच्चे माल का उत्पादक चाहिए था क्योंकि उसके आर्थिक जीवन का आधार व्यापार हो गया था। जापानी माल का निर्यात सामान्यतः दो दिशाओं में होता था। उसके कच्चे रेशम का बाजार अमेरिका और सूती कपड़े का बाजार चीन था। रेशम विलास की वस्तु है और अमेरिका में आर्थिक संकट शुरू हुआ (1930 ई.) तो किसी व्यक्ति के पास विलास की वस्तु खरीदने की क्षमता नहीं रही। जापान के व्यापार पर इसका घातक प्रभाव पड़ा। दूसरी ओर चीन में बराबर जापान के विरुद्ध भावना बन रही थी जिसके कारण वहाँ सदा जापानी मालों के बहिष्कार का आन्दोलन चलता रहता था, इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट के कारण संसार के देश आर्थिक क्षेत्र में संरक्षण की नीति का अनुसरण कर रहे थे, इस कारण भी जापानी मालों को बिकने में और भी परेशानी होती थी। जापान अनुभव कर रहा था कि उसका आर्थिक क्षेत्र बड़ा ही संकुचित है। अपने माल खपाने के लिए जापान एक विस्तृत आर्थिक क्षेत्र की आवश्यकता महसूस करता था जहाँ उसे आयात कर तथा संरक्षण नीति का भय न हो।

**(8) तानाका मेमोरियल**– नई परिस्थितियों में जापान को अपने हितों का ध्यान रखकर नीति का निर्धारण करना था। तत्कालीन प्रधानमंत्री **बरन तानाका गीइची** ने चीन के प्रति ठोस नीति अपनाने का निश्चय किया और उसके लिए उसने एक योजना तैयार की जिसे **तानाका मेमोरियल** कहते हैं। यह जापान के साम्राज्यवादी प्रसार की योजना थी जिससे जापान की बढ़ती हुई आबादी, कच्चे माल की दुर्लभता, आर्थिक संकट आदि का उल्लेख करते हुए जापान

के लिए उग्रवादी आक्रामक नीति को अपनाने पर जोर दिया गया था, इसमें कहा गया था कि मंचूरिया और मंगोलिया चीन के प्रांत नहीं हैं। चीन को जीतने के लिए हमें पहले इन दोनों प्रान्तों को जीतना चाहिए और विश्व को जीतने के लिए चीन पर विजय प्राप्त करना जरूरी है। चीन के सम्पूर्ण साधनों पर अधिकार कर हम भारत, पूर्वी द्वीपसमूह, मध्य एशिया तथा यूरोप तक को जीत सकते हैं, परन्तु इस दिशा में पहला पग मंचूरिया और मंगोलिया का नियंत्रण है।

1931 ई. के बाद जापानी साम्राज्यवाद का जो विस्फोट हुआ उसका आधार यही तानाका मेमोरियल था।

**(9) मंचूरिया का जापान के लिए महत्व** – उपर्युक्त परिस्थितियों ने जापान को साम्राज्यवादी नीति का द्वितीय चरण प्रारम्भ करने के लिए प्रेरित किया। उसने अपनी विस्तारवादी नीति को प्रारंभ करने के लिए मुख्य लक्ष्य मंचूरिया को बनाया। मंचूरिया का पूरा क्षेत्र जापान के लिए विशेष महत्त्व रखता था और यही कारण है कि 1894 ई. से वह इस क्षेत्र पर आँखें गड़ाए हुए था। प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने तक जापान को इस क्षेत्र में रूसी प्रसारवाद का कड़ा मुकाबला करना पड़ा। विश्व युद्ध के दौरान जापान को अपना प्रभाव फैलाने का और अच्छा मौका मिला, इस समय चीन के समक्ष जो इक्कीस माँगें रखीं उनके द्वारा मंचूरिया स्थित पट्टे वाले क्षेत्र और रेलवे पर जापान के कब्जे की अवधि बढ़ाकर 99 वर्ष तक कर दी गई और जापानी लोगों को वहाँ जाकर बसने तथा व्यापार करने का पूरा अधिकार प्राप्त हो गया और अब जापान ने उन अधिकारों को परित्याग करने से साफ–साफ इनकार कर दिया जो मंचूरिया से उसे प्राप्त थे। मंचूरिया में जापान की दोनों समस्याओं का समाधान किया जा सकता था। एक तो मंचूरिया का बाजार जापान के लिए सुरक्षित हो सकता था और वहाँ आयात कर का झमेला भी नहीं उठ सकता था। दूसरे वहाँ जापान की आबादी को भी बसाया जा सकता था, इसके अलावा मंचूरिया में परमावश्यक कच्चे माल – लोहा, कोयला, तेल इत्यादि बहुमूल्य खनिज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे जो जापानी उद्योगों के लिए महत्त्वपूर्ण थे।

**(10) मंचूरिया का चीन में विलय** – जापान की नीति के ठीक विपरीत, चीन मंचूरिया को आपने साथ पूरी तरह से सम्मिलित कर देश की राजनीतिक एकता पूर्ण करने का इरादा रखता था। मई, 1917 में चीनी सेना उत्तर की ओर बढ़ी और कुछ ही दिनों में पीली नदी तक पहुँच गई, इस हालत में जापान की आँखें खुलीं। मंचूरिया को कुओमिनतांग सरकार से बचाने के लिए उसने कुछ सैनिक टुकड़ियाँ शांतुंग के इलाके में उतार दी और महत्त्वपूर्ण स्थलों पर कब्जा कर लिया ताकि कुओमिन्तांग की सेना को आगे बढ़ने से रोका जा सके। सैनिक कार्यवाही कर लेने के बाद जापान ने मंचूरिया को चीन में शामिल करने के विरुद्ध कूटनीतिक विरोध प्रकट किया, इसी समय मंचूरिया का शासन चाँगन्सोलीन कुओमिन्तांग सरकार से समझौता करने को तैयार हो गया। जापानी अधिकारियों को यह बात अच्छी नहीं लगी और एक रहस्यपूर्ण बम के फूटने से चाँगन्सोलीन की मृत्यु हो गयी। यह बम दुर्घटना जापानी षड्यंत्र का परिणाम थी। चाँगन्सोलीन का पुत्र चोंग सुएह–लियांग पहले से ही राष्ट्रीय सरकार के साथ एकीकरण चाहता था। अतः दिसम्बर 1928 के अन्त में मंचूरिया विधिवत चीन का एक अभिन्न अंग बन गया ।

**(11) मंचूरिया में चीन –जापान विवाद** – 1931 ई. तक पूरा मंचूरिया जापान के हितों के संघर्ष का प्रतीक बन गया। चीनी राष्ट्रवादी उसे अपनी रक्षा की प्रथम पंक्ति कहते थे और जापानी सरकार उसे जीवनदायिनी सम्पर्क रेखा कहती थी। चीन की दृष्टि में मंचूरिया चीन का अन्नागार था। जापान चाहता था कि मंचूरिया में उसके विशेष हितों को मान्यता मिले इन हितों कि रक्षा की प्रक्रिया में किसी तरह की छेड़खानी न हो। जापान कहना था कि दक्षिण मंचूरिया और पूर्वी अन्दरूनी मंगोलिया चीन से पृथक है और इनमें जापानी पूँजी लगी हुई है जिसकी रक्षा करना उसका दायित्व है। जापानी सरकार 1896 ई. की सन्धि का हवाला देती थी, जिसके अनुसार उसे वह रेलमार्ग बनाने और उसका प्रबन्ध करने का पूरा अधिकार मिला हुआ था। चीनी सरकार का कहना था कि ऐसा होते हुए भी जापान को पुलिस, शिक्षा कर व्यवस्था आदि कार्यों के विषय में कोई अधिकार नहीं हैं। जापानी सरकार बार–बार **युआन शीह काई**

से की गई 1915 ई. की सन्धि का राग भी अलापती थी, परन्तु चीन के अधिकारी कहते थे यह सन्धि दबाव में की गई थी इसलिए इसकी कोई वैधता नहीं है।

NOTES

चीन जापान के मंचूरिया संबंधी विवाद का दूसरा कारण मंचूरिया में रहने वाले आठ लाख कोरियाई भी थे, जो 1910 ई. के बाद जापानी प्रजा हो गए थे। चीन ने मंचूरिया में कोरियाइयों द्वारा भूमि प्राप्त करने का विरोध किया। उधर जापान ने कोरियाइयों को चीनी नागरिक बना लेने के चीनी प्रयत्न को मान्यता देने से इनकार कर दिया।

## 9.12 मंचूरिया पर आक्रमण

1928 ई. के अन्त में जब मंचूरिया विधिवत चीनी राज्य में मिला लिया गया तो जापानी नेताओं के कान खड़े हो गए और यह आशंका पैदा हुई कि चीन की राष्ट्रवादी सरकार की नीति से कहीं जापानी साम्राज्य विस्तार संबंधी स्वार्थों का अन्त न हो जाए। मंचूरिया में राजनीतिक परिवर्तन होने के फलस्वरूप जापान के सैनिक और असैनिक अधिकारियों में प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई।

अन्ततः जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण का निर्णय ले ही लिया और इसकी तैयारी प्रारंभ कर दी। युद्ध का औचित्य जापानी नागरिकों में सिद्ध करने के लिए 17 अगस्त 1929 में जापान में सैनिक विमानों से पर्चे गिराये गए, जिसमें कहा गया था कि सारा राष्ट्र मंचूरिया में जापानी सुविधाओं पर अतिक्रमण से उत्पन्न खतरों से सचेत रहे। चीन के अधिकारी भी सतर्क हो गये थे और मुकदेन स्थित चीनी सेना को संघर्ष से बचाने के लिए सतर्कता और धीरज रखने का आदेश दिया। 1931 ई. में हुई नाटकीय घटनाओं ने कुछ और ही कहानी लिख दी। सितम्बर तक सैनिकवादियों ने पूर्णता शासन पर कब्जा कर लिया था। उधर सारा संसार आर्थिक प्रलय में डूबा हुआ था। आर्थिक संकट के कारण विश्व के सारे प्रमुख देश अपनी आन्तरिक स्थिति से निजात पाने का प्रयत्न कर रहे थे। अतः जापानी साम्राज्यवाद को मंचूरिया पर आक्रमण करने के लिए इससे अच्छा मौका नहीं मिल सकता था।

**मंचूरिया पर जापानी आक्रमण** – इस वातावरण को चीन और जापान का आपसी सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ता जा रहा था। कुछ घटनाएँ ऐसी हुई जिनसे युद्ध की परिस्थितियाँ बनती गई इनमें प्रमुख हैं –

(i) मई, 1931 में कोरियाई तथा चीनी किसानों के बीच वान–पाओशान नामक एक जगह में दंगा हो गया। जापानी सैनिकों ने कोरियाई का पक्ष लिया और चीनियों को मार भगाया, इस क्रम में कई लोग हताहत हुए। जापान और कोरिया दोनों देशों में इस घटना का खूब प्रचार किया गया, ताकि चीन विरोधी भावनाएँ भड़काई जा सकें।

(ii) 27 जून, 1931 को ताओनान के निकट कुछ चीनियों ने जापानी कप्तान नाकामूरा की हत्या कर दी। जापानी सरकार ने चीन के अधिकारियों से माफी माँगने और हर्जाना देने को कहा, लेकिन चीन ने देर की और नाकामूरा पर जासूसी का इल्जाम लगाया। जापानी सैनिकवादियों ने इस घटना से अधिकतम लाभ उठाने का निश्चय किया। उन्होंने तत्काल युद्ध की माँग की।

(iii) 18 सितम्बर की रात मे मुकदेन नामक एक स्थान में एक रहस्यमयी घटना घटी। मुकदेन ने पन्द्रह हजार जापानी सैनिक रहते थे, इस दिन एक विस्फोट हुआ और उसके बाद कुछ गोलियाँ चली, इस घटना के कुछ दिन पूर्व से ही जापानी सैनिक युद्ध का अभ्यास कर रहे थे, जिसके क्रम में रायफल और मशीनगन से बहुत सी गोलियाँ चलाई गई थी। अतः इस रात्रि की घटना ने लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया पर जब सबेरे मुकादेन के निवासी जागे तो उन्होंने अपने को जापानी सैनिकों के कब्जे में पाया, इस तरह मुकदेन शान्तिपूर्वक जापानियों के कब्जे में चला गया।

इस घटना के चार दिनों के भीतर ही मुकदेन के उत्तर में 290 मील के घेरे में स्थित सभी चीनी नगरों पर जापानियों ने कब्जा कर लिया, किन्तु जापान की साम्राज्यवादी भूख इतने से शांत नहीं हुई। नवम्बर के अन्त तक मंचूरिया का विशाल भूभाग जापानियों के कब्जे में आ चुका था, इसके बाद जापान की सेना दक्षिण की ओर बढ़ी। 8 अक्टूबर को जापानी विमानों पर बम गिराए और 3 फरवरी 1932 को उस पर कब्जा कर लिया और इस प्रकार सारे दक्षिण मंचूरिया पर उनका पूर्ण आधिपत्य हो गया।

## मंचूरिया का युद्ध और राष्ट्रसंघ की नीति

1931 के मंचूरिया–संकट ने राष्ट्रसंघ के विनाश को अवश्यम्भावी बना दिया। राष्ट्रसंघ के पतन को समझने के लिए इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। मंचूरिया पर जापान के आक्रमण की समस्या को राष्ट्रसंघ सुलझा नहीं सका और उसकी यह असफलता ही उसके पतन का प्रारंभ बन गई, इस समस्या को सुलझाने में संघ ने बहस, जाँच, आयोग की नियुक्ति, नैतिक दबाव इत्यादि कई उपाय किए परन्तु वह सफल नहीं हो सका। जापान ने मंचूरिया पर आधिपत्य कर लिया। यह घटना राष्ट्रसंघ के पतन के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी थी। जापान के द्वारा मंचूरिया का बलात्कार होता रहा और राष्ट्रसंघ देखता रहा। यहाँ इस आक्रमण और उसके संदर्भ में राष्ट्रसंघ की नीति और कार्य प्रणाली का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है –

**जापान का मंचूरिया पर आक्रमण** – रूस की सीमा से लगा हुआ एक विशाल चीनी प्रान्त हैं। जापानी उद्योगपतियों ने उस प्रान्त में अपनी विपुल धनराशि लगा रखी थी। अतः जापान की सरकार इस प्रदेश को अपने प्रभाव में रखना चाहती थी। 17 सितम्बर, 1931 को जापान ने यह कह कर की चीन ने उसकी रेलवे संपत्ति को नष्ट कर दिया है, अचानक मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। कुछ ही दिनों में उसने मंचूरिया के अधिकांश भू–भाग पर अधिकार जमा लिया और वहाँ मंचूकाओ सरकार के नाम से एक कठपुतली सरकार की स्थापना करके उसे मान्यता प्रदान कर दी।

जापान का यह आक्रामक कार्य राष्ट्रसंघ विधान पर घोर अतिक्रमण था क्योंकि चीन राष्ट्रसंघ के विधान की 11वीं धारा के अनुसार जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से सहायता की याचना की। मंचूरिया पर आक्रमण होते ही चीन की नानकिंग–सरकार ने तुरंत उसका विरोध किया और उसने तीन दिनों के बाद 21 सितम्बर, 1931 को राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार सारा चीन–जापान विवाद कौंसिल के सम्मुख रखा। जापानी सरकार ने ब्रिटिश सरकार को यह आश्वासन देकर कि उसका असल उद्देश्य साम्यवाद के प्रचार को रोकना है, अपने पक्ष में कर लिया। चीन की शिकायत पर कौंसिल में बहस होती रही और 30 सितम्बर 1939 को एक प्रस्ताव निर्विरोध रूप से स्वीकार कर लिया गया, जिसका उद्देश्य जापान को पीछे हटने के लिए तैयार करना तथा यथास्थिति को पुनर्स्थापित करना था। प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद कौंसिल का अधिवेशन दो सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया।

इस बीच में मंचूरिया को छोड़ने के बजाय जापान उसको अपने चंगुल में और कसकर जकड़ने का प्रयास करता रहा। यह स्पष्ट हो गया कि जापान केवल राष्ट्रसंघ के विधान का ही उल्लंघन नहीं कर रहा है, अपितु पेरिस–पैक्ट और वाशिंगटन नौ राष्ट्रसंघ का भी उल्लंघन कर रहा है। इन दो संधियों का संबंध संयुक्त राज्य अमेरिका से भी था, इस देश में जापानी आक्रमण के महत्व को समझा जाने लगा। शुरू में कौंसिल ने अमेरिका को वाद–विवाद में भाग लेने के लिए आमंत्रित भी किया, पर अमेरिकी सरकार ने कौंसिल के प्रयत्नों की सराहना करके उसमें सम्मिलित होने से इंकार कर दिया। उसने चीन और जापान दोनों देशों में कूटनीतिक तरीकों से अनुरोध किया कि वे कौंसिल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें। लेकिन, पूर्वी एशिया की स्थिति गंभीर हो रही थी और अमेरिका उसको चुपचाप बैठे नहीं देख सकता था। उसने कौंसिल से अनुरोध किया कि यदि अमेरिका की कौंसिल को कार्यवाही में भाग लेने को कोई निमंत्रण दिया गया तो वह ऐसे निमंत्रण का स्वागत करेगा। मंचूरिया के प्रश्न पर विचार करने

के लिए 14 अक्टूबर को कौंसिल का अमेरिका को वाद–विवाद में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाय। जापानी प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। लंबे वाद–विवाद के बाद यह तय हुआ कि अमेरिका को कौंसिल के कार्यों में भाग लेने के लिए बुलाया जाये और 16 अक्टूबर को अमेरिकी प्रतिनिधि श्री गिलबर्ट ने कौंसिल में अपना स्थान ग्रहण किया। अमेरिका के इस सहयोग से कूटनीति के क्षेत्रों में काफी उत्साह बढ़ गया। ऐसा समझा गया कि राष्ट्रसंघ ने जापान को खो दिया तो उसकी जगह पर अमेरिका जैसा राष्ट्र उसे प्राप्त हो गया किंतु, इस आशा पर तुरंत ही पानी फिर गया। अमेरिकी प्रतिनिधि ने यह घोषणा की कि वह कौंसिल की कार्यवाही में उसी सीमा तक भाग लेगा जिसका संबंध पेरिस पैक्ट से होगा। वास्तव में, अमेरिकी सरकार राष्ट्रसंघ में कोई सक्रिय भाग लेने के लिए अभी तैयार नहीं थी।

इस बीच कौंसिल में मंचूरिया के प्रश्न पर वाद–विवाद होता रहा। जापानी प्रतिनिधि इस बात पर जोर देता रहा, कि मंचूरिया में उसने जो कार्यवाही की है वह आत्मरक्षा के उद्देश्य से की गयी है और इसको युद्ध न मानकर पुलिस कार्रवाई मानी जाए। उसने यह रुख अपनाया कि चीन और जापान दोनों देश प्रत्यक्ष वार्ता करके ही इस मामले को तय कर सकते हैं। पर, जब प्रत्यक्ष वार्ता के तरीकों पर बहस होने लगी तो इसमें चीनी और जापानी विचार सर्वथा एक दूसरे के विपरीत थे। चीन का कहना था कि किसी वार्ता के प्रारंभ करने के पूर्व चीन की भूमि से जापानी सेना का हट जाना आवश्यक है और जापान का कहना था कि वार्ता द्वारा ही सेना हटाने के तरीकों को तय किया जाय। चीन को कौंसिल के अन्य सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। 24 अक्टूबर को इस आशय का एक प्रस्ताव कौंसिल के सामने पेश किया गया कि वार्ताएँ चलने के पहले 16 नवम्बर तक जापान अपनी सेना हटा ले। जापान को छोड़कर प्रस्ताव के पक्ष में सभी सदस्यों ने वोट दिये।

**लिटन आयोग :** घटनास्थल पर पहुँच कर लिटन आयोग धीरे–धीरे अपना काम करने लगा, इसी बीच 29 जनवरी के दिन जापान ने शंघाई पर अपना आक्रमण शुरू कर दिया। शंघाई–युद्ध की तरफ संसार का ध्यान आकर्षित करते हुए चीन सरकार ने यह माँग की कि राष्ट्रसघ–विधान की 10वीं और 15 वीं धारा को जापान के विरुद्ध लागू किया जाय। जापान के आक्रमण पर विचार करने के लिए उसने यह भी अनुरोध किया कि राष्ट्रसंघ–एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। चीन ने अनुभव किया कि कौंसिल में केवल बड़े राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व है और वे जापान के विरुद्ध कोई कड़ी कार्रवाई करना नहीं चाहते। एसेम्बली में छोटे राष्ट्रों का जिन्हें आक्रमण का सबसे अधिक भय रहता था, बहुमत था और वे जापान के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्रवाई करने का समर्थन कर रहे थे। चीन ने सोचा कि शायद एसेम्बली द्वारा उसके प्रति न्याय हो, पर यह आशा भी व्यर्थ ही साबित हुई। 12 फरवरी, 1932 को यह विवाद एसेम्बली में भेजा गया और 3 मार्च को उसका विशेष अधिवेशन हुआ, इस प्रकार मामला ऐसी जगह पहुँच गया जहाँ सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत की वास्तविक जाँच पहले–पहल होने वाली थी। अधिवेशन में विश्व–शांति और सामूहिक सुरक्षा जैसे विषयों पर सुन्दर–सुन्दर भाषण दिये गये, पर इसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यावहारिक काम नहीं किया गया। लिटन आयोग की रिपोर्ट प्राप्त हाने तक एसेम्बली का काम स्थगित कर दिया गया। जापान के विरुद्ध कोई कार्रवाई बड़े राष्ट्रों के समर्थन से ही सम्भव थी। बड़े राष्ट्रों में, सोवियत संघ और अमेरिका जिनकी पूर्वी एशिया की राजनीति में दिलचस्पी थी, राष्ट्रसंघ के सदस्य ही नहीं थे और ब्रिटेन जो थोड़ा–बहुत नौ–सैनिक कार्रवाई कर सकता था, जापान के इस अपवित्र कार्य का नैतिक समर्थन ही कर रहा था, इस दशा में जापान के विरुद्ध कुछ कर सकना कठिन कार्य था। अमेरिका ने 7 फरवरी को स्टिमसन सिद्धांत प्रतिपादित करके मंचुकाओ सरकार को मान्यता देने से इंकार कर दिया। कुछ और राष्ट्रों ने अमेरिका का अनुकरण किया। पर इससे लाभ ही होने वाला था? उधर लिटन–आयोग मन्थर गति से अपना कार्य कर रहा था। चीन के लिए किसी को फिक्र नहीं थी। उसको अपने भाग्य के ऊपर छोड़ दिया गया।

**राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता :** 6 सितम्बर, 1932 को लिटन– रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ–एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन हुआ। राष्ट्रसंघ ने समझौता कराने के अनेक प्रयत्न किये, पर 1933 के आरंभ में सब आशाएँ विनष्ट हो गयीं। कारण, 1 जनवरी को जापान ने फिर से अपनी आक्रमणात्मक कार्रवाई शुरू कर दी। अन्त में एसेम्बली ने सारे मामले को उन्नीस व्यक्तियों की एक समिति के जिम्मे सुपुर्द कर दिया, इस समिति को समझौते की एक योजना तैयार करने का काम दिया गया। समिति ने इस तरह की कोई योजना प्रस्तुत करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, जो दोनों दलों को मान्य हो। फिर भी, इसने सिफारिश की कि चीन और जापान राष्ट्रसंघ की एक समिति के तत्वावधान में जापानी सेना को हटा लेने तथा चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत मंचुरिया में स्वायत्त शासन की स्थापना के लिए वार्ताएँ शुरू कर दें, इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों से अनुरोध किया गया कि वे मंचुकाओ सरकार को मान्यता नहीं दे, इस रिपोर्ट में क्या नहीं कहा गया। या किन बातों की उपेक्षा की गयी थी, वह बात और भी महत्वपूर्ण थी। चीन और जापान दोनों राष्ट्रसंघ के सदस्य थे और इस हैसियत से दोनों ने वादा किया था कि वे किसी देश की प्रादेशिका अखण्डता पर अतिक्रमण नहीं करेंगे। पर जापान राष्ट्रसंघ के एक सदस्य–राष्ट्र पर खुले तौर से आक्रमण कर उसके प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा रहा था। राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार जापान को आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक और आर्थिक पाबन्दियाँ लागू करनी चाहिए थीं। समिति ने यद्यपि यह अस्वीकार किया कि जापान की सैनिक कार्रवाई पुलिस–कार्रवाई है, पर उसने यह नहीं कहा कि इस देश ने राष्ट्रसंघ विधान का उल्लंघन किया है। यह था अन्तरराष्ट्रीय न्याय का एक नमूना। जापान के नग्न और लज्जाहीन आक्रमण को केवल इसलिए भुला दिया गया कि पश्चिम के साम्राज्यवादी बड़े राष्ट्रों को उम्मीद थी कि उन्हें कोई परवाह नहीं थी। वास्तव, में यह अन्तरराष्ट्रीय मत्स्यन्याय का युग था – बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

17 फरवरी को इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गयी। 24 फरवरी को इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ एसेम्बली की बैठक हुई। रिपोर्ट पर मत लिया गया और बयालिस वोटों से रिपोर्ट स्वीकार कर ली गयी। याम ने अपना मत नहीं दिया और जापान ने विरोध में अपना मत दिया। मतगणना के बाद जैसे ही परिणाम की घोषणा की गयी। जापानी प्रतिनिधिमंडल के नेता ने उसके तुरंत ही बाद एक छोटा–सा भाषण दिया, जिसमें एसेम्बली की कार्यवाही पर खेद प्रकट किया। राष्ट्रसघ के साथ सहयोग करना अब जापान के लिए असम्भव है।

राष्ट्रसंघ के एक सदस्य पर बलात्कार होता रहा, उसके विधान का उल्लंघन होता रहा, लेकिन किसी ने इसको रोकने के लिए कोई सक्रिय या व्यावहारिक कदम नहीं उठाया। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धांत एक कोरी कल्पना बन गया, इस कारण राष्ट्रसंघ पर से लोगों का विश्वास जाता रहा। छोटे–छोटे राज्य भयभीत हो गये। एक बार चीन पर आक्रमण हुआ, दूसरी बार किसी दूसरे पर भी हो सकता है। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धांत बालू की भीत की तरह ढह गया, इसमें एक मात्र जापान को दोषी ठहराया जा सकता था, इसमें उन लोगों का भी दोष था, जिन्होंने इस पद्धति का सूत्रपात किया था और जब इसको लागू करने का समय आया तो पीछे हट गये। वास्तव में, मंचूरिया–कांड ने राष्ट्रसंघ का सर्वनाश ही कर दिया।

## मंचूकूओ की स्थापना

18 फरवरी, 1932 को जापान ने मंचूरिया नाम बदलकर मंचूकूओ कर दिया और वहाँ एक कठपुतली सरकार कायम कर दी। 4 मार्च को अपदस्थ मंचू सम्राट फू–ची को इसका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया और जापान ने तुरन्त ही इसे एक स्वतंत्र राज्य के रूप में मान्यता दे दी, लेकिन मंचूकूओ नाममात्र का एक पृथक और स्वतंत्र राज्य था। वस्तुतः यह पूर्णतः जापानियों की कठपुतली सरकार थी। शासन के ऊँचे–ऊँचे पदों पर जापानी नागरिक नियुक्त किए गए। मंचूकूओ के शासन के लिए एक बोर्ड की स्थापना हुई जिसके सभी सदस्य जापानी थे। नागरिक सेना के अधिकतर पदों पर भी जापानियों की ही नियुक्त की गईं थी।

NOTES

## 9.13 जापान का राष्ट्रसंघ से अलग होना

20 मार्च 1933 को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की विधिवत सूचना दे दी। आक्रमणकारी को सब कुछ मिला आक्रान्ता को कुछ भी नहीं। राष्ट्रसंघ पर मंचूरिया काण्ड का बहुत घातक असर हुआ। राष्ट्रसंघ के एक सदस्य पर बलात्कार होता रहा, राष्ट्रसंघ के विधान का उल्लंघन होता रहा लेकिन किसी ने इसे रोकने के लिए कोई सक्रिय या व्यावहारिक कदम नहीं उठाया। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त एक कोरी कल्पना बन गया, इस कारण राष्ट्रसंघ पर से लोगों विश्वास जाता रहा। छोटे–छोटे राज्य भयभीत हो गए। एक बार चीन पर आक्रमण हुआ दूसरी बार किसी दूसरे पर भी हो सकता है। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त बालू की दिवाल की तरह ढह गया।

### बोध प्रश्न

1. मंचूरिया पर आक्रमण का वर्णन कीजिए?

..............................................................................................................

..............................................................................................................

..............................................................................................................

2. साम्राज्यवाद के विकास के कारण लिखिए?

..............................................................................................................

..............................................................................................................

..............................................................................................................

## 9.14 मंगोलिया में जापानी विस्तार

मचूरिया में जम जाने के बाद जापान ने अन्दरूनी मगोलिया में पैर फैलाने शुरू किए, इस प्रदेश में उसकी रुचि 1915 ई. की इक्कीस माँगों में स्पष्ट हो गई थी। 1933 ई. के प्रारम्भ में जापानी सेना ने अपना अभियान शुरू किया जिसका उद्देश्य जीहोल पर अधिकार जमाना था। मार्च 1933 में जीहोल की राजधानी चेंगतेह पर उसका कब्जा हो गया। जापान का उद्देश्य चीन सेना मंचूरिया और उत्तरी चीन के बीच एक तटस्थ इलाका कायम करना था। मई, 1923 में तांगकू की सन्धि हुई, जिसमें चीन की बड़ी दीवार के पूर्वी भाग के किनारे–किनारे एक सैन्यविहीन प्रदेश कायम किया गया, इससे भी सन्तुष्ट न होकर जापानी अधिकारियों पर होपेई प्रान्त के पूर्वी भाग में होपेई के शेष भाग को मंगोलिया के चाहार प्रान्त से जोडकर होपेई–चाहार सैनिक परिषद बनाई गई। इन सारे जापानी अधिकृत इलाकों को जापानी सामान चोरी–छिपे चीन आता था। विशेष तौर से नशीली चीजों का व्यापार जोरों पर था।

### विदेशी सहायता और जापानी दबाव

जापान का मुख्य लक्ष्य होपेई शान्सी और शान्तुंग पर आधिपत्य करना था। लेकिन 1937 ई. तक उसने इन प्रदेशों पर अधिकार जमाने के लिए कोई कारगर सैनिक कार्यवाही नहीं की, इसका मुख्य कारण यह था कि इन प्रान्तों में पश्चिम राज्यों के भी हित थे और यदि जापान यहाँ खुला आक्रमण कर देता है तो युद्ध का स्वरूप व्यापक हो सकता था। फिर भी जापान का इरादा स्पष्ट था। अभी जापान आक्रमण के खिलाफ चीन को राष्ट्रसंघ से कोई मदद नहीं मिल पाई थी, लेकिन जब विदेशियों के हितों पर प्रत्यक्ष खतरा उपस्थित हुआ तो राष्ट्रसंघ ने चीन की तकनीकी सहायता करने की योजना मंजूर कर ली। कर्टिस राइट नामक एक अमेरिकी ने चीन की तकनीकी वायुयान बनाने के लिए एक कारखाना खोला तथा अमेरिका वायुसेना के अफसर चीनी हवाबाजों और विमानचालकों को प्रशिक्षण देने लगे। चीन के लिए अमेरिका हवाई

जहाजों और उनके सामानों की बिक्री एकदम तेज कर दी गई, इस पर जापान ने आपत्ति की। उसका कहना था कि बाह्य देशों को चीन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। चीन या तो स्वयं अपने साधनों का विकास करे तथा जापानी सहायता पर निर्भर करे। उसने दावा किया कि पूर्वी एशिया सुरक्षा की जिम्मेवारी जापान पर है और इसमें पश्चिमी राज्य का हस्तक्षेप अनुचित है।

जनवरी, 1936 में जापानी विदेशमंत्री ने चीन के प्रति जापानी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए तीन बातों पर जोर दिया–

(1) चीन और जापान के बीच मित्रपूर्ण सम्बन्ध हो और वह उसके खिलाफ सब शांतिपूर्ण कार्य बन्द कर दें।

(2) मंचूरिया और चीन के सम्बन्ध सामान्य हो जाएँ।

(3) दोनों देश कम्युनिस्टों का खात्मा करने के लिए सामूहिक रूप से कार्यवाही करें।

जिन दिनों ये बातें चल रही थीं उन दिनों जापानी सेना होपेई चाहार, सुइचूआन, शांतुग और शान्सी के लोगों को नानकिंग की सरकार से स्वतंत्र होने के लिए उकसा रही थी। 18 नवम्बर 1935 को इस बात की घोषणा कर दी गई कि एक सप्ताह में इन इलाकों की स्वतंत्र सरकार कायम कर दी जाएगी, लेकिन इसमें जापानियों को विशेष सफलता नहीं मिली। 1935 ई. के अन्त में चीन–जापान के बीच पूर्ण गतिरोध कायम हो गया था न तो इन देशों के बीच युद्ध ही चल रहा था और न सामान्य सम्बन्ध कायम था।

## 9.15 द्वितीय चीन–जापान युद्ध – 1937 (SINO - JAPANESE WAR-II)

यह वह समय था जबकि जापान में साम्राज्यवाद का विकास तेजी से हो रहा था। सैनिकवादी शासन चल रहा था। इधर चीन में कुओमिन्तांग और साम्यवादियों में संघर्ष चल रहा था। जापान के लिए यह संघर्ष उसकी साम्राज्य विस्तार की नीति को पूरा करने का सुनहरा अवसर था। अतः उसने अपनी तैयारी चालू रखी। वह अपनी कूटनीति और सैनिक तैयारियाँ करता रहा, परंतु जापान में भी सैनिक और असैनिक शासन को लेकर नेताओं में आपसी मतभेद थे। सैनिकवाद के समर्थक नेताओं में तथा असैनिक नेताओं में एक समझौता हुआ और विस्तृत कार्यक्रम की घोषणा की गई, इसमें साम्राज्य विस्तार को मुख्य लक्ष्य के रूप में रखा गया, इसके अलावा जापान ने जर्मनी और इटली से संधियाँ करके अपनी अन्तरराष्ट्रीय स्थिति को मजबूत बना लिया और अपनी दिशा एक बार फिर से साम्राज्यवाद के विकास की ओर कर ली, इसके बाद उसने चीन को जीतने का संकल्प कर लिया।

इधर चीन में 1936 में कुओमिन्तांग और साम्यवादियों के बीच जापान से संघर्ष करने के लिए समझौते पर बातचीत होने लगी, इससे जापान को चिन्ता होने लगी क्योंकि उसका लाभ दोनों दलों के बीच संघर्ष होते रहने में ही था, इस कारण उसने चीन पर तुरंत सैनिक कार्यवाही का निर्णय किया।

## 9.16 युद्ध का प्रारम्भ

जुलाई, 1937 में जापान और चीन के बीच एक घटना घट गयी जिससे युद्ध का आरम्भ माना जाता है। यह घटना थी मार्कोपोलो पुल की घटना। जापानी सेना पीकिंग के पास एकत्र हो रही थी। एक रात जापान की सेना ने अपने अधिकृत क्षेत्र से बाहर निकलकर युद्ध का अभ्यास किया, इस अभ्यास के दौरान उनका एक सैनिक गायब हो गया। उन्हें यह शक हुआ कि वह वानपिंग नगर में है और उसने उस शहर में जाने की अनुमति माँगी तो चीनी अधिकारियों ने मना कर दिया। इन दोनों के बीच था मार्कोपोलो नामक पुल। जापानी सेना ने इसे पार करने की कोशिश की तो चीनी सेना ने उन्हें रोका और जवाब में जापानी सेना ने गोलीबारी करना

प्रारम्भ कर दी। यहाँ जापान का लक्ष्य था इस क्षेत्र पर अपना अधिकार करना, इसके बाद 25 जुलाई को जापानी सेना ने लांगफांग और वानपिंग में चीनी सेना से युद्ध किया, इसके दूसरे ही दिन टोक्यो सरकार ने पीकिंग–तीन्तसिन क्षेत्र पर अपना कब्जा जमाने का प्रस्ताव किया और वहाँ की सरकार द्वारा विरोध करने पर उसने युद्ध की धमकी दी। 29 जुलाई, को जापानी सेना ने तीन्तसिन क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और आठ अगस्त को पीकिंग पर भी जापान ने अधिकार कर लिया। 13 अगस्त, को जापानी सेना ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया और इस तरह याँगत्सी घाटी में भी युद्ध प्रारम्भ हो गया।

चीन के उत्तरी क्षेत्र में जापान की सेनाओं ने वहाँ के रेल मार्गों से बढ़ना प्रारम्भ किया, इस रास्ते पर जापानी सेनाओं का सामना साम्यवादियों ने किया और उन्होंने कई जगह सफलताएँ अर्जित कीं। इधर चीन ने जापानी आक्रमण की शिकायत राष्ट्रसंघ में की, परंतु राष्ट्रसंघ इस मामले में भी कुछ नहीं कर सका। 5 नवम्बर को जापान की एक सेना हांगचो में पहुँच गयी और दिसम्बर में नानकिंग में दोनों के बीच भयंकर युद्ध हुआ, इस संघर्ष में कुओमिन्तांग दल की सेना लगभग समाप्त हो गई। 13 दिसम्बर को जापान की सेना ने नानकिंग पर कब्जा कर लिया, इसके बाद हांगचो भी जापानियों के अधिकार में चला गया।

नानकिंग पर जापानियों का अधिकार हो जाने के बाद दोनों के बीच समझौते की बातचीत प्रारम्भ हुई। चीन ने जापान की संधि शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया तो जापान ने अपने समर्थन वाली एक कठपुतली सरकार बनाने की योजना बनाई, इस योजना के आधार पर जापान ने नानकिंग में एक कठपुतली सरकार बना दी और अपना विजय अभियान जारी रखा। फरवरी तक पीकिंग, हांको और कैण्टन रेखा से पहले तक का सारा क्षेत्र जापान के अधिकार में आ चुका था।

इस युद्ध का अन्त द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिका और जापान के कूद जाने के बाद 1945 में जब जापान ने समर्पण कर दिया तब हुआ।

## 9.17 जापान और द्वितीय विश्वयुद्ध

### जापान की अन्तरराष्ट्रीय स्थिति

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व जापान सोवियत संघ को अपना कट्टर विरोधी मानता था और उसे दबाने के लिए वह कुछ भी करने को तैयार था। 1936 ई. में जर्मनी और 1937 में इटली के साथ संधि करने में जापान सोवियत–विरोधी भावना से प्रेरित हो रहा था। युद्ध छिड़ने के उपरांत सितम्बर, 1940 में जापान, जर्मनी और इटली में एक दूसरी त्रिदलीय संधि हुई, इस संधि के अनुसार, जर्मनी और इटली ने पूर्वी एशिया में जापान के आधिपत्य को स्थापित करने के अधिकार को मान लिया। बर्लिन में नात्सी नेताओं ने जापानी राजदूत को समझाया कि जापान को ब्रिटेन या संयुक्त राज्य अमेरिका से कभी किसी प्रकार का सन्धि–समझौता नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे युद्ध में केवल चन्द दिनों के मेहमान हैं। उनकी राय थी कि जापान को रूस से किसी तरह एक समझौता कर लेना चाहिए और पूर्वी एशिया में स्वतंत्र होकर अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहिए, इस सलाह को मानते हुए जापानी विदेश मंत्री मातूसूओका मास्को गया और वहाँ सोवियत अधिकारियों से वार्ताएँ कीं। अप्रैल, 1941 में एक सोवियत–जापानी तटस्थता सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए, इस संधि से यह तय हुआ कि यदि उन दोनों देशों में कोई किसी तीसरे दल से युद्ध करे तो दूसरा तटस्थ रहे, रूस मंचुकूओं पर जापानी अधिकार को मान्यता दे तथा जापान मंगोलिया पर रूसी आधिपत्य स्वीकार करे।

## 9.18 अमेरिका के साथ जापान के सम्बंध

22 जून, 1941 को जर्मनी ने जापान से बिना परामर्श किए ही सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध की उदघोषणा कर दी, इस घटना ने जापानी सरकार को चक्कर में डाल दिया और जर्मनी

से वह कुछ खिंच गया। वहाँ अमेरिकापरक तत्व कुछ प्रबल हो गए। कोनोये ने अपने मंत्रिमण्डल से मातूसूओका को हटा दिया और स्वयं अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट से मिलने की इच्छा व्यक्त की। वह संयुक्त राज्य अमेरिका को यह आश्वासन देने को तैयार था कि यदि जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य युद्ध छिड़ गया तो जापान उसमें तटस्थ रहने का प्रयास करेगा। रूजवेल्ट ने इस प्रस्ताव में कुछ रुचि ली और वह कोनोये से मिलने के लिए तैयार हो गया, किन्तु कार्डल हल ने जापान के साथ किसी तरह के समझौते का विरोध किया। उधर जापान संयुक्त राज्य अमेरिका से एक समझौता करने के लिए व्यग्र था। जापान के नए प्रधानमंत्री तोजो ने सन्धि–वार्ता के लिए विशेष दूत वाशिंगटन भेजा। नवम्बर में जापान की ओर से यह प्रस्ताव आया कि वह जून, 1941 की स्थिति पर लौटने को तैयार है, अर्थात् दक्षिणी हिन्दचीन से अपनी सेना हटा लेगा, यदि संयुक्त राज्य अमेरिका चीन के मामले में दखल न दे और तेल की पूर्ति न रोके। लेकिन, अमेरिकी अधिकारियों को यह शर्त भी मान्य नहीं हुई। कार्डल हल ने जापानी प्रस्ताव नामंजूर करते हुए अपनी ओर से एक दस–सूत्री प्रस्ताव रखा जिसका आशय था कि जापान हिन्दचीन से ही नहीं, वरन् चीन और मंचूरिया से भी हट जाए। अतः, वार्ता भंग हो गई।

## पर्ल हार्बर का विद्युत प्रहार

इस वार्ता के अन्त होने के तुरंत बाद जुलाई, 1941 में जापान और अमेरिका के संबंध अत्यंत बिगड़ गए। चीन को जापान के विरुद्ध हिन्दचीन के रास्ते से बाह्य सहायता प्राप्त हो रही थी, इस मार्ग को बन्द करने के लिए जापान ने हिन्दचीन को अपने प्रभाव में पूरी तरह जकड़ने का प्रयास किया और वहाँ एक विशाल सेना भेज दी, इस पर अमेरिका को बहुत रंज हुआ। जापान के साथ होने वाले हर अमेरिकी व्यापार पर सरकारी नियंत्रण कायम कर दिया गया। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई कि अमेरिका में जापान की जो धन–सम्पत्ति है, उन सबको सरकार अपने अधिकार में कर ले और जापानी लोग स्वेच्छापूर्वक उसका उपयोग न कर सकें। अमेरिका की इस कार्यवाही के कारण जापान को बहुत नुकसान पहुँचा और वह बदला लेने के अवसर की प्रतीक्षा में रहने लगा। यद्यपि जापान और अमेरिका का विरोध दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था, तथापि अमेरिका अभी युद्ध में कूदना नहीं चाहता था।

1 जून, 1941 में जर्मनी और सोवियत संघ के बीच युद्ध छिड़ जाने पर जापान में संकट की घोषणा कर आम लामबंदी कर दी गई। फ्रांस पर पहले ही जर्मनी का अधिकार हो चुका था और जर्मनी ने मार्शल पेताँ के नेतृत्व में एक सरकार का गठन करा लिया था। चूँकि फ्रांस का अधिकार हिन्दचीन पर था, इसलिए जापान ने हिन्दचीन के फ्रांसीसी अधिकारियों पर दबाव डालकर उन्हें एक सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। जापान को हिन्दचीन में कई तरह की सैनिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं। जुलाई, 1941 के अंत तक जापान की एक सेना भी इस क्षेत्र में पहुँच गई, इसके अतिरिक्त अब जापान मलाया, पूर्वी द्वीपसमूह और फिलिपाइन्स पर कब्जा करने की तैयारी करने लगा। हिन्दचीन पर जापानी अधिकार के सम्बंध में अमेरिका में तुरंत प्रतिक्रिया हुई, इसी समय जापान ने पूर्वी एशिया में इन परिवर्तनों से काफी चिन्तित था और वह चाहता था कि सन्धि–समझौता होने के पूर्व जापान अपनी इन सारी गतिविधियों का अंत कर यथास्थिति पुनः कायम कर दे।

उनकी तैयारी अभी पूरी नहीं हुई थी, इस समय का उपयोग अमेरिका युद्ध की पूरी तैयारी के लिए करना चाहता था। लेकिन, अब जापान अमेरिका को इस तरह का मौका देना नहीं चाहता था। अतएव, उसने अमेरिका पर आक्रमण कर देने का निश्चय कर लिया। 7 दिसम्बर, 1941 को जापान की सेना ने पर्ल हार्बर पर एकाएक आक्रमण कर दिया। पर्ल हार्बर हवाई द्वीपसमूह में अमेरिका की नौशक्ति का मुख्य केन्द्र था। जापानी हवाई जहाजों और पनडुब्बियों ने तेजी से हमला कर मिनटों में अमेरिका के सात जंगी जहाज, बहुत से छोटे जहाज और आधे से अधिक हवाई जहाज नष्ट कर दिए। आठ घण्टे बाद जापानी फिलिपाइंस पर भी टूट पड़े और वहाँ जमीन पर खड़े हवाई जहाजों को जलाकर राख कर दिया, इस आक्रमण के कारण जापान और अमेरिका एक–दूसरे के खिलाफ महायुद्ध में कूद पड़े।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस उद्देश्य से जापान ने अकस्मात् पर्ल हार्बर आक्रमण किया था, उसमें उसकी सफलता हुई। जापान यही चाहता था कि दक्षिण–पूर्व एशिया में उसकी शक्ति के विस्तार में अमेरिका की जलशक्ति बाधक न हो। पर्ल हार्बर पर आक्रमण के कारण प्रशांत महासागर में विद्यमान अमेरिकी जलशक्ति इतनी अधिक पंगु हो गई कि उसके लिए जापान का प्रतिरोध का सकना अत्यंत कठिन हो गया।

## दक्षिण–पूर्व एशिया पर आधिपत्य

पर्ल हार्बर के बाद जापान का सैनिक अभियान बहुत तेजी से दक्षिण और पश्चिम की ओर बढ़कर दक्षिण–पूर्व एशिया तथा पूर्वी द्वीपसमूह और फिलिपाइन्स को घेरने का यत्न करने लगा। दक्षिण–पूर्वी एशिया की अपार सम्पदा तथा विशाल आबादी पर अधिकार करने के लिए जापान तेजी से अग्रसर हुआ। उसका तात्कालिक लक्ष्य मिडवे, वेक, गुआम, हांगकांग, फिलिपाइन्स, थाईलैण्ड तथा मलाया था।

पर्ल हार्बर के साथ ही हांगकांग पर आक्रमण किया गया। यह द्वीप एक शताब्दी से ब्रिटेन के कब्जे में था। 25 दिसम्बर, 1941 को इस पर जापान का अधिकार हो गया। हांगकांग पर कब्जा करने के उपरांत जापान ने मलाया प्रायद्वीप और सिंगापुर पहँचे। जापान के विमानों ने विशाल ब्रिटिश जहाज प्रिन्स ऑफ वेल्स तथा रिपल्स को समुद्र में डुबा दिया गया। सिंगापुर का सारा नौसैनिक बेड़ा समाप्त हो गया। प्रायद्वीप के पीछे हटती हुई ब्रिटिश फौजों ने पूरी वीरता से युद्ध किया, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। अब जापान के लिए बर्मा तथा भारत तक पहुँचने के लिए मार्ग साफ हो गया। मलाया–अभियान के साथ–साथ जापान ने बर्मा पर भी आक्रमण किया था और निचले बर्मा तथा रंगून पर अधिकार कर बर्मा–रोड काट दिया था। जून, 1942 तक सारे देश पर जापान का अधिकार हो गया, इस प्रकार, हिमालय के ऊपर से वायुयान मार्ग को छोड़कर चीन और आंग्ल–अमेरिका मोर्चे के सभी संचार साधन भंग हो गए। इन्हीं दिनों कलकत्ते तक भगदड़ मच गई थी।

**पर्ल हार्बर पर आक्रमण के कुछ ही घण्टों बाद जापान ने फिलिपाइन्स पर पहला आक्रमण किया। यहाँ भी आक्रमणकारियों का कोई विशेष** प्रतिरोध नहीं किया जा सका। 2 जनवरी, 1942 को मनीला पर जापान का कब्जा हो गया। दूसरी ओर, जापान की सेना ने दक्षिणी और दक्षिणी–पूर्वी प्रशांत में अमेरिकी–आस्ट्रेलियाई यातायात को ठप्प करने की कोशिश की। 13 दिसम्बर, 1941 को बेक द्वीप पर जापान का कब्जा हो गया, 20 दिसम्बर को गुआम का पतन हो गया और 1942 ई. के शुरू में जापानी सोलोमन, एलिस और गिलबर्ट द्वीप–श्रृंखलाओं में घुसते हुए उत्तरी न्यूगिनी में पहँच गए। 16 मई तक सारा फिलिपाइन्स उनके अधीन हो गया और 12 जून को अलेशियन द्वीप पर उसने अधिकार जमा लिया, इस प्रकार, छह–सात महीने के भीतर ही जापानी साम्राज्य उत्तर में साखालिन से दक्षिण में लगभग आस्ट्रेलिया तक चार हजार मील की दूसरी में और पश्चिम में बर्मा से पूर्व में गिलबर्ट द्वीप तक छह हजार मील की दूरी में फैल गया। उसके इस अभूतपूर्व विस्तार से सारी दुनिया स्तब्ध एवं चकित हो गई।

## पूर्वी एशिया का नया संगठन

1942 ई. के मध्य से जापान की सरकार ने अपने इस विशाल साम्राज्य का संगठन आरम्भ किया। उसने इस सारे इलाके को **'वृहत्तर पूर्वी एशिया सहसमृद्धि क्षेत्र'** नाम दिया। चीन–मंचुकूओ तथा जापान इस विशाल क्षेत्र के केन्द्र थे और शेष देश उसकी परिधि। इन सभी देशों में स्वतंत्र सरकारों की स्थापना की गई, जो पूर्णतया जापान के प्रभाव में थे। जापान ने इन सभी देशों के साथ सन्धियाँ कीं और इन सभी सन्धियों ने उसे विशेष अधिकार प्रदान किए। हर देश में स्थानीय भाषा के साथ–साथ जापानी भाषा अनिवार्य कर दी गई। एक ही ढंग का सामाजिक विधान लागू किया गया। प्राच्य नैतिकता की नई भावना अनिवार्य कर दी गई। एक ही ढंग का सामाजिक विधान लागू किया गया। प्राच्य नैतिकता की नई भावना को प्रोत्साहित किया गया। 1942 ई. में टोकियो में **'वृहत्तर पूर्वी एशिया मंत्रालय'** कायम किया गया। 1943

ई. में इसने एक 'वृहत्तर पूर्वी एशियाई सम्मेलन' का आयोजन किया, जिसमें सभी देशों के राज्याध्यक्ष शामिल हुए। सम्मेलन पूरी तरह पश्चिमविरोधी भावनाओं से प्रेरित था। यहाँ से घोषणा की गई कि पूर्वी एशिया पर से पश्चिम का आधिपत्य समाप्त होना चाहिए। वृहत्तर पूर्वी एशिया पर केवल वहाँ के निवासियों का शासन होना चाहिए तथा इन देशों के लोगों को आपसी रक्षा, आर्थिक विकास और सांस्कृतिक उन्नति के लिए सहयोग करना चाहिए, इस प्रकार, पूर्वी एशिया से पाश्चात्य प्रभुत्व की समाप्ति का कार्यक्रम शुरू किया गया।

## युद्ध की दिशा परिवर्तन

1942 ई. के मध्य से युद्ध की दिशा बदलने लगी। 3–6 जून को मिडवे की नौ–वायुसैनिक लड़ाई में पहली बार जापान को बड़ी पराजय का मुख देखना पड़ा, इसमें जापान बेड़े विफल हो गया। न्यूगिनी में एक छोटी–सी मिडवे तथा सम्भवतः हवाई द्वीपों पर भी अधिकार का जापानी प्रयत्न द्वीपों में मित्रराज्यों का जापान प्रयत्न विफल हो गया। न्यूगिनी में एक छोटी–सी सेना ने जापानी प्रसार रोक दिया। अगस्त, 1942 में सोलोमन द्वीपों में मित्रराज्यों का जापान विरोधी अभियान शुरू हुआ और फरवरी, 1943 में यह पूरी तरह उनके कब्जे में आ गया। बर्मा पर जापान के अधिकार के बाद चीन को भेजी जाने वाली सारी सामग्री हिमालय के ऊपर से होकर जाने लगी। महीनों के संघर्ष के उपरान्त रसद–पंक्ति की लड़ाई जीत ली गई। 1943 ई. के अंत तक मित्रराज्यों ने नौ–सैनिक शक्ति में एक प्रकार का संतुलन स्थापित कर लिया। अगले वर्ष अगस्त तक चलने वाले अभियान में दक्षिण–पश्चिम प्रशांत में जापान की प्रगति रोक दी गई और प्रत्याक्रमण की तैयारी होने लगी।

## कूटनीतिक तैयारियाँ

इसी बीच मित्रराज्यों ने एक सामान्य नीति पर समझौता कर लिया, जिसका उद्देश्य तेजी से सैनिक विजय प्राप्त करना तथा स्थायी शांति का आधार प्रदान करना था। 11–24 अगस्त, 1943 को रूजवेल्ट, चर्चिल और टी.वी. सूंग कनाडा के क्यूबेक नामक स्थान पर मिले और यह निश्चय किया गया कि जापान पर प्रहार करने के लिए चीन को अधिकाधिक सहायता दी जाए। सोवियत संघ से भी अधिक घनिष्ठ सहयोग करने का निश्चय किया गया, इसके बाद 19 30 अक्टूबर को ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश मंत्रियों का एक और सम्मेलन मास्को में हुआ, जहाँ फासिस्टवाद की समाप्ति और युद्ध अपराधियों के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही करने का निश्चय किया गया। चीन ने भी घोषणा में सम्मिलित होकर धुरी राष्ट्रों के 'बिना शर्त आत्मसमर्पण' की माँग की। सोवियत संघ चूंकि जापान से युद्धरत नहीं था, इसलिए मास्को–वार्ता में पूर्वी एशिया के युद्ध की योजनाओं पर विशेष रूप से कोई बातचीत नहीं हो सकी। इन योजनाओं के लिए 22–26 नवम्बर, 1943 तक काहिरा मे रूजवेल्ट, चर्चिल और च्यांग काईशेक की वार्ताएँ हुईं। यह निश्चय किया गया कि युद्ध तब तक जारी रखा जाएगा, जब तक जापान 'बिना शर्त आत्मसमर्पण' नहीं कर देगा। जापान के समर्पण के बाद उसके द्वारा जीता हुआ सारा इलाका चीन को लौटा दिया जाएगा और कोरिया को आजाद कर दिया जाएगा, इसके बाद इन नेताओं की तेहरान में स्टालिन से बातचीत हुई (26 नवम्बर से 2 दिसम्बर) तो पहली बार सोवियत संघ ने जापान के विरुद्ध युद्ध में उतरने का वचन दिया। यह तय किया गया कि कोरिया को चालीस वर्ष के लिए सोवियत संरक्षण में रखा जाएगा, दायरन के बन्दरगाह को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए खोल दिया जाएगा और कूरिल तथा साखालिन द्वीपों को सोवियत संघ के हवाले कर दिया जाएगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जापान के साम्राज्यवाद से उसके पडोसी एशियाई देश बहुत दिनों तक परेशान रहे। लेकिन इसके साथ ही हमें जापानी साम्राज्यवाद के कुछ लाभदायक परिणामों पर भी विचार करना पड़ेगा। एशिया में राष्ट्रीयता की भावना भरने में जापानी साम्राज्यवाद ने कई तरह से प्रेरणा प्रदान की। एशिया एशियावासियों के लिए का नारा देकर जापान ने पश्चिमी देशों के प्रति एशियाई लोगों को भड़काया। एशिया में पश्चिम–विरोधी भावना पैदा करने में इस नारे का बहुत अधिक महत्त्व है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान ने यूरोपीय देशों के कई एशियाई उपनिवेशों पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। आधिपत्य कायम कर लेने के पश्चात उसने वहाँ के राष्ट्रवादी तत्वों को थोड़ा प्रोत्साहन दिया। सरकार के संगठन में उनसे सहयोग लिया गया। बाद में युद्ध में जब जापान हारने लगा तो उसने इन अधिकृत क्षेत्रों का शासन उन राष्ट्रवादी नेताओं के सुपुर्द कर दिया। फिर, जब पश्चिम की औपनिवेशिक शक्तियों ने पुनः उन क्षेत्रों पर अपना अधिकार कायम करने का प्रयास किया तो उन्हें अत्यंत संगठित विरोध का सामना करना पड़ा, इस प्रकार, पश्चिमी साम्राज्यवाद से एशिया को मुक्ति दिलाने में जापानी साम्राज्यवाद की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाएगी।

इनके अतिरिक्त, जापान के आधिपत्य के फलस्वरूप दक्षिण–पूर्व एशिया में साम्यवादी आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। जापानी आधिपत्य के खिलाफ इन देशों में जो राष्ट्रवादी आन्दोलन चले, उनका नेतृत्व कम्युनिस्टों ने किया। अतएव वे जनता में बहुत लोकप्रिय हो गए, इस प्रकार समूचे घटनाचक्र से पूर्वी एशिया में नई जिन्दगी आई।

## मित्र राज्यों का जवाबी सैनिक अभियान

पूर्ण राजनयिक और सैनिक सहयोग स्थापित होने से पहले ही मित्रराज्य अपनी लड़ाइयाँ जीतने लगे थे। प्रशान्त में, जैसा कि हम लिख चुके हैं, उन्होंने मिडवे और ग्वाडलकैनाल और एल्यूशियन्स में लड़ाइयाँ जीत ली थीं। 1943 ई. की गर्मियाँ में न्यू जार्जिया, बूगेनविल और न्यूगिनी में हुए घोर संघर्ष में आस्ट्रेलियाई और अमेरिकी सेनाओं ने दक्षिण–पश्चिम प्रशान्त के मुख्य जापानी अड्डे पर आक्रमण किया और न्यूगिनी में हुए घोर संघर्ष में आस्ट्रेलियाई और अमेरिकी सेनाओं ने दक्षिण–पश्चिम प्रशान्त के मुख्य जापानी सैनिक अड्डे रेबाल को निष्क्रिय कर दिया। पश्चिम की ओर अमेरिका बमवर्षक विमानों ने कैरोलिन्स के साधन काट देने का प्रयत्न किया। चीन–बर्मा–भारत पर भी अँगरेजी फौज ने सफलता हासिल की। अन्य ओर से पड़ने वाले दबाव के कारण जापान की प्रतिरोध की शक्ति घटती गई। अक्टूबर, 1944 में जनरल मेकार्थर फिलिपाइन्स में लेयटे नामक स्थान में उतरा और जून, 1945 तक सारा फिलिपाइन्स अमेरिका के कब्जे में आ गया। फिलिपाइन्स की मुक्ति की कार्यवाही में जापान की तेईस डिवीजन सेना समाप्त हो गई। जुलाई तक डच और आस्ट्रेलिया सेनाओं ने बोर्नियो के तेल समृद्ध प्रदेश को भी पुनः अपने अधिकार में ले लिया, इस बीच समुद्री संग्राम और हवाई हमले चलते रहे, जिससे जापानी बेड़ा और हवाई ताकत खत्म होती गई।

## परमाणु बम का प्रयोग

1944 ई. में उत्तरार्द्ध में जापान पर मित्रराज्यों के हवाई हमलों की तेजी बहुत बढ़ गई। हजारों–हजार हवाई बमवर्षकों के झुण्ड जापानी शहरों पर बम गिराकर उन्हें भूनने लगे, इससे जापान की भयंकर बर्बादी हुई। 10 मार्च, 1945 को वायुयानों ने उड़ानें भरकर टोकियो पर भीषण आक्रमण किया, जिसमें एक लाख से अधिक व्यक्ति मारे गए। 1 जून, 1945 तक टोकियो का पचास वर्गमील क्षेत्र राख और रोड़ा बन गया था।

जुलाई, 1945 में ब्रिटिश विमान भी इन हमलों में शामिल हो गए, इस महीने ऐसी स्थिति हो गई थी कि जापान पर एक ही दिन में दो–दो हजार अमेरिकी विमानों के आक्रमण होने लग। भूमि पर आधृत दलों के आक्रमणों के साथ–साथ जापान के तटीय नगरों पर समुद्री जहाजों से भी भारी गोलीबारी होती रही। युद्ध के अन्तिम ढाई महीनों में संयुक्त आंग्ल–अमेरिकी तीसरे बेड़े ने प्रायः तीन हजार जापानी विमान नष्ट कर दिए थे तथा सोलह सौ जहाज डुबो अथवा क्षतिग्रस्त कर दिए थे। 1 अगस्त, 1945 तक जापान की नौ–सेना और वायुसेना की शक्ति चूर–चूर हो चुकी थी। वहाँ रेलमार्ग टूट–फूट गए, कोयले की कमी हो गई, तेल समाप्तप्राय हो गया, गैरसैनिक सामान बनना बंद हो गया और जापान के हर व्यक्ति को पन्द्रह सौ कैलोरी से भी कम का भोजन मिलने लगा। फिर भी, जापानियो के हौसले मे फर्क नही आया और वे लड़ने या मरने के निश्चय पर अटल रहे।

गैरसैनिक सामान बनना बंद हो गया और जापान के हर व्यक्ति को पन्द्रह सौ कैलोरी से भी कम का भोजन मिलने लगा। फिर भी, जापानियों के हौसले में फर्क नहीं आया और वे लड़ने या मरने के निश्चय पर अटल रहे।

1945 ई. के मध्य तक जापान की सैनिक शक्ति एकदम नष्ट हो गई थी। यूरोप में जर्मनी आत्मसमर्पण कर चुका था और अब केवल जापान से निबटना था। जापान को कई चेतावनियाँ दी गईं कि वह आत्मसमर्पण कर दे, नहीं तो उसके सभी महत्वपूर्ण नगर नष्ट कर दिए जाएँगे। लेकिन, जापान डटा रहा और 9 जून, 1945 को प्रधानमंत्री कंतारो ने घोषणा की कि जापान अन्तिम क्षण तक लड़ता रहेगा। 26 जुलाई को पोत्सडम सम्मेलन में अमेरिका, ब्रिटेन तथा चीन के प्रतिनिधियों ने जापान को तत्काल बिना शर्त आत्मसमर्पण करने का अंतिम अल्टीमेटम दिया। जापान ने इस अल्टीमेटम को ठुकरा दिया, इस परिस्थिति में संयुक्त राज्य अमेरिका ने हिरोशिमा नगर पर परमाणु बम का प्रथम प्रयोग किया, इस बमबारी से नगर और उसके आसपास के क्षेत्रों में लगभग साठ हजार व्यक्ति मर गए तथा सभी मकान ध्वस्त हो गए, इसी समय सोवियत संघ ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 13 जुलाई को जापान ने सोवियत संघ से अनुरोध किया था कि शांति स्थापना के लिए वह अमेरिका और ब्रिटेन से आग्रह करे। 8 अगस्त तक सोवियत संघ की ओर से इसका कोई जवाब नहीं आया। 9 अगस्त को मास्को से यह घोषणा की गई कि सोवियत संघ जापान के साथ अपना राजनयिक सम्बंध तोड़ रहा है तथा 9 अगस्त से वह अपने को जापानं के विरुद्ध युद्धरत समझेगा। सोवियत संघ से सम्बंध विच्छेद के कुछ ही घण्टों बाद 9 अगस्त को जापान के दूसरे नगर नागासाकी पर दूसरा परमाणु बम गिराया गया, इसमें चालीस हजार जापानी नागरिक मारे गए। जापान सम्पूर्ण नष्ट होने के कगार पर खड़ा था। अब जापान के समक्ष आत्मसमर्पण के सिवा कोई विकल्प न रहा। उसी दिन सोवियत सेनाओं ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और कोरिया के रशीन एवं चूकी बन्दरगाहों पर 12 अगस्त को अधिकार कर लिया। सोवियत सेनाएँ साखालिन द्वीप के जापानी अथवा दक्षिणी भाग की ओर बढ़ गईं।

जापान का आत्मसमर्पण – जापानी जनता के समक्ष अब मर मिटने या आत्मसमर्पण करने के सिवाय कोई चारा न रहा। लेकिन, उसने मर मिटने का ही फैसला किया। सब लोग 'जापान के अंतिम युद्ध' के लिए तैयार हो गए। जिसे कोई हथियार नहीं मिला, वह लाठी लेकर ही खड़ा हो गया। लेकिन, 9–10 अगस्त को सम्राट की अध्यक्षता में सर्वोच्च युद्धपरिषद की बैठक हुई। युद्ध बन्द करने के प्रश्न पर बहुत लंबे समय तक बहस चलती रही। अन्त में, युद्ध बन्द करने का फैसला हुआ। 10 अगस्त को जापान ने पोत्डम की शर्तें स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु उसने यह शर्त रखी कि आत्मसमर्पण के कारण सम्राट की शक्ति, अधिकार तथा प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आनी चाहिए। मित्र राज्यों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। लेकिन 14 अगस्त को युद्ध परिषद् की दूसरी बैठक हुई। सेना मंत्री और दोनों सेनाध्यक्ष आत्मसमर्पण के विरुद्ध थे, लेकिन परिषद के अन्य सदस्यों ने आत्मसमर्पण में ही देश का कल्याण समझा और बिना शर्त आत्मसमर्पण की बात मान ली गई। 17 अगस्त को हीगाशीकूनी के नेतृत्व में नई सरकार बनाई गई जिसे आत्मसमर्पण का कार्य पूरा करने का भार सौंपा गया, इसी बीच जनरल मेकार्थर टोकियो पहुँच गया। 2 सितंबर, 1945 को टोकियो की खाड़ी में अमेरिकी जंगी जहाज मिसूरी पर जापानी अधिकारियों ने एक समझौतापत्र हस्ताक्षर कर बिना शर्त आत्मसमर्पण की कार्यवाही पूरी कर ली, इस प्रकार जापान के साम्राज्यवादी जीवन का अन्त हुआ।

## 9.19 सारांश

जापान में नए युग का आरंभ शोगून शासन के अंत और सम्राट के शासन के आरंभ से होता है। इस नयी व्यवस्था के बाद जापान ने अभूतपूर्व उन्नति की और वह कुछ ही समय में अत्याधुनिक और शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। नई शासन व्यवस्था की कार्यावधि को मेईजी अर्थात विकासोन्मुख शक्ति कहा जाता है।

NOTES

## 9.20 अभ्यास प्रश्न

### दीर्घोत्तरीय प्रश्न

(1) जापान में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ का वर्णन कीजिए।

(2) जापान में मेईजी पुनर्स्थापना का अर्थ और महत्व समझाइये।

(3) मेईजी पुनर्स्थापना में हुए सुधार कार्यों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) जापान के साम्राज्यवाद के विकास के कारणों का वर्णन करते हुए उस की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

(2) जापान के आधुनिकीकरण पर एक निबंध लिखिए।

(3) चीन – जापान युद्ध का विस्तार से वर्णन कीजिए।

(4) जापान –रूस युद्ध का वर्णन कीजिए।

(5) दो युद्धों के परिणाम स्वरूप जापान के साम्राज्यवाद को कैसे गति मिल

### विकल्प

1. परमाणु का प्रयोग हुआ था–

(अ) 1920 (ब) 1945 (स) 1955 (द) 1

2. टोकियो विश्वविद्यालय की स्थापना कब हुई–

(अ) 1877 (ब) 1868 (स) 1855 (द) 1

**उत्तर** 1. (ब), 2. (अ)

## 9.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विश्व इतिहास (18वीं 19वीं सदी – डॉ. संजीव जैन), कैलाश पुस्त

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

# सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम — 
नामांकन नं. — 
फोन नं.— 
ई—मेल आईडी — 

कार्यक्रम का नाम — 
कोर्स का नाम — 
सत्र — 

प्रिय छात्र—छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र—छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आंमत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य—सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव —

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

................................................................................................................................................

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

## सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम — पद —

विभाग/विषय — पता —

फोन नं.— सत्र —

ई–मेल आईडी —

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव —

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

........................................................................................................................................

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर